मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद

पर आधारित

l okn

(भाग—2)

प्रणेता

ए. नागराज

मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद

अमरकंटक

ए नागराज, प्रणेता एवं लेखक मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

प्रकाशक :

जीवन विद्या प्रकाशन

श्री भजनाश्रम, श्री नर्मदांचल, अमरकंटक
(अमरांकट)

लेखक :

ए. नागराज

सर्वाधिकार प्रणेता एवं लेखक के पास सुरक्षित

संस्करण : प्रथम

मुद्रण : अक्टूबर, 2013

सहयोग राशि : 250 / –

मुद्रक :

जीवन विद्या संस्थान, अमरकंटक

ग्राफिक्स–डिजाइनिंग:

आकाश कम्प्यूटर, रायपुर

9926904130

"अध्ययन" के लिए मध्यस्थ दर्शन वांग्मय चार दर्शन, तीन वाद, तीन शास्त्र एवं संविधान के रूप में प्रस्तुत है। इनका सम्मिलित रूप में अध्ययन आवश्यक है।

साथ में 'परिभाषा संहिता' का अध्ययन आवश्यक है। शब्द केवल किसी क्रिया का नाम है, जबकि परिभाषा शब्द एवं क्रिया की मौलिकता को स्पष्ट करता है। शब्द का अर्थ परिभाषा से इंगित है, उस अर्थ के स्वरूप में अस्तित्व में वास्तविकताएँ हैं। भाषा की उपयोगिता मानव को न्याय, धर्म, सत्य सहित सभी भावों (वास्तविकताओं) का बोध कराने में है, इससे ही भाषा का स्वरूप स्पष्ट होता है।

सारा पुस्तक मात्र सूचना है। समझना और समझाना मानव से ही होगा।

"संवाद" पुस्तक मध्यस्थ दर्शन सह अस्तित्ववाद को मूल वांग्मय में पारंगत हाने में सहायक के अर्थ में है।

इसमें श्रद्धेय नागराजजी के साथ विद्यार्थियों के जिज्ञासा एवं श्रद्धेय नागराजजी का उत्तर संवाद शैली में दिया है।

"अस्तित्वमूलक मानव केन्द्रित चिंतन" बनाम "मध्यस्थ दर्शन" सह अस्तित्ववाद वांग्मय सूची :

दर्शन.

मानव व्यवहार दर्शन
मानव कर्म दर्शन
मानव अभ्यास दर्शन
मानव अनुभव दर्शन

वाद.

व्यवहारात्मक जनवाद
समाधानात्मक भौतिकवाद
अनुभवात्मक अध्यात्मवाद

शास्त्र.

व्यवहारवादी समाजशास्त्र
आवर्तनशील अर्थशास्त्र
मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान

संविधान.

मानवीय आचार संहिता रूपी मानवीय संविधान सूत्र व्याख्या

अन्य.

जीवन विद्या–एक परिचय
विकल्प, अध्ययन बिंदु
परिभाषा संहिता
"संवाद" भाग–1, 2 (भाग–3 प्रकाशनाधीन)
संकलन (प्रकाशनाधीन)
(संवाद का ऑडियो–वीडियो भी उपलब्ध है।)

प्राप्ति संपर्क.

Email - mdbooks@live.com
इंटरनेट जानकारी एवं निःशुल्क डाउनलोड –
www.jvidya.com अथवा www.modhyasth-darshan.info

संवाद का मूल तत्व

मैंने जो सब प्रस्तुत किया है – चार भाग में दर्शन, तीन भाग में वाद, तीन भाग में शास्त्र, उसके साथ संविधान – उस पूरी बात का प्रयोजन है – विकसित चेतना (मानव चेतना, देव चेतना, दिव्य चेतना) को समझना, प्रमाणित करना और प्रमाणित स्वरूप में पीढ़ी दर पीढ़ी रहना। इस पूरी बात को जीव–जानवर नहीं समझेगा, इसको जीव चेतना को पूजने वाला मानव नहीं समझेगा। इसको जीव चेतना से छूटना जो मानव चाहते हैं, वही समझेंगे। हर व्यक्ति के पास यह तय करने का अधिकार है कि उसे जीव चेतना से छूटना है कि नहीं? विकसित चेतना स्वरूप में मानव के जीने में प्रमाण प्रवाहित होता है। प्रमाण के तीन स्तर हैं – अनुभव प्रमाण, व्यवहार प्रमाण और प्रयोग प्रमाण। इन तीनों स्तरों पर प्रमाण प्रवाहित होता है। अनुभव के बिना कोई प्रमाणित करेगा ही नहीं। अनुभव अध्ययन से होता है या फिर अनुसंधान से होता है। इस प्रस्तुति को करने का अधिकार मुझमें अनुसंधान विधि से आया। अनुसंधान पूर्वक इस अधिकार को पाने पर हर व्यक्ति में इसको समझने का स्त्रोत कल्पनाशीलता के रूप में देखा गया, इसीलिए इसको प्रस्तुत कर दिया। "संवाद" का मूल तत्व इतना ही है।

मानव इस प्रस्तुति को अध्ययन करके अपना स्वत्व बना सकता है। अध्ययन किये बिना इसको स्वत्व नहीं बनाया जा

ए नागराज, प्रणेता एवं लेखक मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

सकता। हम अभी बहुत से आयामों को नजर अंदाज करके चलने में अभ्यस्त हैं, वह नहीं चलेगा। इस प्रस्तुति में कोई भी ऐसा अंग नहीं है, जिसे आप न समझें फिर भी यह प्रस्ताव आपका स्वत्व बन जाए। व्यर्थ की बातों को तो इसमें लिखा ही नहीं है। सार्थक बातों को लिखा है और हर मुद्दे पर निष्कर्षों को लिखा है, वह आवश्यक है या नहीं – इसी को आपको देखना है। इसमें जितने भी निष्कर्षों को लिखा है वे तर्क संगत, विचार संगत, व्यवहार संगत और अनुभव संगत है। इन चारों भागों को सोच करके इसे प्रस्तुत किया है। मानव जाति इन निष्कर्षों को आवश्यक पायेंगे तो उसे अपनाएंगे, आवश्यक नहीं पायेंगे तो नहीं अपनाएंगे।

जय हो! मंगल हो! कल्याण हो!

ए. नागराज,
प्रणेता, मध्यस्थ दर्शन सह–अस्तित्ववाद
श्री भजनाश्रम, नर्मदांचल, अमरकंटक,
जिला अनूपपुर, मध्यप्रदेश, भारत
5 सितम्बर 2012

प्राक्कथन

संवाद का यह दूसरा भाग आपके सम्मुख प्रस्तुत है। इस भाग में राकेश गुप्ता और श्रीराम नरसिम्हन के अलावा अन्य लोगों के साथ हुए संवाद भी समाहित है। इसका उपयोग धरती पर जीते हुए सर्वमानव के साथ है, ऐसा मेरा स्वीकृति है। मेरा विश्वास है, इस संवाद को पढ़ना मध्यस्थ दर्शन सह–अस्तित्ववाद के मूल वांड्मय में पारंगत होने में सहायक होगा। पूरा संवाद मध्यस्थ दर्शन सह–अस्तित्ववाद के अनुसार ही है। प्रत्येक व्यक्ति अध्ययनपूर्वक समझेगा और समझ के प्रमाणित करेगा। यही मेरा विश्वास है।

ए. नागराज
प्रणेता,
मध्यस्थ दर्शन सह–अस्तित्ववाद

अनुक्रमणिका

		पृष्ठ
अध्याय 1:	**परिचयात्मक**	**1—106**
	1.1 विकल्प की पृष्ठभूमि	1—24
	1.2 विकल्प का स्वरूप	24—106
अध्याय 2:	**अध्ययन क्या? : वस्तु संबंधी स्पष्टीकरण**	**107—222**
	2.1 अस्तित्व दर्शन	107—182
	2.2 जीवन	183—195
	2.3 मानवीय आचरण एवं व्यवस्था	195—222
अध्याय 3:	**जीवन क्रियाकलाप—प्रक्रिया संबंधी स्पष्टीकरण**	**223—344**
	3.1 श्रवण—मनन—साक्षात्कार—बोध—अनुभव—प्रमाण	223—305
	3.2 अध्ययन के लिए प्राथमिकता, बाधाएँ एवं निराकरण	305—344
अध्याय 4:	**अनुसंधान (समाधि—संयम)**	**345—365**

अध्याय–1

परिचयात्मक

1.1 विकल्प की पृष्ठभूमि

अनुसन्धान क्यों, कैसे?

मेरे बंधुओं!

सबको नमन, प्रणाम, आशीर्वाद अर्पित करते हुए मैं आपसे अनुरोध करना चाह रहा हूँ यह अनुसंधान क्यों और कैसे हुआ? उसके पहले मुझे यह भी बताने को कहा गया है यथास्थिति से मुझे क्या परेशानी थी? मैं मानता हूँ, यहाँ पर जितने भी बंधुजन उपस्थित हैं, वे ध्यान से सुनेंगे और फिर अपने विचार व्यक्त करेंगे।

यथास्थिति यह है "इस धरती पर हम जो आदमी जाति हैं, वे ज्ञानी, विज्ञानी अथवा अज्ञानी में गण्य हैं।" यह मेरा कथन आप लोगों को कितना अनुकूल है या प्रतिकूल है यह आप आगे बताएँगे। हम ज्ञानी, विज्ञानी और अज्ञानी मिलकर इस धरती पर जो कुछ भी किए उसके फलन में पहले वन सम्पदा समाप्त हो गयी, दूसरे खनिज सम्पदा समाप्त हो गयी। इन दोनों के समाप्त होने से यह धरती रहने योग्य नहीं बचेगी, ऐसा विज्ञानी लोग कह रहे हैं। ये सब बात हम लोग सुनते ही हैं। इस पर आगे सोचने पर स्वयंस्फूर्त रूप में यह बात आती है हम जो कुछ भी किए उससे यह धरती रहने योग्य नहीं बची, अब यह रहने योग्य बने उसके लिए भी कुछ सोचें!

धरती पर मानव रहने योग्य कैसे बने उसके लिए मैं अनुसंधान किया हूँ। मेरे अनुसंधान का उद्देश्य इतना ही है। इस अनुसंधान पूर्वक मैंने जो पाया, उसको प्रस्तुत करने की कोशिश किया है। यह स्पष्ट हुआ या नहीं हुआ, यह आप ही लोग शोध करके बताएँगे। हर व्यक्ति को शोध करने का अधिकार है, समझने का अधिकार है, उस पर अपने आचरण सहित विचारों को व्यक्त करने का अधिकार है। आज पैदा हुए बच्चे में भी यह अधिकार है, कल मरने वाले वृद्ध में भी यह अधिकार है।

17_samvaad_part2_2013_c

प्रकारांतर से चलते हुए वर्तमान में हम मानव जाति अपराध कृत्य में फंस गए हैं। इससे पहले हमारे बुजुर्गों ने वेद विचार में लिख कर दिया है "भक्ति विरक्ति में कल्याण है।" भौतिकवाद जब आया तो पहले से ही प्रलोभन से ग्रसित मानव जात "सुविधा संग्रह" में फंस गया। सुविधा संग्रह के चलते इस धरती से वन और खनिज दोनों समाप्त होते गए। वन और खनिज समाप्त होने से ऋतु संतुलन प्रतिकूल होता गया और धीरे धीरे धरती बीमार हो गयी।

विज्ञानी यह बता रहे हैं धरती का तापमान कुछ अंश और बढ़ जाने पर इस धरती पर आदमी रहेगा नहीं। सन् 1950 से पहले यही विज्ञानी बताते रहे कि यह धरती ठंडा हो रहा है। सन् 1950 के बाद बताना शुरू किए कि यह धरती गर्म हो रहा है। यह कैसे हो गया? इसका शोध करने पर पता चला इस धरती पर सब देश मिलकर 2000 से 3000 बार परमाणु परीक्षण किए हैं। ये परीक्षण इस धरती पर ही हुए हैं। इन परीक्षणों से जो ऊष्मा जनित होते है उसको नापा जाता है। यह जो ऊष्मा जनित हुआ, वह धरती में ही समाया या कहीं उड़ गया? यह पूछने पर पता चलता है यह ऊष्मा धरती में ही समाया है, जिससे धरती का ताप बढ़ गया। धरती को बुखार हो गया है। अब और कितना ताप बढ़ेगा उसकी प्रतीक्षा करने में विज्ञानी लगे हैं। इसके साथ एक और विपदा हुआ प्रदूषण का छा जाना। ईंधन अवशेष से प्रदूषण हुआ। इन दोनों विपदाओं से धरती पर मानव रहेगा या नहीं, इस पर प्रश्न चिन्ह लग गया है।

धरती को मानव ने अपने न रहने योग्य बना दिया। मानव को धरती पर रहने योग्य बनाने के लिए यह अनुसंधान प्रस्ताव रूप में है।

"न्यायपूर्वक जीने" की प्रवृत्ति मानव में कैसे स्थापित हो इसको मैंने अनुसंधान किया है। न्यायपूर्वक जीने में मैं स्वयं प्रवृत्त हूँ। न्याय किसके साथ होना है? मानव के साथ होना है और मानवेतर प्रकृति के साथ होना है। इसके बारे में हम थोड़ा यहाँ बातचीत

करेंगे।

मैं स्वयं एक वेद मूर्ति परिवार से हूँ। मेरे शरीर का आयु इस समय 90 वर्ष है। इन 90 वर्ष में से पहले 30 वर्ष मैंने अपने घर परिवार की परम्परा के अनुसार ही काम किया। 30 वर्ष के बाद के 60 वर्ष मैंने इस अनुसंधान को करने और उससे प्राप्त फल को मानव जाति को अर्पित करने में लगाया हूँ।

यह अनुसंधान कैसे किया? यह बात आती है। हमारे शास्त्रों में लिखा है अज्ञात को ज्ञात करने के लिए समाधि एकमात्र स्थान है। उस पर विश्वास करते हुए, अमरकंटक को अनुकूल स्थान मानते हुए, मैं 1950 में अमरकंटक पहुँचा। अमरकंटक में मैंने साधना किया और समाधि को देखा। समाधि को देखने पर पता चला, समाधि में कोई ज्ञान नहीं होता। समाधि में मैंने अपनी आशा, विचार और इच्छा को चुप होते हुए देखा। एक दो वर्ष तक मैंने समाधि की स्थिति को देखा पर समाधि में ज्ञान नहीं हुआ।

उसके बाद समाधि का मूल्यांकन करने के क्रम में मैंने संयम किया, जिससे प्रकृति की हर वस्तु मेरे अध्ययन में आयी। अस्तित्व स्वयं सह अस्तित्व स्वरूप में है यह बात मुझको बोध हुआ, ज्ञान हुआ, उसको जी करके प्रमाणित करने की अर्हता आयी। ऐसे ज्ञान को जी करके प्रमाणित करने में परस्परता में विश्वास होता है। जीने में ही विश्वास होता है, बस कहने मात्र से विश्वास नहीं होता ऐसा मैंने स्वीकार किया। इस प्रकार जीते हुए लोगों तक इस बात को कैसे पहुँचाया जाए? इस पर सोचने पर शिक्षा विधि द्वारा इसे प्रवाहित करने के उद्देश्य से वांङ्मय तैयार किया।

अनुसंधान पूर्वक क्या उपलब्धि हुई? अनुसंधान की उपलब्धि है "समाधान"। सभी दिशाओं, आयामों, कोणों, परिप्रेक्ष्यों के लिए समाधान उपलब्ध हुआ। अनुसंधान पूर्वक मेरा स्वयं का अच्छी तरह समाधान पूर्वक जीना बन गया। समाधान को जब प्रकाशित करने

ए नागराज, प्रणेता एवं लेखक मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

लगे तो लोगों को लगने लगा हमको भी चाहिए, हमको भी चाहिए.. .. ऐसा होते होते हम यहाँ तक पहुँचे हैं।

समाधान के साथ यदि "समृद्धि" नहीं है तो हम प्रमाणित नहीं हो सकते, यह भी बात आया। समृद्धि का प्रयोजन है शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति। सम्पूर्ण भौतिक वस्तुओं का मानवीयता पूर्वक नियोजन इन्हीं तीन स्थितियों में है। विज्ञान द्वारा हम दूरश्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन संबंधी वस्तुओं को पाये। उत्पादन अनियंत्रित होने के फलन में धरती बीमार हो गयी। आदमी के बने रहने पर प्रश्न चिन्ह लग गया। धरती बीमार हो गयी तो आदमी कहाँ रहेगा? आगे पीढ़ी कहाँ रहेगा? यह भी सोचने का मुद्दा है। केवल आदमी को ही अपराध मुक्त होने की आवश्यकता है। अपराध मुक्त होने के लिए आदमी को सह अस्तित्व में जीने की आवश्यकता है। आदमी को तीनों अवस्थाओं के साथ नियम, नियंत्रण, संतुलन पूर्वक जीने की आवश्यकता है।

स्वयं में जो बोध हुआ, अनुभव हुआ उसको जीने के क्रम में हम दूसरों को बोध कराते हैं। इसका हमने काफी अभ्यास किया, जिसके फलस्वरूप देश में दूर दूर तक एक आवाज सुनाने योग्य तो हुए। इसके बाद कुछ लोगों में इसको अध्ययन करने की इच्छा भी हुई है। हर आदमी स्वयं को प्रमाणित करने का अधिकार रखता है। हर बच्चे, बड़े, बुजुर्ग स्वयं को प्रमाणित करने के अधिकार से संपन्न हैं। यह स्वीकारते हुए इस प्रस्ताव की शिक्षा पद्धति को हमने नाम दिया "चेतना विकास मूल्य शिक्षा"। "चेतना विकास मूल्य शिक्षा" के लिए ये लोग अध्ययन कर रहे हैं और स्वयं को प्रमाणित करने के लिए कटिबद्ध हैं। इन सबको ध्यान में रखते हुए इस प्रस्ताव की उपयोगिता हमको समझ आता गया। जैसे जैसे उपयोगिता समझ आता गया हमारा उत्साह भी बढ़ता गया! उत्साह बढ़ता गया तो मेरा स्वस्थ रहना भी बन गया। जल्दी शरीर त्यागने की आवश्यकता नहीं है, कुछ दिन और देख लें इसका क्या फल परिणाम होता है। इस

तरह 90 वर्ष व्यतीत हुए हैं। जब तक साँस चलती है, इस प्रस्ताव का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है यह देखा जा सकता है। आगे आप सब प्रयोजनों को देखने के लिए उम्मीदवार हो ही सकते हैं, प्रयत्नशील हो सकते हैं, प्रयोजनों को प्रमाणित कर सकते हैं।

इस अनुसंधान को करने में (समाधि संयम में) हमने 25 वर्ष लगाए। अनुसंधान की उपलब्धि के अनुरूप अपने जीने के तौर तरीके को बनाने में दस वर्ष लगाए। उसके बाद संसार को इस प्रस्ताव की ज़रूरत है या नहीं इसका सर्वेक्षण करने में दस वर्ष लगाए। संसार को इस प्रस्ताव की ज़रूरत है यह निर्णय होने पर सन् 2000 से इसको लोगों तक पहुँचाना शुरू किए।

मेरे अनुसंधान की उपयोगिता समझ आने पर मेरी आवाज में भी बल आया। इससे यह कहना बना "अपराधों से सहमत हो कर हम इस धरती पर ज्यादा दिन रह नहीं पायेंगे।" दूसरी बात "समझदारी से समाधान संपन्न हो कर हम इस धरती पर चिरकाल तक रह सकते हैं।"

समझदारी के लिए "चेतना विकास मूल्य शिक्षा" अध्ययन के स्वरूप को हमने शिक्षा विधि से प्रस्तुत किया है। इस प्रस्ताव के लोकव्यापीकरण में संलग्न विभूतियों का यह सोचना है "जीवन विद्या" (शिविर) से शुरू किया जाए और "अध्ययन" में प्रवृत्ति पैदा किया जाए। जीवन विद्या की भनक तो देश के सभी प्रान्तों में करीब करीब पहुँच गया है। इस सम्मेलन में यह पता चलता है किस प्रांत में कितनी भनक पड़ी। इस बात को हम दूर दूर तक पहुँचाने के योग्य हुए। लोगों तक पहुँचाने के क्रम में संतुष्टि बनी हुई है।

अब हम इस अनुसन्धान के प्रयोजन की बात करेंगे।

हर मानव के पास कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता पूंजी के रूप में है। हर बच्चे के पास है, हर बड़े के पास है उसका वह प्रयोग

कर सकता है। कल्पनाशीलता के आधार पर कर्मस्वतंत्रता का प्रयोग मानव ने आज तक किया है। इस कमरे का छत जो बना है वह कल्पनाशीलता के आधार पर बना है। जहाँ हम बैठे हैं वह स्थान कल्पनाशीलता के आधार पर बना है। जिस गाड़ी में हम घूमते हैं, हवाई जहाज से आकाश में घूमते हैं वह कल्पनाशीलता के आधार पर बना है। कल्पनाशीलता के आधार पर ही हम "सुविधा संग्रह" को अपनाए हैं। हर मानव के पास यह कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता उपलब्ध है। जीवन और शरीर के योगफल में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता प्रगट होती है। मरे हुए आदमी में यह प्रगट नहीं होती है। जीवन हो, पर शरीर न हो तब भी यह प्रगट नहीं होगी। शरीर हो, पर जीवन न हो तब भी यह प्रगट नहीं होगी।

कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता कैसे आ गया? "सह अस्तित्व नित्य प्रगटनशील है" इस सिद्धांत पर यह आधारित है। सह अस्तित्व नित्य प्रगटनशील होने से अपने प्रतिरूप को मानव स्वरूप में प्रस्तुत कर दिया। धरती पर प्रगट होने के बाद मानव अपराधी हो गया। मुख्य बात इतना ही है। चोट की बात इतना ही है। इस चोट की बात को ध्यान में लाने पर हम अच्छी तरह से समझ सकते हैं, मानव जाति का अपराध मुक्त होना नितांत आवश्यक है।

"हर मानव सुधर सकता है" यह इस बात से पहली सम्भावना है। हर मानव सुधर कर अपने सुधार को प्रमाणित कर सकता है। इस सम्भावना के विस्तार को क्या नापा जा सकता है? हर मानव के सुधरने पर क्या होगा? जैसे हर गाय अपने वंश के अनुसार गायत्व के साथ व्यवस्था में जीता है... जैसे हर वृक्ष अपने बीज के अनुसार वृक्षत्व के साथ व्यवस्था में रहता है... उसके पूर्व जैसे हर पदार्थ परिणाम के अनुसार अपने त्व सहित व्यवस्था में रहता है... उसी प्रकार मानव सुधरने के बाद मानवत्व सहित व्यवस्था में जी सकता है।

इस अनुसंधान पूर्वक "मानव का अध्ययन" सम्भव हो गया है। अभी तक "मानव का अध्ययन" शून्य था। "मानव का अध्ययन" छोड़ कर आदर्शवाद भागा और भौतिकवाद भी भाग ही रहा है। आदर्शवाद और भौतिकवाद मानव का अध्ययन नहीं करा पाये। यह अभिशाप मानव जाति पर लगा हुआ है। मानव का अध्ययन न होने से मनमानी विचार धाराएं निकली, मनमानी व्यवस्थाएं निकली। एक ही परिवार में बीस मतभेद निकले। इस तरह नर नारियों में समानता का रास्ता नहीं निकला, दूसरे अमीरी गरीबी में संतुलन नहीं बन पाया। गरीब और ज्यादा गरीब होते गए, अमीर और अमीर होते गए। नर नारियों में समानता और अमीरी गरीबी में संतुलन के लिए "अच्छे" ढंग से भी जो प्रयोग हुए, "बुरे" ढंग से भी जो प्रयोग हुए दोनों बुरे में ही अंत हुए। इस तरह मानव जाति के उद्धार का रास्ता बना नहीं। अब इस अनुसन्धान पूर्वक नर नारियों में समानता का भी सूत्र निकलता है, अमीरी गरीबी में संतुलन का भी सूत्र निकलता है।

नर नारियों में समानता समझदारी के आधार पर आता है। हर नर नारी में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता रखा हुआ है, उसके आधार पर हर नर नारी समझदारी को अपना सकते हैं। शरीर (रूप) के आधार पर नर नारी में समानता होगा नहीं। रूप शरीर के साथ है, समझदारी जीवन के साथ है। धन सबके पास समान रूप में हो नहीं सकता। धन के आधार पर नर नारियों में समानता होगा नहीं। पद सबको मिल नहीं सकता। पद के आधार पर नर नारियों में समानता होगा नहीं। तलवार और बन्दूक (बल) के आधार पर नर नारियों में समानता होगा नहीं। तलवार और बन्दूक सभी चला नहीं सकते। नर नारियों में समानता समझदारी के आधार पर ही सम्भव है। हर नर नारी समझदार हो सकते हैं।

"नर नारियों में समानता" और "अमीरी गरीबी में संतुलन" होने पर हम इस धरती पर अनादि काल तक रह सकते हैं।

ए नागराज, प्रणेता एवं लेखक मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

मानव द्वारा धरती के साथ अपराध प्रधान रूप से खनिज कोयला, खनिज तेल और विकिरणीय धातुओं का अपहरण करने से हुआ है। इन तीन वस्तुओं के अपहरण करने से धरती असंतुलित हुई है। विकिरणीय धातुओं का प्रयोग ही 3000 बार परमाणु परीक्षण करने में किया गया है। उससे जनित भीषण ताप धरती में ही समाया है। फलस्वरूप धरती बीमार हो गयी। धरती यदि स्वस्थ रहेगा तभी मानव स्वस्थ रूप में कुछ कर सकता है। धरती ही स्वस्थ नहीं रहेगा तो मानव क्या कर लेगा? कहाँ करेगा? इसको सोच करके तय करना पड़ेगा। हमको धरती को संतुलित रख कर जीना है या नहीं? यदि जीना है तो अपराध प्रवृत्ति से मुक्त होना आवश्यक है।

संवेदनाओं के पीछे पागल होना ही अपराध प्रवृत्ति में फँसना है। संवेदनाओं को संतुष्टि देने के पीछे हम दौड़ते हैं तो अपराध के अलावा कुछ होगा नहीं। समझदारी पूर्वक यदि दौड़ते हैं तो समाधान के अलावा कुछ होगा नहीं।

नर नारियों का संवेदनाओं को तृप्त करने के लिए दौड़ना जरूरी है या संवेदनाओं को नियंत्रित करना जरूरी है? यदि संवेदनाओं के पीछे ही हम दौड़ते हैं तो हम जानवरों से अधिक कुछ नहीं हैं। संवेदनाओं को नियंत्रित करके ही हम मानव बन सकते हैं। यह हर व्यक्ति स्वयं में निरीक्षण कर सकता है हम कितना संवेदनाओं के पीछे लट्टू हैं, हमारी संवेदनाएं कितनी नियंत्रित हैं। हर नर नारी यह परीक्षण कर सकते हैं और उसके आधार पर अपने बच्चों को उद्बोधन कर सकते हैं।

संवेदनाओं को तृप्त करने के लिए हम कितना भी काम करें वे तृप्त होती नहीं हैं। इस तरह संवेदनाओं के लिए काम करने से केवल अपराध होता है। मानव स्वयं में तृप्ति पूर्वक ही समाधान को प्रमाणित करता है।

हमको तृप्त रहना है या अतृप्त रहना है, इसको हमें तय

करना है। संवेदनाओं को तृप्त करने में लगे रहना है या संवेदनाओं को नियंत्रित करना है? इसको तय करने के लिए हम यहाँ हैं। "संवेदनाओं को नियंत्रित करना है" वहीं से "विकल्प" के अध्ययन की ज़रूरत पड़ती है।

यह प्रस्ताव आदर्शवाद और भौतिकवाद दोनों का "विकल्प" है।

आदर्शवाद शुरू भी "रहस्य" से करता है और उसका अंत भी "रहस्य" में ही है। दूसरे भौतिकवाद से "सुविधा संग्रह" ही जीने का लक्ष्य बनता है। सुविधा संग्रह का कोई तृप्ति बिन्दु होता नहीं है। कितनी भी सुविधा पैदा करें और सुविधा पैदा करने की जगह बना ही रहता है। कितना भी संग्रह करें और आगे की संख्या रखा ही रहता है।

विकल्प विधि से सोचने पर यह निकलता है "मानव लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व है।"

हमें "सुविधा संग्रह" के पीछे ही लगे रहना है या "समाधान समृद्धि " की ओर चलना है यह हमको निर्णय करना है।

संवेदनाओं को तृप्त करने के लिए दौड़ते ही रहना है या संवेदनाओं को नियंत्रित रखना है, यह हमको निर्णय करना है।

समाधान समृद्धि की ओर चलना है और संवेदनाओं को नियंत्रित रखना है तो उसके लिए मानव में "समझदारी" अवश्यम्भावी है। "समझदारी" का मतलब है सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व को समझना और सह अस्तित्व स्वरूप में जीना।

सह अस्तित्व स्वरूप में जीने में हमारे न्यायपूर्वक जीने की बात बनती है। न्यायपूर्वक जीने में किसी का किसी पर "आरोप", किसी की किसी से "शिकायत", किसी की किसी पर "आपत्ति" बनता

नहीं है। सह अस्तित्व विधि को छोड़ कर यदि हम व्यक्तिवादी/समुदायवादी विधि से जीने के बारे में सोचते हैं, तो समस्याएं तैयार हो जाती हैं। मानव मानवीयता पूर्वक जीने से व्यक्तिवादिता से मुक्त होता है। चेतना विकास को जब समझते हैं, जीते हैं तो व्यक्तिवाद/समुदायवाद दोनों से मुक्त हो जाते हैं। चेतना विकास को समझने और जीने का प्रमाण मैं स्वयं हूँ। ऐसे प्रमाणों का जो सत्यापन प्रस्तुत करेंगे, उन पर आप विश्वास कर सकते हैं।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन, 1 अक्टूबर 2009, हैदराबाद)

अनुसंधान की पृष्ठभूमि और इसकी उपलब्धि का लोकव्यापीकरण

यह जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन सुखद, सुंदर, सौभाग्य पूर्ण हो यह मेरी शुभ कामना है। मूल में मुझे यह बताने के लिए कहा गया है कि इस अनुसंधान को करने का "संकट" मुझे कैसे आ गया? यह अनुसंधान हुआ कैसे? इस अनुसंधान को "विकल्प" स्वरूप में प्रस्तुत करने की क्या ज़रूरत आ गयी थी? इन सब बातों पर ध्यान दिलाने के लिए यह मेरी प्रस्तुति है।

मैं आपसे निवेदन करना चाहूँगा, मेरी शरीर यात्रा ईश्वरवादी विचार के अनुसार विद्वान कहलाने वाले वेदमूर्ति परिवार में शुरू हुई। उस परिवार में मैंने पलने से लेकर 6–7 वर्ष या 10 वर्ष तक वेद विचार के अलावा कुछ श्रवण किया ही नहीं। या ऐसा कह सकते हैं दूसरी कोई बात मेरे मन में पहुँची ही नहीं। मेरी आयु जब 5 वर्ष रही होगी तब बहुत सारे बड़े बुजुर्ग लोग मुझे प्रणाम किया करते थे। मुझमें यह विचार आया "मुझको ये लोग प्रणाम करते हैं इनको मैंने ऐसा क्या दे दिया है? ये लोग क्यों मुझे प्रणाम करते हैं?" मैंने इस बारे में अपने घर परिवार, माता पिता, भाइयों, मामा के साथ बात की तो वे उसका मखौल उड़ाते रहे। यह सब चलते चलते 10–12 वर्ष

बाद मुझको इस बात का पता चला, ये लोग मेरे परिवार का सम्मान करते हैं और उसी आधार पर मेरा सम्मान करते हैं। यह जो मुझमें निष्कर्ष निकला उससे इस बात की मुझमें प्रतिज्ञा बनी, हमारा परिवार जो सम्मान और प्रतिष्ठा बनाया है, उसको बरबाद करने का अधिकार मुझको नहीं है।

उसके बाद मैं वहीं न रुक कर, मेरा परिवार संसार को क्या दे दिया इसको मैं शोध करने लगा। यह शोध करने पर पता चला मेरे परिवार की परम्परा में हर पीढ़ी में एक दो संन्यासी होते ही रहे। उनमें से कई संन्यासी तो ऐसे हुए, जो अपनी समाधि के लिए स्वयं गड्ढा खोद कर मिट्टी डाल कर मर गए। मर जाने के बाद उनके ऊपर चबूतरा बना कर रखे हुए थे। मैंने अपने परिवार जनों से पूछा "ये हमको क्या दे गए?" इसका उत्तर देने में काफी परेशानी उनको होने लगी। अंततोगत्वा यह बताया शास्त्रों में "सन्यास" के बारे में लिखा है कि उससे कल्याण होता है। "कल्याण होता है तो उसका कोई गवाही होगा कि नहीं?" यहाँ से मैंने शुरू किया। ऐसा शुरू करने पर तकलीफ और बढ़ी। यह बढ़ते बढ़ते मुझको अंततोगत्वा समझाया गया तुम पूरा वेदान्त को समझो। मैं फ़िर वेदान्त को समझने गया।

वेदान्त को मैंने पूरा ठीक से समझा। लेकिन उससे तो वही हुआ "पहले से करेला, ऊपर से नीम चढ़ा!" वेदान्त के अध्ययन से मुझे पता चला "यह ब्रह्म ही बंधन और मोक्ष का कारण है।"

ब्रह्म ज्ञान क्या है? तो रहस्यमय बताया। "ब्रह्म अव्यक्त है, अनिर्वचनीय है " यह बात की मुझे सूचना दिए। यदि ब्रह्म अव्यक्त है, अनिर्वचनीय है तो ऐसी स्थिति में "ब्रह्म ज्ञान" का क्या मतलब होगा? ऐसा मैं तर्क करने लगा। उस पर मुझे बताया गया "तुम छोटा मुँह बड़ी बात करते हो।" इस प्रकार मुझसे मेरे परिवार में काफी संकट गहराया।

ब्रह्म ही बंधन और मोक्ष का कारण कैसे हो गया? मैंने पूछा तो बताया यह "ब्रह्म लीला" है। यह सुनने पर मैंने कहा देखिये, संसार में जो दारु पीते हैं, वे बढ़िया लीला करते हैं। जो पागल हो जाते हैं उससे बढ़िया लीला करते हैं। क्या ब्रह्म को पागल या दारु पिया हुआ माना जाए? यदि ऐसा नहीं माना जाए तो उसका तरीका क्या है? यह सब होने पर वे मुझको समझाए "इसको समझने के लिए तुमको स्वयं अनुभव करना पड़ेगा।"

क्या अनुभव होता है? मैंने पूछा।

"समाधि में अनुभव होता है" उत्तर मिला।

किस बात का अनुभव? मैंने पूछा।

"ज्ञान का" यह बात बताये।

यह बताया तो मैंने समाधि के लिए तैयारी कर लिया। अपने मन को तैयार किया कि इसके लिए मुझको यह शरीर यात्रा अर्पित करना है। उस समय मेरी आयु 26–27 वर्ष रहा होगा। परम्परा को छोड़ कर अपने मन का कुछ करना है उसके लिए शास्त्रों में "विद्वत संन्यास" की बात लिखा है। विद्वत संन्यास के बारे में लिखा है ऐसा कुछ काम करने के लिए पत्नी का अनुमति चाहिए, माँ का अनुमति चाहिए और गुरु का अनुमति चाहिए।

उस बारे में मैंने अपने पत्नी से एक गोष्ठी किया, अपना विचार व्यक्त किया कि इस प्रकार से मेरे मन में ऐसा निश्चय हो रहा है। इसमें तुम्हारा क्या कहना है? "तुम जो निर्णय लोगे उसी के साथ मुझे चलना है।" ऐसा वह बोली।

उसके बाद मैंने अपनी माँ से बात किया। मेरी माँ मेरे लिए पहले से ही गुरुतुल्य रही थी। उन्ही से मैंने ज्योतिष और आयुर्वेद सीखा था। उसके अतिरिक्त मेरे घर पर "श्री विद्या आगम तंत्र

उपासना" की परम्परा रही थी, उसका उपदेश उन्होंने ही मुझे दिया। इसी अर्थ में मेरी माँ मेरे लिए गुरु तुल्य थी। उनसे पूछा तो वे बताई "तुम जो कुछ भी निर्णय लोगे उससे अच्छा निर्णय लेने वाला इस धरती पर कोई नहीं है। तुम जो निर्णय लो उसे कर डालो, तुम उसमें सफल होगे।" ऐसा उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया।

उसके बाद श्रृंगेरी विद्या पीठ के शंकराचार्य (श्री चंद्रशेखर भारती) को मैंने अपनी आस्था का केन्द्र बनाया था उनसे मैंने इस बात का जिक्र किया। उन्होंने बताया "तुम्हारा संकल्प ठीक है। तुम सफल हो जाओगे। नर्मदा किनारे भजन करो।" ऐसा वे बोले। (साधना को वह 'भजन' बोलते थे।)

यह कुल मिलाकर स्थिति बनी। उसके बाद मैंने अपने पिताश्री से बात किया। पिताजी ने यह बताया तुम वेद मानते हो, अध्यात्म मानते हो, तो जब तक हम जीते हैं तब तक तुम्हारा जप, यज्ञ, तप सब कुछ हम ही हैं। हमारी सेवा करना ही तुम्हारा धर्म है, ऐसा वे बोले।

उसके बाद अपने ससुरजी से बात किया। वे बोले तुम 60 वर्ष की आयु के बाद वानप्रस्थ जाना। मैंने धीरे से उनसे पूछा आपका आयु कितना है? उन्होंने बताया 62 वर्ष! मैंने पूछा फ़िर यहाँ कैसे दिख रहे हो?! सुन कर वे भाग गए! यह भी एक मजाक की बात है।

इस तरह परामर्श के तौर पर मैंने सबसे बात किया और समाधि के लिए जाने का निष्कर्ष निकाला।

सबसे परामर्श करके मैंने समाधि के लिए जाने का निष्कर्ष लिया। निष्कर्ष में तो आ ही गया था कि मुझको यह करना ही है, एक शरीर यात्रा इसमें अर्पित करना ही है। मैंने कुछ तिथि निश्चित किया कि इस तिथि में (अमरकंटक) चले जायेंगे। तब तक अपने

सभी क्रियाकलापों, लेन देन आदि सब को पूरा करने में मैं लगा। इसी बीच में मेरी माँ का देहांत हो गया। यह 1947 के अंत में हुआ। और 1948 के आरम्भ में मेरे पिता का भी शरीर शांत हो गया। वहाँ की परम्परा के अनुसार 1 वर्ष तक मरणोत्तर कर्मो में सम्मान देते हैं, ऐसी आस्था रखते हैं। उसको मैंने पूरा किया। वह सब पूरा होने पर 1950 में हम यहाँ अमरकंटक पहुँच गए।

अमरकंटक उस समय एक छोटा सा गाँव था। कुल आबादी 150 लोग। वहाँ आने पर वहाँ के सभी लोग जैसे मेरे अभिभावक बन गए। फ़िर मैं वहाँ साधना करने की प्रवृत्ति बनाने लगा। अमरकंटक के बड़े बुजुर्गों के नित्य कर्मो को मैंने देखा। सवेरे नर्मदा में स्नान करने के बाद, घर में खाने पीने के बाद, वही बीड़ी सिगरेट तम्बाकू का सेवन, फ़िर चौपड़ खेलना, ताश खेलना। ये उनकी पूरी दिनचर्या के काम को मैंने देखा। ऐसे बड़े बुजुर्गों के पास में बैठता हूँ तो ये मुझे भी वही सब करने को कहेंगे। यदि मैं इसके लिए मना करता हूँ, तो मैं उनके लिए कुजात हो जाता हूँ! यदि मैं वही सब करता हूँ तो मेरा साधना तो समझो हवा हो गया! अब क्या किया जाए? यहाँ पर रहा जाए या यहाँ से भागा जाए?

ऐसे में मेरी श्रीमती ने सुझाया तुम क्यों परेशान होते हो? उनको अपना काम करने दो, तुम अपना काम करो! तुम सवेरे से शाम तक साधना करो। तुम्हारे पास कोई आएगा नहीं, तुम किसी के पास जाना नहीं। यह सुनकर मैं बहुत बाग बाग हुआ। उसी के अनुसार मैंने साधना शुरू किया। 1942 में मेरा विवाह हुआ था। 1950 में हम अमरकंटक आ गए थे। इन 8 वर्षों में मैं अपनी पत्नी के लिए अभिभावक जैसे रहा था। मेरी पत्नी 1950 से लेकर आज तक मेरे लिए अभिभावक है। इस सम्मानजनक संबंध को मैंने कैसे पहचाना और वह मेरे लिए कैसे वरदान सिद्ध हुआ यह आपको बताना चाहा। मेरी पत्नी की तपस्या ही है, जो मैं साधना कर पाया। नहीं तो मैं साधना नहीं कर पाता। मैं समझता हूँ, साधना करने के लिए कहीं न

कहीं आत्मीयतापूर्ण सेवा आवश्यक है।

यह सब होने के बाद अपनी साधना में मैं तत्पर हुआ, उसके लिए किया धरा, उस सब में 20 वर्ष लगे। 20 वर्ष बाद में समाधि की स्थिति में पहुँच गया।

समाधि की स्थिति में मैंने पाया मेरा आशा, विचार, इच्छा जो दौड़ता रहता था "मुझे कुछ चाहिए", "मुझे कुछ करना है", "मेरे पास कुछ है" ये तीनों पूर्णतया चुप हो गए। ये चुप होने के बाद आदमी को कोई संकट तो होता नहीं है। आशा, विचार, इच्छा चुप हो जाने के बाद संकट काहे को होगा? ये चुप होने के बाद मैं हर दिन इंतज़ार करता रहा आज ब्रह्म ज्ञान होगा, आज होगा... ऐसा करते करते कई महीने इंतज़ार में बीत गए।

समाधि में मुझको ब्रह्म ज्ञान नहीं हुआ।

समाधि में ब्रह्म ज्ञान नहीं होता इसको मेरे कहने भर से कौन मानने वाला है? शास्त्रों में तो इसके विपरीत लिखा है। समाधि मुझको हुआ है या नहीं इसका गवाही देने के लिए मैंने "संयम" किया। संयम के द्वारा समाधि का गवाही हो जाता है। फ़िर संयम करने का संकल्प ले कर मैं लग गया।

पतंजलि योग सूत्र में संयम के लिए विभूति पाद में जो कुछ भी लिखा है वह कोई ज्ञान के लिए नहीं है। "अज्ञात को ज्ञात" और "अप्राप्त को प्राप्त" करने के उद्देश्य की (मुझमें) पहले से घंटी बजती रही। उसमें से "अप्राप्त को प्राप्त करने" को लेकर मेरी कोई जिज्ञासा नहीं रही। मुझको ऐसा महसूस ही नहीं हुआ मेरे पास कुछ अप्राप्त है। अभाव मुझको स्पर्श ही नहीं किया था। अप्राप्त को प्राप्त करने की मुझमें कोई जिज्ञासा नहीं रही, आवश्यकता भी नहीं रही। इसको आप मेरा पागलपन भी कह सकते हैं, मेरी सच्चाई भी कह सकते हैं। अब क्या किया जाए? अज्ञात को ज्ञात कैसे किया जाए, यही बात

हुई। अप्राप्त को प्राप्त करने के सन्दर्भ में लिखा है "धारणा ध्यान समाधिः त्रयम् एकत्रत्वात् संयमः"। ऐसा एक लाइन लिखा है। उसको मैंने उलटाया। "समाधिः ध्यान धारणा त्रयम् एकत्रत्वात् संयमः" ऐसा मैंने दूसरा लाइन तैयार किया। अप्राप्त को प्राप्त करने की एक भी विधि को मुझे नहीं अपनाना है ऐसा मैंने सोचा। अज्ञात को ज्ञात करना उसके उल्टा विधि से होगा उस विधि से करके देखा जाए! ऐसा मेरा मन पहुँचा। और फ़िर उसको मैंने किया।

यह करने पर एक वर्ष में मैं उस जगह पर पहुँचा जहाँ अस्तित्व कैसा है, क्यों है? और मानव कैसा है, क्यों है? इन दोनों का उत्तर मुझे मिल गया। इन दोनों ध्रुवों के बीच में संसार का जो कुछ भी क्रियाकलाप है भौतिक, रासायनिक, और जीवन क्रियाकलाप उसका मुझे साक्षात्कार हुआ। साक्षात्कार होने पर मैं संतुष्ट हुआ।

साक्षात्कार पूर्वक मुझको पता चला :

(1) हर मानव जीवन और शरीर के संयुक्त स्वरूप में है।

(2) जीवन एक गठनपूर्ण परमाणु है।

(3) जीवन में दो और पूर्णतायें क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता मानव परम्परा में ही घटित होता है।

मुझको यह समझ में आया मानव जीव चेतना वश भ्रमित हो कर संकट से घिर जाता है। फ़िर मानव चेतना पूर्वक सुखी होना होता है यही क्रियापूर्णता है। इस तरह पता चला जीव चेतना से मानव चेतना श्रेष्ठ है। मानव चेतना से देव चेतना श्रेष्ठतर है। देव चेतना से दिव्य चेतना श्रेष्ठतम् है। यह अनुभव होने के बाद मैं अपने में सुदृढ़ हुआ। जागृति का अधिकार मुझे मिल गया।

जागृति के अधिकार के फलस्वरूप पता चला मानव भ्रम वश ही बंधन की पीड़ा से पीड़ित है। क्या चीज है भ्रम या बंधन? वह है

अतिव्याप्ति दोष (अधिमूल्यन करना), अनाव्याप्ति दोष (अवमूल्यन करना) और अव्याप्ति दोष (निर्मूल्यन करना) । इन तीन दोषों से ही हम संकट में फंसते हैं। छल, कपट, दंभ, पाखण्ड यह अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों का प्रदर्शन है। दूसरी विधि से जो हम फंसे हैं वह है द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध। इस तरह मानव इन दो भंवरों में फंस गया। इसके पहले साम, दाम, दंड, भेद का भंवर बना ही रहा। इस तरह मानव एक साथ तीन भवरों में फंसा हुआ है। मानव जाति कैसे जी पा रही है आप ही सोच लो!

यह जो ज्ञान मुझे हुआ यह 1975 में हुआ। यह ज्ञान होने पर मैंने स्वीकारा यह मेरे अकेले का ज्ञान नहीं है। यह मानव का ज्ञान है। मानव के पुण्यवश ही यह घटित हुआ है। इसलिए मानव को इसे अर्पित करना है। उसके बाद मानव के साथ संपर्क करने का कोशिश किया। कोशिश करने के क्रम में कुछ लोगों ने कहा "तुम आशावादी हो!" कुछ ने कहा "समय से पहले तुम यह बात कर रहे हो।" कुछ ने कहा "जैसे और कई विचार आए तुम्हारा भी यह एक विचार है थोड़ी देर बाद यह भी ख़त्म हो जायेगा।" इन तीन प्रकार की प्रतिध्वनियाँ आयी। मैं चिंतन मनन करता रहा और उसी के साथ अच्छे अच्छे लोगों से मिलन होते ही रहे। धीरे धीरे मुझको यह धैर्य हुआ कि इस बात की आवश्यकता मानव परम्परा को है।

इसे क्यों मैंने मानव सम्मुख प्रस्तुत किया? क्योंकि मैंने इसे सम्पूर्ण मानव जाति के पुण्य का फल माना। इसी के साथ धरती के बीमार होने से इस प्रस्ताव की आवश्यकता का पता चल गया। इस आधार पर इस प्रस्ताव को मानव जाति के अवगाहन के रूप में प्रस्तुत किया है। यदि धरती पर मानव परम्परा को बने रहना है, तो मानव इस प्रस्ताव को अपनी मानसिकता में स्वीकारेगा और "सच्चाई" के साथ जियेगा।

सह अस्तित्व "होने" के रूप में "सच्चाई" है। जीव संसार, वन वनस्पति संसार और खनिज संसार अपने "होने" के रूप में

सच्चाई है और वे अपने "होने" के अनुसार ही "रहते" हैं। मानव का इस धरती पर "होना" सच्चाई है। मानव "रहने" के रूप में सच्चाई को पकड़ा नहीं है। उस भाग को छुआ नहीं है। उस भाग को पकड़ने की आवश्यकता है। उसी भाग में प्रमाणित होंगे।

उसके बाद 1990 से हमने शुरू किया कि इसे सटीक विधि से एक शैक्षणिक प्रणाली के रूप में लोगों के सम्मुख रखा जाए। उसमें दो तीन जगह में इस बात के प्रयोग हुए हैं, काफी बुद्धिमान लोग इसमें सोचने के लिए तत्पर हुए हैं। आज तक की घटित घटनाएं यहाँ तक पहुँची हैं। अनुसंधान के फल में जो हाथ लगा उसमें कुल मिलाकर "समझदारी" की बात है। अभी तक क्या था? अभी तक समझदारी था कि नहीं था? यह आप पूछो तो मेरे समझ में यह आता है अध्यात्मवाद रहस्य में फंसने से आदमी को समझदारी हाथ नहीं लगा। रहस्य में ही रह गया। उसमें हमने माना मरने के बाद हमको स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष मिलेगा, ज्ञान का फल मिलेगा, देवता मिलेंगे इस प्रकार की बहुत सारी परिकल्पनाएं रखी हुई हैं। मरने के बाद क्या मिलता है, उसकी कोई गवाही तो हो ही नहीं सकती।

इस समझदारी से मानव लक्ष्य स्पष्ट हुआ। मानव लक्ष्य है समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व प्रमाण। मानव लक्ष्य को पूरा करना ही मानव चेतना है।

"समझदारी से समाधान, श्रम से समृद्धि" यह एक सूत्र बना। समझदारी से समाधान संपन्न हो सकते हैं। हर समझदार परिवार में अपनी आवश्यकता का निर्णय कर सकते हैं। आवश्यकता से अधिक उत्पादन करके समृद्धि का अनुभव कर सकते हैं।

इस आधार पर इस पूरी बात को अध्यवसायिक विधि से प्रस्तुत करने की कोशिश किए। प्रस्तुत करने के क्रम में सर्वप्रथम मैंने (सत्तर के दशक में) बंगलौर में एक "अध्ययन शिविर" लगाया। 45 दिन का शिविर था। बहुत सारे लोग इसको सराहे, इसकी आवश्यकता

है ऐसा बोले। इसके बाद धीरे धीरे रायपुर, भिलाई इन जगहों पर विद्वानों के संपर्क में आए। उसके बाद दुर्ग में एक पॉलीटेक्निक संस्थान के संपर्क में आए, जहाँ के लोगों ने जीवन विद्या का शिविर किया। विज्ञान को पढ़े हुए लोगों के साथ मैंने एक जीवन विद्या शिविर किया। इस शिविर करने के बाद उनमें कुछ संतोष और धैर्य हुआ, उसके बाद वही पॉलीटेक्निक संस्थान द्वारा आई.आई.टी, दिल्ली से संपर्क हुआ। आई.आई.टी, दिल्ली के विद्वानों का तरीका कुछ दूसरा ही रहा!

वहाँ पहुँचते ही वे मुझसे कहे "तुम्हारी प्रस्तुति का आधार क्या है? जो बात तुम कह रहे हो यह किसी सिद्धांत पर आधारित है या नहीं?"

इससे मुझको ऐसा झलका, ये पूछ रहे हैं "मैं किस परम्परा के आधार पर बात कर रहा हूँ? उसको लेकर मेरा उद्गार चाह रहे हैं।" किंतु मेरी बात किसी परम्परा पर आधारित नहीं रहा।

इसका सीधा उत्तर मैंने दिया "मेरी बात का आधार है सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व। और इस बात का प्रमाण मैं स्वयं हूँ।" इस प्रकार से मैं प्रस्तुत हुआ।

इस प्रकार वहाँ के जो तत्कालीन विद्वान थे उनमें से कुछ लोगों को सुनकर काफी अच्छा लगा, तो कुछ को लगा यह बिल्कुल पाखंडी आदमी है बस बात करने वाला है। ऐसा दो तरह की बात हुई। इसके बाद उनसे मंगल मैत्री, ज्ञान अर्जन करने कराने की बातचीत शुरू हुई। अंततोगत्वा आई.आई.टी में यह प्रवृत्ति बनी "यह कुछ सही चीज़ है, इस पर प्रयोग करके देखना चाहिए।"

कुल मिलाकर "अध्यात्मवाद की रहस्यमयता" मेरे अनुसंधान का कारण रहा। अस्तित्व में रहस्य होने का कोई कारण नहीं है। अध्यात्म या ब्रह्म जैसे वस्तु का अव्यक्त रहने का कोई कारण नहीं

है। अनुसंधान से पता चला, ब्रह्म सभी वस्तुओं को प्राप्त है। प्राप्त का अनुभव करने का मानव के पास अधिकार है। वह अनुभव सह अस्तित्व स्वरूप में होता है। यह मैंने अनुभव किया है।

इस प्रकार सह अस्तित्व समझ में आने के बाद उसको वांङमय स्वरूप में दर्शन, वाद और शास्त्र रूप में दिया। दर्शन रूप में नाम दिया गया है मानव व्यवहार दर्शन, मानव कर्म दर्शन, मानव अभ्यास दर्शन और मानव अनुभव दर्शन। उसके बाद विचार में नाम दिया समाधानात्मक भौतिकवाद, व्यवहारात्मक जनवाद और अनुभवात्मक अध्यात्मवाद। उसके बाद शास्त्रों का नाम दिया आवर्तनशील अर्थशास्त्र, व्यवहारवादी समाजशास्त्र, मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान। उसके बाद संविधान लिखा मानवीय आचार संहिता रुपी संविधान। उस ढंग से मानव को जो आवश्यकता है आचरण से लेकर संविधान तक, संविधान से व्यवस्था तक हर आदमी जाँच सकता है, उसका पूरा व्याख्या प्रस्तुत किया। उसमें धीरे धीरे लोगों का भरोसा तो बन ही रहा है। इस प्रकार जितने भी लोग इस विचार से जुड़ रहे हैं, उनका भरोसा की बात तो पूरा पड़ता है। इस बात को लेकर "जीवन विद्या" का कार्यक्रम जहाँ जहाँ होता है, जीवन विद्या को जो जो सुनते हैं, उनमें नवीन उत्साह जगता है। उसके बाद जिज्ञासा के आधार पर आगे विद्वान होना बनता ही है।

इस तरह अनुसंधान की यह छोटी सी बात हुई। केवल मुझमें स्वयं में रहस्यवाद से पैदा हुआ संकट और भौतिकवाद से पैदा हुआ संकट (धरती बीमार होने के रूप में) इन दोनों से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न, उस प्रयत्न में मेरी सफलता समाधि संयम पूर्वक होना, उसको मानव को अर्पित करने के लिए प्रयत्न और यहाँ आप तक पहुँचने का सौभाग्य।

जय हो! मंगल हो! कल्याण हो!

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन, अक्टूबर 2005, मसूरी)

"ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या" से परेशानी

हमारे शास्त्रों में ब्रह्म को सत्य, परम पावन बताया गया है। ब्रह्म अव्यक्त और अनिर्वचनीय है, यह भी बताया गया है। साथ ही यह भी लिखा है, ब्रह्म से ही जीव जगत पैदा हुआ। जीव जगत को मिथ्या भी कहा है। इससे मुझे परेशानी हुई "सत्य से मिथ्या भी पैदा हो सकता है!?" यही मेरे अनुसंधान का मूल प्रश्न रहा।

मैंने वैदिक विचार के चिंतन को देखा, समझा और उसके अनुसार जीने के लिए तैयारी किया। वहाँ किताबों में लिखा है "ईश्वर से यह जगत पैदा हुआ है।" "ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से जल, जल से अग्नि पैदा हुआ" यह लिखा है। इसके अलावा जीव के भी ब्रह्म से पैदा होने के बारे में लिखा है। "ब्रह्म की परछाई माया पर पड़ने से असंख्य जीवों की उत्पत्ति हो गयी।" ऐसा बताया गया है। इस तरह ब्रह्म या ईश्वर से ही जीव जगत पैदा होने की बात लिखी गयी है। अंत में फ़िर लिखा है "ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या"। यह किताबों में लिखा हुआ है। उसको आप भी पढ़ सकते हैं। यह पढ़ने के बाद मेरे मन में बहुत आन्दोलन हुआ सत्य से मिथ्या कैसे पैदा हो सकता है? मेरा परिवार श्रेष्ठतम वैदिक परम्परा का सम्मान प्राप्त किया हुआ था वे मेरे इस "वितंडावाद" से बहुत परेशान हुए। उस समय रमण महर्षि जीवित थे, जिनके प्रति हमारे परिवार की आस्था थी। उनकी आज्ञा से कि मेरे प्रश्नों के उत्तर समाधि में मिलेंगे मैं यहाँ अमरकंटक चला आया।

अनुसंधान सफल होने पर मुझे पता चला सत्य से कोई मिथ्या पैदा नहीं होता। "पैदा होता है" यह सोच ही ग़लत है। अस्तित्व में कुछ पैदा नहीं होता, न विनाश होता है। अस्तित्व में प्रगटन है और लुप्त होना है। प्रगटन होना हर धरती पर नियति सहज व्यवस्था है। प्रगटन होना विकास क्रम, विकास, जागृति क्रम, जागृति के रूप में ही होता है। दूसरा कुछ होता ही नहीं है। मानव

के प्रगटन तक कोई परेशानी नहीं है। सारी परेशानी की जड़ मानव ही है। मानव स्वयं फंसा है। कैसे उद्धार होगा? इसका उत्तर हमको विगत में मिला नहीं था। इसके उत्तर को अब मैं पा गया हूँ। वह यदि आप तक पहुँचता है, तो आप भी मेरे जैसे सत्यापन कर सकते हैं।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

अनुसन्धान का लोकव्यापीकरण

मानव का पुण्य रहा तभी यह अनुसंधान सफल हो पाया। इस बात को लेकर मैं बहुत भरोसा करता हूँ, कि मानव इस प्रस्ताव को स्वीकारेगा। मुझे इस प्रस्ताव में सर्वशुभ का रास्ता साफ़ साफ़ दिखाई पड़ा। तभी मैं इस प्रस्ताव के लोकव्यापीकरण में लग गया। कब तक? आखिरी साँस तक! जब तक मेरी साँस चलेगा, मैं इस पर ही काम करूँगा।

इस प्रस्ताव में इतनी बड़ी सम्भावना दिखाई पड़ती है कि आदमी जाति अपराध मुक्त हो सकता है, अपना पराया दीवार से मुक्त हो सकता है। यह दोनों हो गया तो धरती के साथ होने वाला अत्याचार समाप्त होगा। अत्याचार यदि रुका तो धरती अपनी बची ताकत से जितना सुधार सकता है, वह सुधार लेगा।

लोकव्यापीकरण के क्रम में अनेक लोगों से मिलना हुआ। अनेक लोगों ने अपने अपने तर्क को प्रस्तुत किया।

"तुम बहुत आशावादी हो!" यह बताया गया।

निराशावादिता से आपने क्या सिद्ध कर लिया, यह बताइये। मैंने उनसे पूछा।

"तर्क समाप्त हो गया तो हम नीरस हो जायेंगे।" यह आशंका व्यक्त की गयी।

तर्क के लिए तर्क करने से नीरसता होती है या तर्क को प्रयोजन से जोड़ने से नीरसता होती है? यह प्रस्ताव तर्क को प्रयोजन से जोड़ने के लिए है। प्रयोजन सम्मत तर्क समाधान को प्रमाणित करता है। समाधान आने से नीरसता दूर होगा या व्यर्थ के तर्क को बनाए रखने से नीरसता दूर होगा? केवल चर्चा करते रहने से नीरसता दूर होगा या उपलब्धियों से नीरसता दूर होगा? ऐसा मैंने उनसे पूछा।

"एक व्यक्ति की बात को कैसे माना जाए?" यह शंका बताई गयी।

व्यक्ति के अलावा आपको पढ़ने/सुनने को क्या मिलेगा? जो कुछ भी आज तक कहा गया है, लिखा गया है और आगे भी जो कहा जायेगा, लिखा जायेगा वह किसी न किसी व्यक्ति द्वारा ही होगा।

"बहुत सारे लोग तो इससे भिन्न बात को मानते हैं?" यह बताया गया।

बहुत सारे लोग मिलकर ही तो इस धरती को बरबाद किया। यदि कुछ लोग उस "भिन्न बात" को मना भी करते तो इतना बरबाद नहीं होता। सब लोग उस "भिन्न बात" को मान लिए तभी तो धरती बरबाद हुई। सब लोग बर्बादी के रास्ते पर हो गए वह रास्ता ज्यादा ठीक है? या एक व्यक्ति सही की ओर रास्ता दिखा रहा है वह ज्यादा ठीक है?

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

अभी तक की सोच का विकल्प

मानव जाति के इतिहास में अभी तक जो भी प्रयास हुए, वे उसको समझदारी के घाट पर पहुँचाने में असमर्थ रहे। पहले

आदर्शवाद ने "आस्था" या "मान्यता" के आधार पर भक्ति विरक्ति का रास्ता दिखलाया। उसके बाद भौतिकवाद आया, जिसने तर्क का रास्ता खोल दिया। तर्क संगत विधि से आस्था टिक नहीं पायी तो सुविधा संग्रह के चक्कर में हम आ गए। अभी ज्ञानी अज्ञानी विज्ञानी तीनों सुविधा संग्रह के दरवाजे पर भिखारी बने खड़े हैं। कोई आदमी इससे नहीं बचा। धरती पर मानव के अपने को समझदार मानने के बाद मानव का गति आज तक इतना ही हुआ है।

अभी तक जो कुछ भी रास्ते हैं, सुविधा संग्रह के दरवाजे की ओर ही ले जाते हैं। आप चाहे कुछ भी कर लो सह अस्तित्ववादी ज्ञान इस दरवाजे के बाहर है। सह अस्तित्ववादी विधि से जीने का तरीका है समाधान समृद्धिपूर्वक परिवार में जीना। फ़िर समाधान समृद्धि अभय पूर्वक समाज में जीना। फ़िर समाधान समृद्धि अभय सह अस्तित्व पूर्वक सार्वभौम व्यवस्था में जीना।

अब आप हम को तय करना है, समाधान समृद्धिपूर्वक परिवार में जीना है या सुविधा संग्रह के दरवाजे पर भिखारी बने खड़े ही रहना है?

हर व्यक्ति को अपने अपने में इसके लिए निर्णय लेने की आवश्यकता है। एक व्यक्ति के निर्णय लेने भर से काम नहीं चलेगा।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

1.2 विकल्प का स्वरूप

शिक्षा में विकल्प

जय हो! मंगल हो! कल्याण हो!

मैं स्वयं को अपने बंधुओं के बीच पा कर प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। आप हम जो यहाँ मिले हैं यह एक संयोग और

सद्‌बुद्धि की बात है। सद्‌बुद्धि के पक्ष में आगे बढ़ने का यहाँ प्रस्ताव है। सद्‌बुद्धि चाहने वाले यहाँ सब बैठे हैं ऐसा मेरा स्वीकृति है। कल आपके साथ बात हुई थी विकल्प कैसे आया, क्यों आया, और यह किस बात का विकल्प है? उसमें बताया था यह आदर्शवाद और भौतिकवाद का विकल्प है, और समाधि संयम विधि से निष्पन्न हुआ है। अब आगे इसका शिक्षा में क्या स्वरूप होगा,उसको मुझे प्रस्तुत करने को कहा गया है। उसको मैं स्वीकारा हूँ उचित समझा हूँ। आप लोग भी उसको उचित समझते हैं ऐसा मेरा विश्वास है।

वेद विचार में 30 वर्ष तक जो मैं पला बढ़ा, उसमें सुनने सुनाने को श्रुति नाम दिया। मैं भी उसको मान कर वैदिक ऋचाओं को उच्चारण करते रहा। मुझको जो लोग सुनते रहे वे मेरी प्रशंसा करते रहे, उससे मुझे अभिमान होता रहा। जब वेद विचार के अर्थ में गए तो मैंने उसे निरर्थक पाया। पहले ब्रह्म को ही सत्य और अनंत बताया। दूसरे ब्रह्म से ही जीव जगत पैदा हुआ, यह बताया। तीसरे लाइन में लिखा ब्रह्म सत्य जगत मिथ्या है। सत्य से मिथ्या कैसे पैदा हो गया? इस प्रश्न से मुझको पीड़ा हुई। जिसके निराकरण के लिए मैंने स्वयं स्फूर्त विधि से अनुसंधान किया। उसके फल में जो पाया वह मुझे सम्पूर्ण मानव जाति की सम्पदा लगा इसलिए उसे मानव जाति को समझने के लिए मैंने प्रयास शुरू किया। यहाँ उपदेश विधि को छोड़ करके शिक्षा विधि से इसको प्रस्तुत किया। शिक्षा में उसके स्वरूप को बताने के लिए मैं यहाँ प्रस्तुत हूँ। शिष्टता से संपन्न होने के लिए शिक्षा है। उसके लिए प्रक्रिया है अध्ययन। अनुभव के प्रकाश में स्मरण पूर्वक किया गया क्रियाकलाप अध्ययन है।

अध्यापन करने वाले के पास अनुभव का प्रकाश (रौशनी, समझ) रहता है। अनुभव का प्रकाश लौहे के पास रहेगा, जानवर के पास रहेगा, या मानव के पास रहेगा? मैंने यह निर्णय लिया अनुभव का प्रकाश मानव के पास ही रहेगा। अनुभव का प्रकाश न लोहे के पास रहेगा, न जानवर के पास रहेगा। इसको आप सभी शोध करने

योग्य है। सभी को शोध करना चाहिए। निर्णय लेना चाहिए। मनुष्य ही मनुष्य को समझायेगा। न जानवर समझायेगा, न लोहा समझायेगा, न पत्थर समझायेगा, न मणि समझायेगा। इसमें यदि आप सहमत नहीं होते हैं, तो आप मुझसे प्रश्न कर सकते हैं, पूछने समझने और समझाने के लिए पाँच ही सूत्र हैं। पहला है – सह अस्तित्व को समझना और समझाने योग्य होना। सह अस्तित्व में अनुभव करने पर सह अस्तित्व समझ में आता है। उससे पहले सह अस्तित्व को समझ नहीं पायेगें। मानव परंपरा अनुभवमूलक विधि से जिन्दा रह सकता है। मानव का सारी मानव जाति के साथ सह अस्तित्व, सारी जीव जाति के साथ सह अस्तित्व, सारी वनस्पति जाति के साथ सह अस्तित्व, सारी पदार्थ जाति के साथ सह अस्तित्व पूर्वक जीने की बात होती है।

इस धरती पर ही आप हम बैठे है, हवा को लेते ही हैं, पानी को पीते ही है, वनस्पतियों और जीवों का उपयोग करते ही हैं। अब मानव का मानव को समझदारी के अर्थ में प्रबोधित करने की बात है। इसको समाधान पूर्वक और समृद्धि पूर्वक जी सकने की बात कही है। इसको मैं स्वयं जी कर प्रमाणित हूँ। मैं किसी को घायल नहीं करता हूँ। किन्तु घायल करने वाले मानव धरती पर हैं। जैसे यह प्रकाश जो इस बल्ब से है, जो बिजली है, वह धरती को घायल किये बिना आया नहीं है। धरती सूर्य के ताप को अपने में पचाने के लिए पहले कोयला बनाया, उसके बाद धरती अपने को अभी के संसार के जीने योग्य हवा आदि नैसर्गिकता को बनाया। उसके बाद ही जीव संसार प्रगट हुआ, मनुष्य संसार प्रगट हुआ। मानव अरण्य युग से जंगल को बर्बाद करने में लगा ही है। अत्याधुनिक विज्ञान के साथ मानव खनिज संसार पर टूट पड़ा, खनिज तेल, खनिज कोयला और विकिरणीय धातुओं के अपहरण करने से ही यह धरती बीमार हुई। इनके ईंधन अवशेष से ही धरती तापग्रस्त हो गयी है।

अब धरती और कितने दिन बची रहेगी उसे लिए विज्ञानी लोग अपनी अपनी भविष्यवाणियाँ कर रहे हैं। ये सब सुनने बोलने के लिए हमारा कोई विरोध नहीं है। हमारा अनुरोध इतना ही है हमारे बोलने सुनने से प्रयोजन सिद्ध होना चाहिए। प्रयोजन है मानव का व्यवस्था में जीना। व्यवस्था में जीने का मतलब है मानव का अपराध मुक्त होना, भ्रम मुक्त होना। सकारात्मक भाषा में नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक जीना। दूसरे तरह से कहें समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व पूर्वक जीना। मानव का मानवत्व पूर्वक जीना, अर्थात् मानव चेतना में जीना, अर्थात् मानव चेतना, देव चेतना, दिव्य चेतना पूर्वक जीना। शिक्षा में ये सभी सार्थकता का अध्ययन है। इसी के आधार पर आप इसका श्रवण करेंगे। इसकी औचित्यता का निर्णय करेंगे, उसमें कोई शंका हो तो हमसे पूछेंगे उसका समाधान हमारे पास है।

अभयता

अभयता का मतलब है विश्वास। मानव ही मानव के लिए भय का स्वरूप है, तथा मानव ही मानव के लिए विश्वास का स्वरूप है। परस्परता में विश्वास सबको स्वीकार होता है ऐसा मेरा स्वीकृति है। मैंने डाकुओं, अपराधियों, व्यभिचारियों से भी इस बारे में बात किया वे भी विश्वास के प्रति ही सहमत होते है। साधु, संत, यति, सति, योग्य, बुद्धिमान लोग तो विश्वास के प्रति पहले से ही सहमत है। मानव जाति के साथ संपर्क से मैंने ऐसा पाया। अत्याधुनिक विचार हो या अर्वाचीन विचार हो उसमें नाश करने की प्रवृति बनी हुई है। पहले ऐसे सोचा गया था यदि आपके पास पत्थर हो तो दूसरा आप पर अपनी चलाएगा नहीं। पत्थर चल गया तो फिर सोचा गया आपके पास डंडा हो तो दूसरा आप पर अपनी चलाएगा नहीं। दूसरे ने डंडा चला दिया, तो फिर बन्दूक आ गया। फिर तोप आया, मिसाइल आया, ये सब कहाँ अंत होगा? समाधान पूर्वक जीने से ही नाश की प्रवृति का अंत होता है। हमारे जैसे समाधान सबको हो

सकता है। इसीलिये शिक्षा से समाधान की बात किया। हमारे अनुसार हर बच्चा जन्म से ही न्याय का याचक, सही कार्य व्यवहार करने का इच्छुक, और सत्य वक्ता होता है। जबकि अत्याधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार बच्चे जन्म से ही कामुक होते है। हम आदमी है, जानवर है, या भूत प्रेत हैं? हम क्या सीख रहे हैं, क्या कर रहे हैं, क्या बोल रहे हैं? यह एक दूसरे के लिए भ्रम फैलाने की बात है या नहीं? यह एक सोचने का मुद्दा है। शिष्टता पूर्वक जीने के लिए शिक्षा है। समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व पूर्वक जीना ही शिष्टता है। समाधान समझदारी से आता है। समझदारी सह अस्तित्व, सह अस्तित्व में विकास क्रम, विकास, जागृति क्रम और जागृति को समझने से होती है। इन पाँच सूत्रों को समझाने के लिए चार दर्शन, तीन वाद, तीन शास्त्रों और संविधान को लिखा। यह कुल 3600 पृष्ठ है। इससे ज्यादा मुझे कुछ लिखना नहीं है। यही शिक्षा अध्ययन की वस्तु है। लोकव्यापीकरण होने पर जीने की जगह इन पाँच सूत्रों में ही है। उसका व्यवहार रूप बहुत विस्तार में है। अभी हम बहुत ज्यादा भाषा का प्रयोग करते है। थोड़ी भाषा में ज्यादा समझाने बन जाएगा। ये भविष्य के लिए आशा है। पूरा इसको लिखने के बाद मैंने यह निर्णय किया जो इसको समझना चाहते है, उनके पास इसको जाना चाहिए।

उससे समझने वालों को खोजना शुरू किया। धीरे धीरे लोगों की इसमें स्वीकृति और प्रयासों से शिक्षा के इस स्वरूप पर हमारा विश्वास हुआ। अखंड समाज होने के लिए इस शिक्षा का सारे विश्व में लोकव्यापीकरण होना होगा। एक गाँव में हर परिवार यदि समाधान समृद्धि पूर्वक जीता है तो यह व्यवस्था का एक प्रारूप बनता है। हर गाँव में ऐसे सबको बनाने का दायित्व अध्यापकों का है। हर गाँव में अध्यापक होंगे ही। हर गाँव में जरूरत है या नहीं? गाँव में सभी समझदार होने पर ग्राम स्वराज्य व्यवस्था की शुरूआत होती है। हर परिवार इस तरह सभ्यता और संस्कृति का धारक वाहक होता है,

और परिवार और परिवार सभा में इस तरह पूरकता का अंतर संबंध है। हर नर नारी यदि समझदार होते है, तो परिवार में ही न्याय होता है।

परिवार सभा में श्रम विनियम के सामान्यीकरण की व्यवस्था होती है। अकेले परिवार में ही आधा मानव लक्ष्य (समाधान और समृद्धि) प्रमाणित हो जाता है। इसको आप वर सकते है, प्रयोग कर सकते हैं, प्रमाणित कर सकते है। तुरंत प्रमाणित करने का क्षेत्र परिवार ही है। धीरे धीरे प्रमाणित करने वाली जगह अखंड समाज है। अखंड समाज होता है तो सार्वभौम व्यवस्था होती ही है। सर्व देश में यदि समझदारी आती है तो सार्वभौम व्यवस्था होती है। सार्वभौम व्यवस्था होना ही अंतिम मंजिल है। इस ढ़ंग से हम एक अच्छी बात के लिए निष्णात हो सकते हैं। अच्छी बात के लिए जोर लगा सकते है,अच्छी बात के लिए समर्पित हो सकते हैं, हम स्वयं को प्रमाणित कर सकते है। मंगल हो!

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन, बांदा, उत्तर प्रदेश, 2010)

सार्वभौम व्यवस्था

सार्वभौम व्यवस्था का अध्ययन करने से समझदारी होगी। सार्वभौम व्यवस्था में जीने से (भागीदारी करने से) सर्व शुभ होगा। व्यवस्था सार्वभौम ही होती है। व्यवस्था एक परिवार तक ही सीमित नहीं है। परिवार में समाधान समृद्धि पूर्वक जीने के स्वरूप में व्यवस्था होती है। सार्वभौम व्यवस्था में चारों अवस्थाओं के साथ सामरस्यता होती है। चारों अवस्थाओं के साथ हम जीते ही हैं। धरती के साथ जीते ही हैं। वनस्पतियों के साथ जीते ही हैं। जीवों के साथ जीते ही हैं। मानव के साथ जीते ही हैं।

एक आदमी भी इससे छूटा नहीं है। धरती के बिना आदमी का जीना बनता नहीं है। वनस्पतियों के बिना आदमी का जीना

बनता नहीं है। जीवों के बिना आदमी का जीना बनता नहीं है। मानव के बिना मानव का जीना बनता नहीं है। इस बात पर यदि ध्यान दे पाते है, तो यह बात आती है इनके साथ कैसे जिया जाए? सह अस्तित्व विधि से इनके साथ सामरस्यता पूर्वक जीने का सूत्र मिलता है। धरती को स्वस्थ बनाए रखते हुए धरती के साथ जीना। हवा के साथ हवा की पवित्रता को बनाए रखते हुए जीना। पानी के साथ पानी के पवित्रता को बनाए रखते हुए जीना। वनस्पतियों के साथ वस्पतियों की परंपरा बनाए रखते हुए जीना। जीवों के साथ जीवों की परंपरा बनाए रखते हुए जीना। मानव के साथ न्याय पूर्वक नियंत्रित रहते हुए जीना बनता है। मनुष्येतर प्रकृति के साथ नियम पूर्वक नियंत्रित करते हुए जीना बनता है। इसको अच्छी तरह से हृदयंगम करने की जरूरत है, अध्ययन करने की जरूरत है। उसके योग्य अर्हता प्राप्त करने की जरूरत है।

पुनर्विचार की आवश्यकता

मानव जब धरती पर प्रगट हुआ तो पहले जीवों के सदृश जीना शुरू किया। फिर संवेदनाओं को राजी करने के अर्थ में जीवों से अच्छा जीने का प्रयास किया। जैसे, अच्छे से अच्छा कपड़ा पहनना शुरू कर दिया। कोई जीव कपड़ा बनाने, पहनने का उपक्रम नहीं करता। मकान बना दिया। मानव ही मकान बनाता है, कोई जीव मकान बनाता नहीं है। सड़क बना दिया। मानव ही सड़क बनाता है, जीव सड़क बनाता नहीं है। इस तरह अभी तक मानव ने जीवों से अच्छा जीने का प्रमाण प्रस्तुत किया है। इस तरह अच्छा जीने के क्रम में मानव ने जो कुछ भी किया उससे धरती बीमार हो गयी, प्रदूषण छा गया, अपराध प्रवृत्ति बढ़ गयी, और अपने पराये की दीवारें बढ़ गयी। धरती ही बीमार हो गयी तो रहेंगे कहाँ पर? आगे की पीढ़ी रहेगी कैसे? यह पुनर्विचार की आवश्यकता है। पुनर्विचार के लिए विकल्प को प्रस्तुत किया है। यह विकल्प सह अस्तित्व में जीने का प्रस्ताव है। हम मोटाते रहे बाकी सब भले ही मरें ऐसी सोच

से सह अस्तित्व में जीना होता ही नहीं है।

प्रचलित शिक्षा का विकल्प

अभी की प्रचलित शिक्षा कामोन्मादी, भोगोन्मादी और लाभोन्मादी है। जबकि हर अभिभावक चाहे डाकू हों, दरिद्र हों, समर्थ हों, असमर्थ हों चाहते हैं उनके बच्चे नैतिकता पूर्ण बने, चरित्रवान बने। आप स्वयं सोचिये इन तीनों उन्मादों को पाते हुए क्या बच्चे नैतिक बन सकते हैं, चरित्रवान बन सकते हैं। इस ढंग से हम अभी तक क्या किये, किस बात के लिए भागीदारी किये इसका मूल्यांकन होने लगता है। इस मूल्यांकन के होने के बाद हम विकल्पात्मक स्वरूप में जीने के लिए तैयार होते हैं. विकल्पात्मक स्वरूप है सह अस्तित्व में जीना। विकल्पात्मक शिक्षा के स्वरूप के बारे में हम आगे चर्चा करेंगे।

सह अस्तित्व में स्वयं जीने के स्वरूप को लेकर विकल्पात्मक शिक्षा की शुरूआत करते हैं। सह अस्तित्व में स्वयं जीने के लिए जब पारंगत हो जाते हैं, तो उसके सत्यापन को हम इस विकल्पात्मक शिक्षा की पूर्णता मानते हैं। इसके उपरान्त समाधान समृद्धि पूर्वक जीने, अन्य लोगों की सहायता करने और उपकार करने की शुरुआत होती है। आगे पीढ़ी में पिछली पीढ़ी से और अच्छा करने तथा अच्छा प्रस्तुत होने की कल्पना रहता ही है। अभी की अपराध परंपरा में भी इस को देखा जा सकता है। मानव ने अपराध की शुरूआत जंगल को विनाश करने और हिंसक पशुओं का वध करने के रूप में की। उनकी संतान और ज्यादा विनाश करने और ज्यादा वध करने की ओर गयी। यह चलते चलते लाभोन्माद, भोगोन्माद, कामोन्माद तक पहुँच गया। अभी प्रचलित व्यापार शिक्षा में लाभोन्माद, भोगोन्माद, कामोन्माद ही मिलता है। इसके अलावा दूसरा कुछ उसमें पा ही नहीं सकते। इसके अलावा उस शिक्षा में कोई ध्वनि ही नहीं है, सूत्र ही नहीं है, न व्याख्या है। यहाँ बैठे कुछ लोग नौकरी करते हुए भी हैं,

व्यापार करते हुए भी है। वे सभी सोच सकते हैं, ऐसा ही है या नहीं? यदि मैं जो कह रहा हूँ वास्तविकता उससे भिन्न कुछ है तो उसको आप मुझे सुझाव के रूप में दे सकते हैं, आग्रह के रूप में दे सकते हैं।

अभी मानव बहुरुपिए जैसा जीता है। समझदारी पूर्वक मानव एक निश्चित आचरण (मानवीयता पूर्ण आचरण) के साथ जीता है। क्या इस बात से किसी का विरोध है, असहमति है? यह जीव चेतना और मानव चेतना का विश्लेषण है। इस विश्लेषण के आधार पर मनुष्य पुनर्विचार करने का अधिकार प्राप्त करता है। पुनर्विचार कि अपराध मुक्ति कैसे हो?, गलतियों से मुक्ति कैसे हो?, भ्रम से मुक्ति कैसे हो? दरिद्रता से मुक्ति कैसे हो? पुनर्विचार के लिए सुझाव है सह अस्तित्ववादी विधि से इन सभी मुद्दों का समाधान प्राप्त कर सकते हैं। जिससे अपराध मुक्त हो सकते हैं, गलतियों से मुक्त हो सकते हैं, भ्रम से मुक्त हो सकते हैं, दरिद्रता से मुक्त हो सकते हैं।

मानव जाति की छाती के पीपल

आदि काल से अभी तक हर समुदाय में नर नारियों में असमानता ऊपर नीचे की बात, श्रेष्ठ और नेष्ठ की बात, ज्यादा और कम की बात बना ही रहा है। यह किसी एक समुदाय विशेष की बात नहीं है। हर समुदाय में ऐसा ही रहा है। ''नर नारियों में असमानता'' और 'गरीबी अमीरी में असंतुलन' आदि काल से मानव जाति की ''छाती के पीपल'' बने हुए है। नारी को असमान बनाए रखने के लिए और गरीब को गरीब ही बनाए रखने की विधियों को लेकर के आदमी अभी तक चला है। हर मानव में ये दो जंजाल बने हुए हैं। यह है भ्रम का विस्तार! यह सोचने का मुद्दा है। विकल्पात्मक विधि से इस पर सोचने से निकला समाधान को यदि हम अध्ययन पूर्वक पाते हैं तो नर नारियों में समानता आती है। नर और नारी में समानता रूप विधि से आ नहीं सकती, बल विधि से आ नहीं सकती, धन विधि से

आ नहीं सकती, पद विधि से आ नहीं सकती। बुद्धि विधि से अर्थात् समझदार होने पर ही नर नारी में समानता का स्वरूप निकलता है। यदि हर परिवार में समाधान समृद्धि पूर्वक जीना बन जाता है तो गरीबी अमीरी में संतुलन होता है। हर परिवार जिसे चाहे हम आज ''गरीब'' कहते हों, ''अमीर'' कहते हों, या ''सामान्य'' कहते हो यदि 'समझदारी से समाधान' और 'श्रम से समृद्धि' को प्रमाणित करते हैं तो गरीबी अमीरी में संतुलन सिद्ध होता है। परिवार में संबंधों को व्यवस्था के अर्थ में पहचानना और व्यवस्था के अर्थ में जीने पर समाधान समृद्धि का अनुभव होता है। उसके पहले प्रमाण होने वाला नहीं है। इसकी आवश्यकता है या नहीं यह भी सोचा जाए। इस धरती पर जितने भी देश हैं, जिसकी सीमाओं पर सेनाएं तैनात हैं उन सभी के अपने अपने संविधान हैं। वे सभी एक एक परम्पराएं हैं। इस तरह मानव कितनी विधियों से जियेगा? इस तरह मानव बिखर गया है। बिखर करके कहीं भी टिक नहीं पा रहा है। सर्व देश में एक ही तरीके से उपयोगी हों, ऐसे मानव बन नहीं पा रहे है। हम सभी देशों में उपयोगी हों, ऐसे मानव बन नहीं पा रहे है। हम सभी देशों में अपने उपयोगिता को पाने के बारे में चाहते अवश्य हैं, पर उस तरह से हम सोच नहीं पाते हैं, प्रमाणित नहीं हो पाते हैं। व्यापार विधि से मानव सर्व देश तक पहुँचा है। व्यापार का मतलब है दूसरे को बुद्धू बना कर, ज्यादा लेना और कम देना। व्यापार को सर्व देशीय बनाने की कोशिश हुई है। उस तरह जिसके पास ज्यादा धन है वह ज्यादा शोषण करता है, जिसके पास कम धन है वह कम शोषण करता है। शोषण दोनों ही करते हैं।

व्यापार ''कृत्रिम अभाव'' के आधार पर होता है। इसमें हर उत्पादक द्वारा किये गए सारे उत्पादन को एक जगह इकट्ठा करके मनचाहे लाभ के अनुसार बेचने की बात रहती है। अभी हमारे देश में जो उत्पादक हैं, कृषक हैं वे अपने घर की दीवारों पर सफेदी करवा नहीं पाते हैं और जो व्यापारी हैं वे चमकते घरों में रहते हैं। क्यों होता

है ऐसा करिश्मा? यह सोचने का मुद्दा है या नहीं? गरीबी और अमीरी में संतुलन आये बिना इस स्थिति का समाधान होगा ही नहीं। गरीबी और अमीरी में संतुलन कैसे होगा? गरीबी और अमीरी का संतुलन समाधान समृद्धि पूर्वक जीने की विधि से ही होगा। गरीब के पास भी समाधान का अभाव है। अमीर के पास भी समाधान का अभाव है। समाधान के बिना समृद्धि का अनुभव होता ही नहीं। समाधान के बाद ही समृद्धि का अनुभव होता है। हर व्यक्ति यदि समझदारी से समाधान प्राप्त करता है तो वह श्रम से समृद्धि को प्राप्त कर ही सकता है। हर व्यक्ति में समाधान का एक ही स्वरूप होता है। हर परिवार में समृद्धि का अपना अपना स्वरूप होता है। किसी का दो रोटी से पेट भरता है, किसी का चार से पेट भरता है। उसके लिए कोई एक वस्तु का एक मात्रा में उत्पादन करता है, दूसरा किसी दूसरी वस्तु का दूसरी मात्रा में उत्पादन करता है। दोनों समृद्धि का अनुभव कर सकते हैं। समााधान पूर्वक सभी समृद्धि का अनुभव कर सकते हैं। यदि दस व्यक्तियों के एक परिवार में समाधान समृद्धि पूर्वक जीने का अभ्यास होता है उससे फिर एक से अनेक परिवार का ऐसे ही जीना बनता है। हम यदि न्याय पूर्वक जियें, समाधान पूर्वक जियें, सुख पूर्वक जियें, समृद्धि पूर्वक जियें तो हर व्यक्ति ऐसा चाहता है या नहीं, इसका परीक्षण किया जा सकता है।

सह अस्तित्व विधि से हम अध्ययन कर पाते हैं तो समाधान समृद्धि हाथ लगता है। प्रचलित विज्ञान की विधि से हम अध्ययन करते हैं तो अस्थिरता अनिश्चयता ही हाथ लगता है, जिससे अपराध करने के अलावा दूसरा कोई प्रवृत्ति बनता ही नहीं है। भक्ति विरक्ति विधि से हम चलते हैं तो भौतिकता को नकारते रहते हैं, जबकि जीने में भौतिकता को ही स्वीकारे रहते हैं। इस तरह भक्ति विरक्ति विधि से हमारे शिक्षा में, जीने में, और व्यवहार में कहाँ संतुलन होता है? इस तरह संतुलन न भक्ति विरक्ति विधि से हुआ, न अत्याधुनिक विज्ञान विधि से हुआ। अत्याधुनिक विज्ञान यंत्र को सर्वोपरि प्रमाण मानने

तक पहुँचा है मानव को प्रमाण नहीं माना। भक्ति विरक्ति शास्त्र को सर्वोपरि प्रमाण मानने तक पहुँचा है मानव को प्रमाण नहीं माना। यही मुख्य बात है। सह अस्तित्ववादी विधि से शिक्षा व्यवस्था में जीने के अर्थ में है। स्थिरता और निश्चयता के आधार पर है। हम स्थिरता निश्चयता चाहते हैं या अस्थिरता अनिश्चयता? इसका भी अपने में परिशीलन करिये। हम यदि स्थिरता निश्चयता चाहते हैं तो क्या उसे हम पाए हैं या नहीं इसका भी अपने में परिशीलन करिये। यदि स्थिरता निश्चयता को पा गए हैं तो उसमें प्रमाणित हैं या नहीं इसको सोचिये। इस तरह हम सोचते हैं तो अभी तक की शिक्षा की समीक्षा होती है, उसका मूल्यांकन होता है और हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अभी तक की शिक्षा निरर्थक है, अपराधिक है, अनिश्चित है, अस्थिर है। इसमें कोई शंका हो, कोई जिज्ञासा हो, कोई प्रश्न हो तो उसको आप सभी मुझसे पूछ सकते हैं।

आपका कोई प्रश्न नहीं है उसका मतलब मैं यह नहीं मानता कि आपको यह बात ''स्वीकार'' हो गयी है। आप इस बात में पारंगत हो गए ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। ''स्वीकार'' होने पर प्रमाण ही होता है। आप इस बात से ''सहमत'' हुए हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

सही बात को ''सही'' मानना और गलत बात को ''गलत'' मानना शिक्षा के लिए एक आधारभूत बात है। इसी विश्वास के साथ ''मानवीय आचरण रुपी शिक्षा'' दी जाती है ताकि समझने वाला ''सही'' को जान सके और समाधानित हो सके। शिष्टता पूर्वक जीने के लिए शिक्षा है। समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व पूर्वक जीने के लिए शिक्षा है। नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक जीने के लिए शिक्षा है।

सह अस्तित्ववादी शिक्षा की पहली उपलब्धि है समाधान पूर्वक जीना। दूसरी उपलब्धि है समाधान समृद्धि पूर्वक जीना। तीसरी उपलब्धि है समाधान समृद्धि अभय पूर्वक जीना। जब सार्वभौम

रूप में, अर्थात् सभी देशों में सभी परिवार समाधान समृद्धि पूर्वक जीते हैं तो अखंड समाज का स्वरूप निकलता है। अखंड समाज ही मानवीय सभ्यता और संस्कृति का धारक वाहक होता है। इसी के साथ मानव का मानव से भय समाप्त होता है। मानव का मानव से भय के समाप्त होने पर सभी देशों की सीमाओं पर लगी सुरक्षा सेनाओं की आवश्यकता निरस्त होती है। इसको हम अच्छी तरह से समझ सकते हैं। इस धरती पर ही नहीं, किसी भी धरती पर यदि मानव हों तो वे सह अस्तित्व विधि से ही अखंड समाज को पायेंगे। सह अस्तित्व विधि से ही परिवार में समाधान समृद्धि को पायेंगे। सह अस्तित्व विधि से ही मानव का वैभव समाधान स्वरूप में स्पष्ट होता है। समाधान समृद्धि ही परिवार का वैभव है। समाधान समृद्धि अभयता पूर्वक ही समाज का वैभव है। समाधान समृद्धि अभय सह अस्तित्व पूर्वक सार्वभौम व्यवस्था का वैभव है।

समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व मूल सूत्र हैं। इन मूल सूत्रों को व्याख्या देने के लिए सह अस्तित्ववादी शिक्षा को प्रस्तुत किये हैं। सह अस्तित्ववादी शिक्षा पूर्वक शिष्टता पूर्वक जीने का स्वरूप निकलता है। जिससे मनमानी समाप्त होती है और मानव जाति के एक सूत्र में जीने की बात आती है। सह अस्तित्व स्वरूप में पारंगत होना, जागृत होना, जीना और प्रमाणित होना ही मानव परंपरा में शिष्टता का स्वरूप है। इसकी जरूरत है या नहीं है इसका परिशीलन किया जाए।

इस जरूरत को पूरा करने के लिए कहाँ से शुरू करें? मानव के जीने के रूप में शुरू करें या शिक्षा के रूप में शुरू करें? इसमें मैंने जो समझा है वह है शिक्षा पूर्वक एक व्यक्ति जैसे अनेक व्यक्ति तैयार हो जाते हैं। इसलिए शिक्षा से शुरू किया जाए। मैं स्वयं पूरा समझने के बाद समाधान समृद्धि पूर्वक जिया। मेरे ऐसा जीने से अनेक लोग इस बात को समझने और जीने के लिए तैयार हो गए। मेरे समझाने की विधि में ''दक्षिणा विधि'' नहीं है। हमारे साथ ज्ञान

व्यापार और धर्म व्यापार नहीं है। पहले ऐसा था समझाने वाले ज्यादा थे और सुनने समझने वाले कम थे। अब ऐसा है समझाने वाले कम हैं, सुनने समझने वाले ज्यादा हो गए हैं। समझाने वालों की संख्या भी अब बढ़ती जा रही है। एक से चार पाँच, फिर चार पाँच से अब सौ लोग समझाने वाले हो गए हैं। अपनी अपनी जगह पर समझ कर जी रहे हैं, समझा रहे हैं। इसके आधार पर हम सोचते हैं, थोड़े ही दिन में हम मानवीय शिक्षा को मानव के मानस पटल पर बैठा देंगे। मानस पटल में बैठने के बाद वह अपने आप से एक से दूसरे में अंतरित होता जाता है। यदि एक परिवार समाधान समृद्ध होते हैं, तो उनका अपनी संतान को समाधान समृद्ध बनाने में क्या तकलीफ होता होगा?

दस व्यक्तियों के समझदार परिवार में समाधान समृद्धि का वैभव होता है। ऐसे दस समझदार परिवार एक एक व्यक्ति को अपने में से निर्वाचित करते हैं, जो परिवार समूह सभा को गठित करता है। ऐसे दसों व्यक्तियों का अधिकार समान होगा, उसका कोई एक मुखिया होगा ऐसा नहीं है। इन दसों परिवारों के जीने के पाँचों आयामों शिक्षा संस्कार कार्य, न्याय सुरक्षा कार्य, स्वास्थ्य संयम कार्य, उत्पादन कार्य, विनिमय कोष कार्य में जब भी कोई काम आया उसको पूरा करना, इनका काम रहेगा। जैसे सभी दस परिवार शिक्षा संस्कार में पारंगत हैं या नहीं? उसमें जो कमी है उसको पूरा करना। सभी दस परिवार न्याय पूर्वक जी पा रहे हैं या नहीं?, यदि नहीं जी पा रहे हैं तो उसको पूरा करना। सभी दस परिवार उत्पादन कार्य में प्रवीण हैं या नहीं?, आवश्यक उत्पादन कर पा रहे हैं या नहीं? इसका परिशीलन करना और उसकी कमियों को पूरा करना। सभी स्वास्थ्य को लेकर स्वायत्त हैं या नहीं? इसका परिशीलन करना और उसकी कमियों को पूरा करना। व्यवस्था के अर्थ में ही कमियों का आंकलन होता है और उसको पूरा करने के लिए प्रयास होता है।

इस तरह एक परिवार से एक परिवार समूह तक पहुँचते हैं। ऐसे दस परिवार समूह मिल कर एक ग्राम परिवार सभा को तैयार करते हैं। ग्राम परिवार सभा में भी यही पाँचों आयाम शिक्षा संस्कार, न्याय सुरक्षा, स्वास्थ्य संयम, उत्पादन और विनिमय काम करते हैं। इन सौ परिवारों के बीच ही विनिमय कोष कार्य पूरा होता है, संतुलित होता है।

इसके आगे ग्राम समूह परिवार सभा में दस ग्राम परिवार सभाओं से एक एक व्यक्ति निर्वाचित हो कर पहुँचते हैं। इस प्रकार उत्पादन के दस गाँवों तक पहुँचने की व्यवस्था बनती है। इस तरह हजार परिवारों के बीच संतुलन की व्यवस्था बनती है।

इसके आगे दस ग्राम समूह सभाओं से एक एक व्यक्ति निर्वाचित होकर मंडल परिवार सभा तक पहुँचते हैं। इस तरह दस हजार परिवारों के बीच पाँचों आयामों में संतुलन की व्यवस्था बनती है।

इसके आगे दस मंडल सभाओं से एक एक व्यक्ति निर्वाचित हो कर मंडल समूह परिवार सभा तक पहुँचते हैं। दस मंडल समूह परिवार सभा से एक एक व्यक्ति निर्वाचित होकर मुख्य राज्य परिवार सभा बनता है। इसी विधि से आगे प्रधान राज्य परिवार सभा और विश्व परिवार सभा के होने का प्रावधान है। इस तरह ''दश सोपानीय परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था'' का स्वरूप निकलता है जिससे विश्व स्तर तक शिक्षा संस्कार, न्याय सुरक्षा, स्वास्थ्य संयम, उत्पादन और विनिमय कोष कार्यों को व्यवस्था के अर्थ में संपादित किया जाता है, उनमें कमियों को पूरा किया जाता है। व्यवस्था का काम यह है, न कि आदमी को फांसी पर लटकाना, बंदूक दिखा कर बस में रखना। शक्ति केंद्रित शासन मानव को स्वीकार नहीं है। व्यवस्था ही मानव को स्वीकार होती है। सार्वभौम व्यवस्था के लिए सह

अस्तित्ववादी ज्ञान, विवेक, विज्ञान में पारंगत होने की आवश्यकता बनती है। पारंगत होने के लिए शिक्षा विधि ही है। उसके लिए हम छत्तीसगढ़ में कुछ प्रयास कर रहे हैं, आगे चल कर सभी जगह पहुँचेंगे।

अनुभव और प्रमाण

प्रमाण के बिना अनुभव का कोई प्रयोजन नहीं है। यदि हम कहते हैं, हमको अनुभव हो गया पर उसका प्रमाण नहीं है तो उसका कोई प्रयोजन नहीं है। अनुभव होता है, तो प्रमाण होता ही है। प्रमाण नहीं होता, तो अनुभव होता ही नहीं। अनुभव होने में ही गलती हो गयी है, तभी प्रमाण नहीं हुआ। अनुभव ही एक ऐसी बात है जिसको झाड़ पर चढ़ कर चिल्ला सकते हैं, उसका कोई भय नहीं होता। अभी तक की सारी परंपराओं के विपरीत में बात कर रहा हूँ फिर भी मैं कहाँ भयभीत हूँ? जो अनुभव होता है, उससे अधिक की संभावनाएं बने रहते हैं क्योंकि मानव में पायी जाने वाली कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता अनुभव से जुड़ती है। अनुभवमूलक विधि से न्याय पूर्वक जीना बनता है। न्याय पूर्वक जीना बनता है तो समाधान (धर्म) पूर्वक जीना बनता है। न्याय और धर्म पूर्वक जीना बनता है तो सत्य पूर्वक जीना बनता है। दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। 700 करोड़ आदमी मिल कर दूसरा कोई रास्ता या विधि को बना ही नहीं पायेंगे।

आशीर्वाद

हमारा आशीर्वाद यही है हर मानव समझदार होंगे। हर समझदार परिवार समाधान समृद्धि पूर्वक जियेंगे। सभी परिवार समाधान समृद्धि पूर्वक जीकर अखंड समाज पूर्वक समाधान समृद्धि अभय को प्रमाणित करेंगे। यही मेरी शुभ आकांक्षा है। इसी आशीर्वाद के साथ हम इस सभा को यहीं स्थगित करते हैं।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन, बांदा, 2010)

अध्ययन और अभ्यास

हम सब जो यहाँ बैठे हैं, सबको "शब्द ज्ञान" तो है। शब्द का कोई अर्थ होता है। उदाहरण के लिए "पानी" एक शब्द है। पानी एक वस्तु है जो आदि काल से अस्तित्व में है, अभी भी है, आगे भी रहेगा। इसी तरह, किसी भी वस्तु का नाम लेते हैं, वह नाम वस्तु नहीं है। जैसे मैं "नागराज" शब्द नहीं हूँ। मैं अपने स्वरूप में अस्तित्व में हूँ। मानव स्वरूप में मेरी स्थिति गति है। नाम वस्तु नहीं है। वस्तु का नाम है।

शब्द के अर्थ को समझना (साक्षात्कार–बोध) अध्ययन है। शब्द को सुना, उसको उच्चारण किया वह कोई अध्ययन नहीं है। शब्द से अर्थ इंगित होता है। अर्थ अस्तित्व में वस्तु है। वस्तु समझ (बोध) में आया मतलब अध्ययन किया। शब्द को उच्चारण भर किया, मतलब पठन किया। अध्ययन है शब्द के अर्थ को अस्तित्व में वस्तु के स्वरूप में पहचानना अर्थात् साक्षात्कार करना, बोध होना।

"सत्य", "धर्म", "न्याय", "नियम", "नियंत्रण", "संतुलन" शब्द हैं इनसे इंगित वास्तविकताओं को हमें पहचानना ही पड़ेगा। हम यदि वस्तु को पहचानते हैं, उसका मूल्यांकन कर पाते हैं तभी उसका सम्मान करना हमसे बन पायेगा। यदि सत्य को हम वास्तविकता के रूप में नहीं पहचानते हैं, उसका मूल्यांकन नहीं कर पाते हैं, तो उसका सम्मान करना हमसे बनेगा नहीं। "सत्य" शब्द का उच्चारण करने से सत्य का सम्मान करना बनेगा नहीं।

'अनुभवगामी पद्धति' ही 'अध्ययन विधि' है। हम जो कुछ भी शब्द बताते हैं, उसका अर्थ बोध होते तक अध्ययन है। "अध्ययन" शब्द का मतलब इतना ही है। आचरण से लेकर दर्शन तक और दर्शन से लेकर आचरण तक अध्ययन कराने की व्यवस्था दी है। भाषा परम्परा की है। परिभाषाएं मैंने दी हैं। परिभाषा के अनुसार अध्ययन कराने से लोगों को बोध होगा। यह मानव जाति का पुण्य

रहा, मानव जाति का अपेक्षा रहा, चिर कालीन तृषा रहा ऐसा मैं मानता हूँ।

अभ्यास का मतलब है : अध्ययन पूर्वक वस्तु को जो पहचान लिया उसका उपयोग करना, संरक्षण करना, उससे तृप्ति पाना। जैसे पानी को हमने पहचान लिया अब उसको उपयोग करना, संरक्षण करना, उससे तृप्ति पाना। उसी तरह अध्ययन पूर्वक सत्य को पहचान लिया, उसके बाद सत्य में जीना अभ्यास है। अध्ययन के बाद ही उपयोगिता, सदुपयोगिता और प्रयोजनशीलता की बात आती है।

अनुभव के पहले, अध्ययन के लिए अभ्यास है अथवा अध्ययन ही अभ्यास है। जीने के लिए अभ्यास है। अभ्यास का अन्तिम छोर है अनुभव में जीना। पहले सर्वशुभ सूचना (भास, आभास) के आधार पर जीना। फ़िर सर्वशुभ सूचना के अनुकूल "अध्ययन" (प्रतीति) में जीना। अध्ययन पूरा होने पर अनुभव में जीना। अनुभव में जीना बराबर अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था सूत्र व्याख्या में जीना। इस तरह जीने का मतलब है समाधान, समृद्धि पूर्वक परिवार में जीना। समाधान, समृद्धि, अभयपूर्वक समाज में जीना। समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व पूर्वक व्यवस्था में जीना। ये चारों भाग चाहिए या नहीं चाहिए , इसका आप निर्णय कीजिये। आगे संतानों को इसकी ज़रूरत है या नहीं, इसको सोचिये।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

प्रश्न मुक्ति अभियान

मैंने समाधि की स्थिति को देखा है। समाधि में कोई अज्ञात ज्ञात नहीं होता। समाधि में आशा, विचार, इच्छाएं चुप हो जाती हैं, यह मैंने देखा है। "समाधि हुआ है" यह कैसे कहा जाए? इसलिए समाधि के बाद संयम किया। जिसके फलस्वरूप मैंने सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व का अध्ययन किया और वह मुझे समझ में आया।

समझने के बाद मुझे पता चला यह मानव जाति के पुण्य से मुझे समझ में आया है, इसको मानव को अर्पित किया जाए। उसी क्रम में मैं आज आप तक पहुँचा हूँ। अपने पुरुषार्थ से मैं जो वस्तु उपार्जित करता हूँ, उससे संतुष्ट हूँ। इस तरह अपने पुरुषार्थ और परमार्थ दोनों से मैं संतुष्ट हूँ।

मुझको अभी तक किसी कुंठा या निराशा ने प्रताड़ना नहीं दिया। मैंने कुंठा को देखा नहीं। निराशा को देखा नहीं। यंत्रणा से मैं कभी पीड़ित नहीं हुआ।

जो मैंने पाया, उसे मानव जाति को पहुँचा कर तो देखें! देखें मानव इसको कैसे स्वीकारता है! यदि मानव इसको स्वीकार लेता है तो उसका धरती पर बने रहना सम्भव है। यदि नहीं स्वीकार होता है, तो इससे कोई अच्छी चीज़ को अनुसंधान करना पड़ेगा। इससे कम अच्छे में तो काम नहीं चलेगा!

इस बात को समझाने में मुझमें यह कमी रही मैं स्कूल कॉलेज में पढ़ा हुआ आदमी नहीं हूँ। स्कूली शिक्षा मेरे पास कुछ भी नहीं है। फ़िर भी मुझमें अनुभव के आधार पर हर समस्या का समाधान है। उसके आधार पर मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत होता हूँ।

संसार के 700 करोड़ आदमियों के पास यदि विधिवत् कोई प्रश्न बनता है तो उसका उत्तर मेरे पास है। "विधिवत्" प्रश्न से आशय है किसी लक्ष्य के लिए पूछा गया प्रश्न। इसको आप "प्रश्न मुक्ति अभियान" कह सकते हैं।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

मनःस्वस्थता और अखंड समाज

अभी तक मानव जीव चेतना में जिया है। जीव चेतना में जीते हुए भी मानव ने जीवों से ज्यादा अच्छा जीने का प्रयास किया।

उसी क्रम में मानव ने आहार, आवास, अलंकार, दूरश्रवण, दूरगमन और दूरदर्शन संबंधी वस्तुओं का इन्तजाम कर लिया। मानव की परिभाषा है : मनाकार को साकार करने वाला और मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने वाला। मनाकार को साकार करने में मानव सफल हो गया। मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने में मानव सफल नहीं हो पाया। मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने के लिए अथक प्रयास ज़रूर किए। योग से, अभ्यास से, समाधि से प्रयत्न कर करके हम थक चुके हैं, क्षत विक्षत हो चुके हैं किंतु मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने में हम सर्वथा असफल रहे। मनःस्वस्थता को हम कैसे उपलब्ध हो सकते हैं, उसका हम यहाँ जिक्र करना चाहते हैं। वह एक सूचना ही होगी। उसके बाद अध्ययन करना, समझना अपने बलबूते पर ही होगा। अध्ययन करने के लिए मध्यस्थ दर्शन का पूरा साहित्य उपलब्ध है।

मानव परम्परा में दो लक्ष्य है मानव लक्ष्य और जीवन लक्ष्य। "मानव लक्ष्य" और "जीवन लक्ष्य" दोनों प्रमाणित होना है। इसमें मैंने जो अध्ययन किया, समझा, जिया और प्रमाणित किया वह है, मानव लक्ष्य प्रमाणित होता है तो जीवन लक्ष्य भी प्रमाणित होता है। दूसरे जीवन लक्ष्य पूरा होता है तो मानव लक्ष्य भी पूरा होता है। जीवन सुख, शान्ति, संतोष और आनंद को अनुभव करना चाहता है। यही जीवन लक्ष्य है। अध्ययन द्वारा सह अस्तित्व को समझने से, जीवन को समझने से, मानवीयतापूर्ण आचरण को समझने से समाधान होता है। समाधान से सुख होता है। समाधान मानव लक्ष्य है। समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व मानव लक्ष्य है। मानव को ज्ञान अवस्था की इकाई के रूप में मैंने पहचाना। ज्ञान को भी मैंने पहचाना। ज्ञान यदि मानव को होता है, तो संज्ञानीयता में संवेदनाएं नियंत्रित होती हैं। मानव अभी तक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन्द्रियों को तृप्ति देने के लिए सकल कुकर्म कर दिया। सभी अपराधों को वैध मान लिया। उसके बाद भी संवेदनाओं में तृप्ति की निरंतरता नहीं मिली। संज्ञानीयता में संवेदनाएं नियंत्रित होती हैं यह

मैंने देखा है, जिया है और उसको प्रमाणित किया है।

हर व्यक्ति मूलतः संयत रहना चाहता है। बच्चे से बूढ़े तक आप अध्ययन करें तो आप पायेंगे हर व्यक्ति में कहीं न कहीं संयमता की अपेक्षा बनी हुई है। भले ही वह घोर अराजकता में क्यों न जीता हो! कुख्यात डाकुओं से लेकर, झूठ खोरों, सभी प्रकार के कुकर्म करने वाले लोगों के साथ संभाषण करके मैं इस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। सज्जनों में तो संयमता की अपेक्षा है ही। अभी तक संयमता की निश्चित विधि, निश्चित प्रक्रिया, निश्चित पहचान, निश्चित मूल्यांकन और उसका सम्मान हम नहीं कर पाये थे। संयमता को पाना जरूरी है। समाज की सम्पूर्ण संरचना संवेदनाएं नियंत्रित रहने या अनियंत्रित रहने पर निर्भर है। यदि हम संयमता को पहचानते हैं, समझते हैं, जीते हैं, उसमें पारंगत होते हैं तब हम "अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था" को सोचने योग्य होते हैं। उससे पहले एक भी आदमी "अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था" को नहीं सोच पायेगा यह आप मुझसे लिखवा लो! यदि इस बात से आप सहमत हैं तो संज्ञानीयता में पारंगत होने की आपकी इच्छा बलवती होती है।

सभी मानवों में "मानवत्व" नाम की एक चीज है जो सोया रहता है, उसको जगाने की ज़रूरत है। जो भूला रहता है, उसको स्मरण दिलाने की ज़रूरत है। जो समझा नहीं रहता है, उसको समझाने की ज़रूरत है। इन तीन काम में लगने की ज़रूरत है। कौन लगेगा इसमें? जो संज्ञानीयता में पारंगत है, जिसकी संवेदनाएं नियंत्रित हो चुकी हैं, अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था की सूत्र व्याख्या को जो पा चुका है वही स्वयं को प्रमाणित करने के क्रम में इस काम में लगेगा। इससे कम दाम में यह होने वाला नहीं है। योग विधि से, अभ्यास विधि से हम बहुत सोचे हैं, कहे हैं उसमें यह आशय तो व्यक्त होता है, किंतु वह प्रमाण में होना, परम्परा में होना और जीना इस जगह में हम आए नहीं! इन जगहों पर आने की आवश्यकता है। क्यों आवश्यकता है? इसका यही उत्तर है धरती

बीमार हो गयी है। मानव की अपराध प्रवृत्ति से ही यह धरती बीमार हुई है। अपराध प्रवृत्ति से मुक्ति के लिए अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था सूत्र व्याख्या के पास आना ही होगा।

"अखंड समाज" का मतलब है मानवत्व का जागृति स्वरूप में प्रमाणित होना। मानव संज्ञानीयता संपन्न होकर नियंत्रित संवेदनशीलता पूर्वक व्यवस्था में जीता है। "संज्ञानीयता" से आशय है सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान से संपन्न होना। ज्ञान से विवेक आता है, जो है : शरीर का नश्वरत्व, जीवन का अमरत्व और व्यवहार के नियम। उसके बाद विज्ञान के पास आते हैं मानव लक्ष्य (समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व) और जीवन लक्ष्य (सुख, शान्ति, संतोष, आनंद) के लिए दिशा निर्धारित करना विज्ञान है कालवादी, क्रियावादी और निर्णयवादी ज्ञान।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

ज्ञान, विवेक, विज्ञान और उपकार

अपने पराये की मानसिकता ही अपराध प्रवृत्ति है। यदि मानव जाति मनःस्वस्थता हासिल करता है, तो अपने पराये की दीवारें उसी समय से समाप्त हो जाती हैं। समुदाय समुदाय के बीच जो कटुता है, युद्ध का जो झंझट है उससे मुक्ति पाना बनता है। मनःस्वस्थता समझदारी से आता है। "हम सह अस्तित्व में जी रहे हैं" यह है समझदारी! सह अस्तित्व है व्यापक वस्तु में जड़ चैतन्य प्रकृति का संपृक्त होना और रहना। यह ज्ञान हर मानव को होना है। यह ज्ञान यदि सुदृढ़ होता है, तो उसके आधार पर हम विवेक और विज्ञान को पहचान सकते हैं।

विवेक में "जीवन का अमरत्व" समझ में आता है। विगत में "ज्ञान" को अव्यक्त और अनिर्वचनीय बता कर समझाना छूट गया था, साथ ही जीवन को समझाना नहीं बन पाया था उसको मैं पा

गया। मैं जीवन को समझाने में समर्थ हूँ, पारंगत हूँ, प्रमाणित हूँ। यह मैं आपके सामने सत्यापित कर रहा हूँ। जीवन का अमरत्व जब समझ में आता है तो मरने कटने का भय समाप्त हो जाता है। मानव के पास भय चार ही प्रकार से है मृत्यु भय (प्राण भय), धन भय, पद भय और मान भय। "मान भय" है हम जिस हैसियत या तबके में रहते हैं, वह छिन न जाए। "धन भय" है हमारा संग्रह, सम्पदा हमसे छिन न जाए। इन चारों प्रकार के भय से हम विवेक पूर्वक मुक्त हो जाते हैं।

ज्ञान और विवेक के बाद विज्ञान संपन्न होने की बारी आती है। विज्ञान संपन्न होने पर समाधान समृद्धिपूर्वक जीने की अर्हता आती है। यदि हम ज्ञान और विवेक सम्मत विज्ञान से संपन्न होते हैं, उसके अनुरूप विचार और योजना के क्रियान्वयन में लगते हैं तब समाधान समृद्धि पूर्वक जीने की योग्यता बन जाती है।

इस तरह ज्ञान पूर्वक अपने पराये से मुक्ति, विवेकपूर्वक भय मुक्ति और विज्ञान पूर्वक समाधान समृद्धि पूर्वक जीने की योग्यता बन जाती है। ये तीनों बात आपके गले से उतरता है तो यह मानव परम्परा के लिए एक बहुत भारी देन है। यदि यह आपके द्वारा ग्रहण नहीं होता है तो मानव परम्परा के लिए कोई देन नहीं है। ग्रहण होता है या नहीं, इस बात को मैंने छोटी छोटी जगह पर आजमाया उसी आधार पर इस सम्मेलन में मुझे यह बात कहने को कहा गया है। मेरे बोलने मात्र से हम सार्थक हो गए, ऐसा नहीं है। आप में जब यह स्वीकृत होता है तभी यह सार्थक है।

इस तरह अपने पराये से मुक्त, भय मुक्त और समाधान समृद्धि पूर्वक जीने पर उपकार प्रवृत्ति का उदय होता है। समाधान समृद्धि से कम में कोई उपकार नहीं करेगा। अभी तक यह मानते रहे, किसी भूखे को खाना दे दिया तो उपकार कर दिया। किसी के पास कपड़ा नहीं है, उसको कपड़ा दे दिया, तो उपकार हो गया।

यह गलत हो गया। यह उपकार नहीं है। यह कर्तव्य है। उसी तरह हमारा अड़ोस पड़ोस, गाँव, धरती के साथ कर्तव्य बना रहता है। कर्तव्य और उपकार में फर्क है। उपकार में दूसरे को अपने जैसा बनाने की बात होती है। जैसे हम समाधानित हैं, समृद्ध हैं वैसा ही दूसरे को बना देने से उपकार होता है। उसके पहले कोई उपकार नहीं होता यह मेरी घोषणा है। यह मेरा अनुभव है। उपकार करने के क्रम में ही मैं यहाँ आपके सम्मुख प्रस्तुत हूँ।

उपकार करने में कोई बंधन या भ्रम नहीं होता। मेरे यह बोलने मात्र से उपकार नहीं हुआ। आपकी स्वीकृति पूर्वक उसमें आपकी प्रतिबद्धता होने पर ही उपकार सफल हुआ। वैसे ही आप दूसरे व्यक्ति पर उपकार कर सकते हैं। इस ढंग से उपकार का परम्परा बनता है जैसे दीप से दीप जलते हैं! उपकार विधि से ही मानवीय परम्परा बनती है। दूसरे किसी विधि से हम मानवीय परम्परा बना नहीं पायेंगे।

(जीवन विद्या सम्मेलन 2006, कानपुर)

समझदारी उपार्जित करना "अध्ययन" है और समझदारी को प्रमाणित करना "अभ्यास" है.

प्रमाणों की उपलब्धि में हम तृप्त होते हैं। मानव यदि समझदारी को प्रमाणित करता है तो वह एक उपलब्धि है। समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व जब व्यवहार में प्रमाणित होता है, तो फलस्वरूप हम तृप्त होते हैं। इससे हमारे समझदार होने की गवाही भी हो जाती है। साथ ही, दूसरे को हमारे समझे होने का पता चलता है। इस तरह "तृप्ति स्थली" सह अस्तित्व में ही है।

समझदारी "मूल पूंजी" होते हुए, समझदारी के व्यवहार में प्रमाणित होने से जो तृप्ति पूंजी के रूप में मिलती रहती है उसको जीवन अपनाता ही रहता है। इस तरह समझदारी को उपार्जित

करना एक बात है, समझदारी को व्यवहार अभ्यास और कर्म अभ्यास में प्रमाणित करना दूसरी बात है। **समझदारी को उपार्जित करना "अध्ययन" है।** अध्ययन पूर्वक उपार्जित समझदारी को प्रमाणित करना "अभ्यास" है।

अध्ययन पूरा हुआ इसका मतलब है, व्यवहार और प्रयोग में प्रमाणित करने के लिए हम उद्यत हो गए। अध्ययन होने के बाद समझदारी स्वरूपी उपलब्धि को प्रयोग और व्यवहार में प्रमाणित करना हम शुरू करते हैं। जैसे ही अध्ययन पूर्वक बोध हुआ, उसको प्रमाणित करने के लिए हम संकल्पित हुए। इसका नाम है "ऋतंभरा"। ऋतंभरा का मतलब ही है सत्य से भरी हुई संकल्प। जैसे मधुमक्खी के छत्ते में शहद भर जाता है, वैसे ही सत्य से भरी हुई संकल्प का नाम है ऋतंभरा! यह संकल्प जब कार्य और व्यवहार में प्रमाणित होने लगता है तो समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व ही प्रमाणित होता है। जब कभी भी हम संकल्पित हुए तो हमारे अनुभव के प्रमाणित होने की प्रक्रिया शुरू हो जाते हैं! उसको कोई रोक नहीं सकता! प्रमाणित होने के संकल्प को रोकने वाली ताकत इस अस्तित्व में नहीं है! सत्य संकल्प प्रमाणित हो कर ही रहेगा!

अभ्युदय के अर्थ में सभी कायिक, वाचिक, मानसिक, कृत, कारित, अनुमोदित क्रियाकलाप "अभ्यास" है। अभ्यास में क्या करना है? समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व को प्रमाणित करना है। **यही "व्यवहार प्रमाण" का स्वरूप है।** मानव जाति में इसके लिए सहमति उपार्जित करना जरूरी है या जरूरी नहीं है? इस पर प्रकाश डाला जाए! क्या यह सहमति उपार्जित कर पायेंगे? इस में आप का क्या कहना है? यदि सभी में यह सहमति और स्वीकृति होता है तो "सार्वभौम व्यवस्था" हो जाएगा।

(जीवन विद्या सम्मेलन 2006, कानपुर)

"सुविधा संग्रह" या "समाधान समृद्धि"

"सुविधा संग्रह" लक्ष्य के साथ मानवीयतापूर्ण आचरण जुड़ता नहीं है। जब तक सुविधा संग्रह लक्ष्य रहता है, तब तक "समाधान" की बात करने तक हम आ सकते हैं, समाधान आचरण में नहीं आ पाता। विचार विधि से जब समाधान समृद्धि लक्ष्य स्वीकृत हो जाता है तो समझ आचरण में आ जाता है।

प्रश्नः विचार विधि से समाधान समृद्धि लक्ष्य को स्वयं में स्थिर करने के लिए क्या किया जाए?

उत्तरः सुविधा संग्रह लक्ष्य स्थिर है या समाधान समृद्धि लक्ष्य स्थिर है? इस पर सोचा जाए। जो लक्ष्य "स्थिर" होगा वही मिल सकता है। जो लक्ष्य ही स्थिर न हो, वह मिलेगा कैसे? इस पर सोचने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं समाधान समृद्धि एक स्थिर लक्ष्य है। हर मानव को समाधान समृद्धि मिल सकता है। इसके विपरीत सुविधा संग्रह अस्थिर लक्ष्य है। कितना भी आप सुविधा संग्रह करो और करने की जगह बना रहता है। सुविधा संग्रह का लक्ष्य किसी को मिल नहीं सकता।

दूसरे, "धरती बीमार हो गयी है"। इस परिस्थिति से निकलने के लिए सुविधा संग्रह लक्ष्य के साथ चलना उचित होगा या समाधान समृद्धि लक्ष्य को अपनाना होगा? इस पर सोचा जाए। यह सोचने पर हम निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं, मानव के सुविधा संग्रह लक्ष्य के साथ जीने से ही यह धरती बीमार हुई।

सुविधा संग्रह "पर धन" के बिना हो ही नहीं सकता। "पर धन" चरित्र से मानवीयतापूर्ण आचरण कैसे जुड़ सकता है? इस पर सोचा जाए। समाधान समृद्धि "स्व धन" के साथ ही होता है। स्व धन चरित्र से ही मानवीयतापूर्ण आचरण जुड़ सकता है।

ए नागराज, प्रणेता एवं लेखक मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

संवेदनाएं अनियंत्रित होते हुए मानवीयतापूर्ण आचरण का स्वरूप कैसे निकल सकता है? सुविधा संग्रह लक्ष्य के साथ जीते हुए संवेदनाएं नियंत्रित होने का कोई आधार ही नहीं है। इस पर सोचा जाए! समाधानपूर्वक संज्ञानीयता में संवेदनाएं नियंत्रित रहती हैं। नियंत्रित संवेदनाओं के साथ ही मानवीयतापूर्ण आचरण का स्वरूप निकल सकता है।

सुविधा संग्रह के विचार को छोड़े बिना समाधान समृद्धि का कोई कार्यक्रम बनाया ही नहीं जा सकता। **"पर धन" विचारधारा से मुक्त हुए बिना हम "स्व धन" का कार्यक्रम बना ही नहीं सकते।** कोई भी कार्यक्रम मानसिकता या विचार में ही बनता है। किसी कार्यक्रम के मूल में यदि विचार या विश्लेषण अधूरा है, तो उस कार्यक्रम के फल परिणाम भी अधूरे ही होंगे।

विचार में यदि हम पूरे पड़ते हैं, तो आचरण में हम पूरे पड़ेंगे ही। सुविधा संग्रहवादी विचार और समाधान समृद्धि वादी विचार का कोई मेल ही नहीं है। सुविधा संग्रह वादी विचार प्रिय, हित, लाभ दृष्टि से है। समाधान समृद्धि वादी विचार न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि से है। समाधान समृद्धि वादी विचार न ईश्वरवादी विधि से आता है, न भौतिकवादी विधि से आता है। समाधान समृद्धि वादी विचार में स्थिर होने के लिए ही सह अस्तित्ववाद के अध्ययन का प्रस्ताव है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

जीव चेतना में भय प्रलोभन का कार्य रूप

जीव चेतना में जीता हुआ मानव भय और प्रलोभन से चालित रहता है। भय प्रलोभन वश हम जो करते हैं, उसमें से कुछ "सही" हो जाता है, कुछ "ग़लत" हो जाता है। जीव चेतना में शरीर मूलक दृष्टियों से ही विचार होता है और उसी के अर्थ में "करना" भी होता है। प्रिय, हित, लाभ दृष्टियों की सीमा में जो "सही" होता है, वह

शरीर के साथ ही "सही" होता है। इस तरह "ग़लत" जो होता है वह चारों अवस्थाओं के साथ होता है। इस तरह जीव चेतना में जीते हुए मानव के "सहीपन का दायरा" शरीर तक ही सीमित हो जाता है। "गलती का दायरा" बढ़ जाता है। गलती का दायरा बढ़ जाने से गलती करने की आदत बढ़ती जाती है। दूसरे कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता रहने से और मनाकार को साकार करने की प्रवृत्ति रहने से हमने हर अपराध को वैध मान लिया। मानव के साथ अपराध और धरती के साथ अपराध दोनों को वैध मान लिया। इस अपराध श्रृंखला के चलते धरती बीमार हो गयी।

समझदारी पूर्वक मानव भ्रम मुक्त होता है, फलतः अपराध मुक्त होता है। समझदारी के लिए मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन का प्रस्ताव है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

आचरण और संविधान

पहले धर्म शास्त्रों को ही संविधान माना जाता था। धर्म सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित आचार संहिताओं को ही संविधान मान लिया जाता था। इन आचार संहिताओं के आधार पर ही राज्य होता था। धीरे धीरे राज्य संविधान और धर्म संविधान अलग अलग हो गए। राज्य संविधान में मूलतः कहा गया; "गलती को गलती से रोको, अपराध को अपराध से रोको, युद्ध को युद्ध से रोको!" ये तीनों बात अपराध ही हैं। इस तरह पूरा राज्य संविधान "अपराध संहिता" ही है। सभी देशों के राज्य संविधान का मूल रूप यही है। अपराध संहिता को हम "न्याय संहिता" कहते हैं!

अस्तित्व में हर परमाणु, हर अणु, हर पेड़ पौधे, हर पशु पक्षी सभी अपने त्व सहित व्यवस्था में होने से ही समग्र व्यवस्था में भागीदारी करते हैं। उनका समग्र व्यवस्था में भागीदारी करना उनके

"निश्चित आचरण" का स्वरूप है। मानव के निश्चित आचरण से ही उसके समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने का स्वरूप निकल सकता है। अभी तक मानव जाति जीव चेतना में ही जिया है। जीव चेतना में जीते हुए मानव का आचरण अनिश्चित होता है। मानव का आचरण निश्चित नहीं होने के कारण हम मानवीय व्यवस्था के स्वरूप को पहचान नहीं पाये। मानव चेतना में ही मानव का आचरण निश्चित होता है। सह अस्तित्ववादी विधि से मानव के निश्चित आचरण के स्वरूप को पहचानने की विधि निकल गयी।

सह अस्तित्व में अध्ययन होने पर मानव समझदार होता है, फलन में मानवीयतापूर्ण आचरण करने में समर्थ हो पाता है। समझदारी के साथ ही मानव अपने त्व सहित व्यवस्था में होता है, फलतः समग्र व्यवस्था में भागीदारी कर पाता है। समझदारी के बिना मानवीयतापूर्ण आचरण कर पाना सम्भव ही नहीं है। विचार शैली जब बदल जाती है, तो आचरण अपने आप बदल जाता है। आचरण बदल कर विचार शैली नहीं बदलती। विचार शैली को मानवीयता के पक्ष में बदलने के लिए ही मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन का प्रस्ताव है।

"मूल्य", "चरित्र" और "नैतिकता" के संयुक्त स्वरूप में मानवीयतापूर्ण आचरण को पहचाना जा सकता है।

मूल्य : समझदारी पूर्वक मानव समग्र व्यवस्था में अपने संबंधों को पहचान सकता है, मूल्यों का निर्वाह कर सकता है, मूल्यांकन कर सकता है, उभय तृप्ति पा सकता है। मूल्यों में जीना मानवीयतापूर्ण आचरण का एक आयाम है।

चरित्र : स्व धन, स्व नारी/स्व पुरूष और दया पूर्ण कार्य व्यवहार यह मानवीयतापूर्ण चरित्र है। चरित्रता पूर्वक जीना मानवीयतापूर्ण आचरण का दूसरा आयाम है।

नैतिकता : तन, मन, धन का सदुपयोग और सुरक्षा यह

मानवीयतापूर्ण नैतिकता है। नैतिकता पूर्वक जीना मानवीयतापूर्ण आचरण का तीसरा आयाम है।

इन तीनों के संयुक्त स्वरूप में मानवीयतापूर्ण आचरण है।

जीव चेतना में जीते हुए मानव में भी न्याय, समाधान और सत्य की **सहज अपेक्षा** है।

अध्ययन क्रम में :

न्याय **सहज अपेक्षा** के आधार पर "मूल्य" स्पष्ट हो जाता है।

समाधान **सहज अपेक्षा** के आधार पर "चरित्र" स्पष्ट हो जाता है।

सत्य **सहज अपेक्षा** के आधार पर "नैतिकता" स्पष्ट हो जाता है।

मानव में "चाहत" ग़लत नहीं है। "चाहत" के अनुरूप "घटना" घटित नहीं हुआ। उसके विपरीत अपराधिक घटनाएं घटता चला गया। अपराधिक घटनाओं के फलन में ही धरती बीमार हो गयी। इसलिए "पुनर्विचार" की आवश्यकता आ गयी। धरती पर आदमी को बने रहना है तो पुनर्विचार करेगा, नहीं रहना है तो नहीं करेगा।

मानव परम्परा जो ईश्वरवादी और भौतिकवादी तरीकों से सोचा है, उनका इस ओर ध्यान ही नहीं गया। या अनुसंधान नहीं किया। इसी को यहाँ मध्यस्थ दर्शन में प्रस्तावित किया जा रहा है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

समाधान

समाधान =सुख। समस्या = दु:ख। अभी तक मानव जैसे जिया, उसने उससे समस्या ही पैदा किया। अब समाधान के लिए यहाँ प्रस्ताव रख रहे हैं। समझदारी (ज्ञान) से समाधान होता है। सह

 17_samvaad_part2_2013_c

अस्तित्व दर्शन ज्ञान, सह अस्तित्व में जीवन ज्ञान, सह अस्तित्व में मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान संपन्न होने से ज्ञान पूरा हुआ। ज्ञान पूर्वक सोच विचार, सोच विचार पूर्वक योजना, योजनापूर्वक कार्य व्यवहार, कार्य व्यवहारपूर्वक फल परिणाम। फल परिणाम यदि समझदारी के अर्थ में हो गया तो समाधान अन्यथा समस्या। न्याय पूर्वक व्यवहार करने से, आवर्तनशील विधि से उत्पादन कार्य करने से समझदारी के अर्थ में फल परिणाम होता है।

(अक्टूबर 2010, बांदा, उ.प्र.)

समाधान

मानव एक ऐसी वस्तु है जो या तो समाधान पैदा करता है या समस्या पैदा करता है। जो आपकी इच्छा हो, वही पैदा करो! मेरे आंकलन में हर मानव समाधान का प्यासा है, समझदारी का प्यासा है, सच्चाई का प्यासा है। प्यास बुझाने की जरूरत है ही।

समाधान से अच्छा कुछ होता नहीं है। समाधान से कम कुछ अच्छा होता नहीं है। समाधान से अधिक की कोई आवश्यकता ही नहीं बनता है। जिसकी आवश्यकता ही नहीं बनती, उसके होने की सम्भावना भी नहीं बनती। मानव में समाधान पूर्वक जीने की ही आवश्यकता बनती है। मानव में समाधान की आवश्यकता है या नहीं इसका सर्वेक्षण किया जा सकता है। किसी भी आदमी से यह कहना बनता नहीं है कि वह समस्या के लिए जी रहा है, भले ही वह समस्या पैदा करता हो! आदमी कहता तो है कि वह समाधान के लिए जी रहा है, पर पीछे से छुपकर समस्या पैदा करता रहता है। यही आदमी का दोहरापन है। इस तरह आदमी कहाँ पहुँचेगा? ''प्राइवेसी'' नाम से सब गलत करता है, ''प्राइवेसी'' को लेकर हमारा केवल इतना ही है लज्जा को संरक्षित कर रखना। उसी के लिए कपड़ा पहनते हैं, अलंकार की वस्तुओं का उपयोग करते हैं। इसके अलावा कुछ भी ''प्राइवेसी'' नहीं है।

तदाकार होने में, वस्तु जैसा है उसको वैसा स्वीकारते हैं। तद्रूप होने में वस्तु के प्रयोजन को प्रमाणित करते हैं।

(अक्टूबर 2010, बांदा, उ.प्र.)

समझदारी से समाधान, श्रम से समृद्धि

आई.आई.टी. में फिशन फ्यूजन (नाभिकीय भौतिकी) में शोध करने वाले विद्यार्थियों ने मुझसे पूछा "हम यह सब फिशन फ्यूजन की पढ़ाई क्यों कर रहे हैं?"

मैंने उनको उत्तर दिया ''आराम की रोटी खाने के लिए''। जहाँ आपको रोटी मिलने का आश्वासन है, आप वही करते हो। लेकिन मैं आपको इतना बता दूँ जिस बात की रोटी खाने आप जा रहे हो, उसमें आदमी की हैसियत से आप जी नहीं पाओगे। फिशन फ्यूजन का क्या प्रयोजन है? क्या अपने घर में एटम बम डालोगे?

कितना बड़ा धरातल में हाथ डालने वाला बात है यह! थोड़ा सा सोच के तुम बताओ। कितना भारी खतरा हम मोल लिए हैं! इस खतरे का मुझे ज्ञान नहीं है, ऐसा नहीं है। लोगों को मेरा ऐसा कहना कितना प्रिय अप्रिय लगता है, इसका मुझे ज्ञान है। प्रिय लगना, अप्रिय लगना के आधार पर तुलना करना जीव जानवरों के लिए है।

उन्होंने फ़िर पूछा "इससे कैसे छूटें हम?"

इस पूरे विकल्प को पहले अच्छे से समझो फ़िर समाधान संपन्न होने पर अपने परिवार की आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन करने में संलग्न हो जाओ। आपके अभी नौकरी वाले तरीके में "जीना" तो बनेगा नहीं। पैसा जरूर हो सकता है। पैसे से वितृष्णा बढ़ना ही है। जैसे यदि आपके पास दो पैसा हो गया, तो चार पैसे की प्यास बनता ही है। पैसे से हमको तृप्ति मिलेगी या वस्तु से तृप्ति मिलेगी इसको तय करो! वस्तु से तृप्ति मिलती है, यह समझ में आता

है तो वस्तु के उत्पादन में लगो!

अभी सबसे बड़ी विपदा यही है पढ़ने के बाद श्रम नहीं करना है। इस प्रस्ताव को लेकर बुद्धिजीवियों के गले में फांसी यहीं पर लगती है। जितना ज्यादा जो पढ़ा वह श्रम से उतना ही कट गया। श्रम किए बिना पैसा पैदा करना वैध है या अवैध है? आप ही तय करो!

प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन करने से उपयोगिता मूल्य स्थापित होता है। जैसे लकड़ी से इस मेज़ को बनाया। इस मेज़ का उपयोगिता मूल्य इसमें निहित है। इसको बनाने में जो श्रम लगा, उसके आधार पर इसका विनिमय किया जा सकता है। इसी तरह हर उत्पादित वस्तु का विनिमय उसके लिए नियोजित श्रम के आधार पर किया जा सकता है। श्रम के आधार पर विनिमय करना न्यायिक होगा या पैसे के आधार पर, आप ही तय करो!

मानव की उपयोगिता की वस्तुएं हैं आहार, आवास, अलंकार, दूरश्रवण, दूरदर्शन और दूरगमन संबंधी। इन छः के अलावा मानव की उपयोगिता की वस्तुएं आप पहचान नहीं पाओगे। इसके अलावा जो वस्तुएं हैं, जैसे युद्ध सामग्री, वे मानव के लिए "उपयोगी" नहीं हैं। अच्छी तरह से देख लेना आप इसको!

व्यापार और नौकरी में "जीने" का कोई स्थान ही नहीं है। व्यापार में आदमी के साथ "कम देना, ज्यादा लेना" का तौर तरीका है। इसमें "जीना" कहाँ हुआ? नौकरी में भी वैसा ही है। जीने के बारे में सोचा जाए या जीने के नकली साधन (पैसा) के बारे में सोचा जाए? यह सोचने का एक मुद्दा है। जीने के लिए नकली साधन (पैसा) को लेकर सारा समय लगा देना कहाँ तक न्याय है? भौतिक वस्तुएं जीने के लिए असली साधन हैं। भौतिक वस्तुएं प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन द्वारा मानव उत्पादित करता है। अभी विश्व के 12 प्रतिशत से कम जनसँख्या उत्पादन कार्य में लगे हैं। यदि हर

व्यक्ति अपने श्रम को उत्पादन करने के लिए नियोजित करने का मन बना ले तो वस्तु कितना होगा आप सोच लो! समाधान सम्पन्नता पूर्वक बनी आर्थिक व्यवस्था में वस्तु से समृद्ध होंगे, न कि पैसे से।

समाधान सम्पन्नता पूर्वक ही परिवार में समृद्धि के साथ जीने का तौर तरीका आता है। समाधान सम्पन्नता से पहले आदमी की तरह जीना तो बनेगा नहीं। मध्यस्थ दर्शन का प्रस्ताव समाधान संपन्न होने के लिए है।

सुविधा संग्रह के चक्कर से मुक्त हुआ जाए और समाधान समृद्धि पूर्वक जिया जाए। इसके लिए पुनर्विचार ज़रूरी है।

(अप्रैल 2008, अमरकंटक)

स्वत्व, स्वतंत्रता, स्वराज्य

"स्वत्व", "स्वतंत्रता" और "स्वराज्य" ये तीन शब्द हम हमारे देश में बड़े समय से सुनते आए हैं। पर ये वास्तविकता में हैं क्या यह समझ में किसी के नहीं आया! हमारे देश में 60 वर्ष पहले स्वतंत्रता की बात सार्थक हुई, माना गया था। किंतु आज जब मैं 87 वर्ष में चल रहा हूँ, मुझे समझ नहीं आता हम 1947 में क्या "स्वतंत्रता" पाये? क्या "स्वराज्य" पाये? क्या "स्वत्व" के रूप में मिला? आपको यदि समझ में आता हो तो मुझे समझाइये! यदि आपको भी यह समझ में नहीं आता हो, तो मैं जो अनुसंधान किया हूँ, सह अस्तित्व को देखा हूँ, सह अस्तित्व में जिया हूँ, जिससे मुझे स्वत्व, स्वतंत्रता और स्वराज्य का अर्थ समझ में आया उसको आप परिशीलन करके देखिये। सह अस्तित्व के बारे में मेरा विश्वास सोलह आना है। इसी आधार पर मैं यह कामना करता हूँ आप में भी सह अस्तित्व के प्रति पूर्ण विश्वास हो। आप में ऐसी अर्हता आए जिससे आप स्वत्व को भी समझ सकते हैं, स्वतंत्रता को भी समझ सकते हैं, स्वराज्य को भी समझ सकते हैं। यह आपके ऊपर कोई आरोपण नहीं है। आपकी

इच्छा हो तो आप इसको समझ सकते हैं।

सह अस्तित्व समझ में आए बिना न स्वत्व समझ में आएगा, न स्वतंत्रता समझ में आएगा और स्वराज्य समझ में आना तो दूर की बात है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

स्वत्व समझ ही है.

हर मानव में "स्वत्व" समझदारी के रूप में समीचीन है। समझदारी या तो प्रमाण के रूप में आ गया है या फ़िर समीचीन है। समीचीन का मतलब निकटवर्ती है। समझदारी प्राप्त करने का अवसर हर मानव के लिए हमेशा बना ही रहता है। समझदार होने का अवसर मानव के पास आदिकाल से है, आज भी है, आगे भी रहेगा। यदि यह मिलने वाला नहीं होता तो हम उसकी आशा भी नहीं कर सकते थे। जिसको हम आशा ही नहीं कर सकते, वह हमको मिल भी नहीं सकता। जो मिल सकता है, उसी के प्रति हम आशा करते हैं। आप हम जो यहाँ बैठे हैं, सबके साथ ऐसा ही है। आप हम सभी यह आशा करते हैं "स्वत्व" हमको समझ में आए।

समझदारी स्वत्व है। समझदारी मानव परम्परा के लिए शाश्वत स्वत्व है। समझदारी एक बार आने के बाद सदा सदा के लिए रहता है, उससे फ़िर विलगीकरण नहीं होता। अभी तक स्वत्व किसको मानते रहे? कुछ चोरी करके घर ले आए उसको स्वत्व मानते रहे। कुछ प्रतिफल के रूप में मिल गया उसको स्वत्व मान लिया। प्रतिफल, पारितोष और पुरस्कार के रूप में हम जो कुछ भी पाते हैं, वह स्वत्व के रूप में रहता नहीं है। वह अंततोगत्वा पीढ़ी से पीढ़ी में अंतरित होता है। अभी तक किसी भी आदमी के पास कोई भौतिक वस्तु स्वत्व के रूप में स्थिर होता हुआ देखने को नही मिला। आज यदि वस्तु पास में है, कल उससे वियोग होता ही है। बड़े बड़े

धनाढ्य घरानों में भी एकत्रित किया गया धन एक दिन दूसरे को हस्तांतरित हो ही जाता है। यह तो सभी जानते हैं, शरीर छोड़ने के बाद ये जो भौतिक–रासायनिक वस्तुएं हैं, वे धरती के साथ ही चिपकी रहती हैं। मरे हुए व्यक्ति के साथ भागती नहीं हैं! इसको आप हम देखते ही हैं। यह देखने पर हम यह निर्णय ले सकते हैं भौतिक–रासायनिक वस्तुएं हमारा "स्वत्व" नहीं हो सकती। इनसे वियोग हो कर ही रहेगा। इनका उपयोग हो कर रहेगा। ये बंट कर ही रहेंगी। ये खर्च हो कर ही रहेंगी।

शरीर स्वत्व नहीं है। सदा के लिए जो काम ही न कर सके, उसे स्वत्व कैसे कहें? शरीर को स्वत्व के रूप में हम पहचान नहीं पायेंगे। शरीर एक आगंतुक उपलब्धि है, संयोग है। जब तक शरीर स्वस्थ रहता है तब तक संसार में समझदारी को हम व्यक्त करेंगे, जीवन में ऐसा संकल्प होना ही समझदारी का अर्थ है।

यह निर्णय लेने पर हम इस बात पर आ सकते हैं, समझदारी ही हमारा स्वत्व हो सकती है। इससे अधिक स्वत्व के रूप में तो और कुछ हो नहीं सकता। इससे कम में हमारा काम नहीं चल सकता।

समझदारी अपने में परिपूर्ण होना पाया जाता है। सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व दर्शन हमको पूर्णतया समझ में आने पर हम "समझदार" हुए। जीवन ज्ञान पूर्णतया समझ में आने पर हम समझदार हुए। ऐसी समझदारी स्वत्व के रूप में शरीर रहते हुए भी रहता है, शरीर के बाद भी जीवन में रहता है, पुनः मानव परम्परा में शरीर लेने पर भी साथ रहता है। इस स्वत्व की आवश्यकता है या नहीं, इसको आप हम को मिलकर तय करना है। यदि मानव परम्परा को धरती पर बने रहना है तो इसके लिए सर्व सम्मति और सर्व स्वीकृति की आवश्यकता बनती है। जिसको हम स्वीकार लेते हैं, उसके लिए हम प्रयत्न भी करते हैं। जिसको हम स्वीकारते नहीं हैं उसके लिए हम

कुछ भी प्रयत्न नहीं करते। सर्व मानव में यह गुण है जिसको वह आवश्यक मान लेता है, उसके लिए जी जान लगाता ही है। जिसको वह आवश्यक नहीं मानता उसकी तरफ़ देखने तक नहीं जाता।

समझदारी रुपी "स्वत्व" को पाने के लिए बहुत सारी विधियाँ, उपाय मानव परम्परा में सुझाए गए हैं। पर अंततोगत्वा वे समझदारी रुपी स्वत्व को पाये नहीं! ऐसा मैं किस आधार पर कहता हूँ? क्योंकि अभी तक यह शिक्षा विधि से आया नहीं है। प्रचलित व्यवस्था स्वत्व को पहचाना नहीं है। इन दो गवाहियों के आधार पर मैं कहता हूँ "अभी तक मानव परम्परा में समझदारी आया नहीं है।" मेरा यह कथन आपको कठोर लग सकता है, एक हकीकत भी लग सकता है। मेरा इसमें आग्रह यही है सच्चाई को यथावत् स्वीकारा जाए। उसको ज्यादा भी न किया जाए, कम भी न किया जाए।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

समझदारी के बाद स्वतंत्रता है

"स्वतंत्रता" शब्द से भास होता है मानव ऐसा भी कर सकता है, वैसा भी कर सकता है। इस तरह मनमानी करने को स्वतंत्रता मान लिया गया है।

प्रश्न : स्वतंत्रता वास्तव में क्या है?

उत्तर : समझदारी के बाद उत्तरोत्तर और अच्छा करने के बारे में सोचना, प्रमाणित करना ही स्वतंत्रता है। उत्तरोत्तर और अच्छा सोचने की जो हमारी ताकत है, वही स्वतंत्रता है। यह उपकार के साथ जुड़ी रहती है। इस तरह अच्छे से और अच्छा, और अच्छे से और ज्यादा अच्छा चलने की जो गति है उसको हम कहते हैं "अभ्युदय"। अभ्युदय का तात्विक अर्थ है "सर्वतोमुखी समाधान"। स्वतंत्रता का वैभव अभ्युदय में है।

हमारे देश में 1947 में जो राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी, उसने कहाँ पहुँचा दिया? हर प्रकार से गलती करने में स्वतन्त्र! सभी को गलती करने की स्वतंत्रता प्राप्त हुई। सभी व्यक्ति अपराधी होने पर समाज का क्या होगा? इससे आदमी दुःख, कठिनाइयाँ जो भोगेगा, उसे फ़िर भी सह लो, पर धरती जो बीमार हो गयी, तो आगे पीढ़ी कहाँ रहेगा? हमने तो मजा मार लिया, आगे पीढ़ी के लिए वीरानी छोड़ कर! इस अभिशाप के तो हम योग्य हो ही चुके हैं। मानव के कृत्यों के आधार पर ही यह धरती बीमार हुई है।

कृत कारित अनुमोदित भेदों से हर व्यक्ति धरती के साथ होने वाले अपराधों से जुड़ा ही है। राज्य में रहने वाला हर व्यक्ति राजनैतिक अपराध से जुड़ा ही है। धर्म नैतिक अपराध उस समुदाय से जुड़ा हर आदमी उस में भागीदार है ही। आर्थिक अपराध उस संस्थान का हर आदमी उससे जुड़ा ही है। इस धरती का बीमार होना इस धरती पर रहने वाले 700 करोड़ आदमियों के अपराध का फलन है।

यही 700 करोड़ आदमी अपराध मुक्त होने पर यह धरती अपने आप में संभल सकता है। ऐसा मेरा विश्वास है। इसी आधार पर आपके सम्मुख मैं प्रस्तुत हो रहा हूँ। कहाँ तक आप समझ पायेंगे, सार्थक हो पायेंगे, उपकार कर पायेंगे यह आपके संकल्प पर ही निर्भर है। "आप यही करिए!!" मैं आपको ऐसा नहीं कहता हूँ। समझने का अधिकार आपके पास है। अपनी समझी हुई बात को मैं आपके सम्मुख अनुनय विनय ही करूँगा। यदि यह आपको स्वीकार होता है तो आप स्वयं तौलिये, ऐसे जीना है कि नहीं? समझदारी पूर्वक जीने की आपकी इच्छा होता है तो आप प्रमाणित होंगे ही! प्रमाणित होने के क्रम में आप भी उपकार ही करेंगे।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

स्वराज्य का मतलब है स्वयं का वैभव

स्वराज्य का मतलब है स्वयं का वैभव। राज्य का मतलब है वैभव। मानवत्व का वैभव जब व्यवस्था के रूप में प्रगट होता है, वही स्वराज्य है। हर व्यक्ति का वैभव जब स्वत्व (समझदारी) और स्वतंत्रता के रूप में होता है तभी स्वराज्य है। नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म और सत्य ये 6 स्तर का काम है। कम से कम न्यायपूर्वक जीने में मानव का वैभव है। न्यायपूर्वक जीने में नियम, नियंत्रण, संतुलनपूर्वक जीना समाहित रहता है। संज्ञानीयतापूर्वक संवेदनाएं अपने आप से नियंत्रित रहते हैं।

अभी तक माना गया था राजा के अनुसार चलने से स्वराज्य होता है। "राजा गलती नहीं करता" यहाँ से शुरू किए। राजा को अय्याश के रूप में लोग देखे तो लोग उसको नकार दिए। फ़िर गुरु के अनुसार चलने से स्वराज्य होता है माना गया। गुरु को स्वयं प्रमाण स्वरूप में न पा कर लोग उसको भी नकार दिए। उसके बाद सभा के अनुसार चलने से स्वराज्य होता है, यह माना गया। सभा में सभी प्रकार के अपराधों को वैध मानने के कार्यक्रमों में लोग लगे हैं। ये तीन लहरें तो गुजर चुकी। इन तीन प्रकार से मानव ने अपने को अर्पित करके देख लिया पर उससे स्वराज्य मिला नहीं। हर व्यक्ति का वैभव दिखा नहीं।

प्रश्न : राजा से हुआ नहीं, गुरु से हुआ नहीं, सभा से हो नहीं पा रहा है फ़िर स्वराज्य कैसे होगा?

उत्तर : परिवार से होगा। परिवार में सभी समझदार हों, परस्परता में संबंधों को पहचानते हों, मूल्यों का निर्वाह करते हों, मूल्यांकन करते हों, उभय तृप्ति पाते हों, इस प्रकार न्यायपूर्वक रहते हों। जब तक परिवार जन मूल्यों को प्रमाणित नहीं करते, तब तक वे एक छत के नीचे "रह" सकते हैं पर "जी" रहे हैं यह प्रमाणित नहीं होता। साथ में रहने मात्र से स्वराज्य प्रमाणित नहीं होता। "जीने" में

ज्ञान ही आधार है, मूल्य ही आधार है, समाधान ही आधार है और कोई आधार नहीं है। ज्ञान आधार पर परिवार होने पर परिवार जन परस्पर सहमति से कार्य करते हैं, परस्पर सहमति से प्रतिफल पाते हैं, परस्पर सहमति से उपयोग करते हैं। इस तरह सह अस्तित्व विधि से हम अच्छी तरह जी पाते हैं। इस तरह सह अस्तित्व पूर्वक जी पाने पर मानव के स्वराज्य की शुरुआत हुआ। 10 समझदार व्यक्तियों से गठित परिवार स्वराज्य का प्रथम सोपान "समाधान समृद्धि" पूर्वक जी कर प्रमाणित करता है। ऐसे 10 परिवार मिलकर परिवार समूह स्वराज्य व्यवस्था को प्रमाणित करते हैं। इस तरीके से 10 सोपान तक चलकर हम विश्व परिवार व्यवस्था तक पहुँच जाते हैं। इसी का नाम है "परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था"।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

समझदारी की तीन धाराएं

सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व को समझना, जीवन को समझना और मानवीयतापूर्ण आचरण को समझना इस तरह समझदारी की तीन धाराओं को मैं पहचाना हूँ। मैं इनको पूर्णतया समझा हूँ, पारंगत हूँ, जिया हूँ, जीता हूँ, आपको समझा सकता हूँ। ये तीनों धाराएं स्वयं में एकत्र होने पर समझदारी के प्रति हमारी तृप्ति होना बन जाता है। समझदारी के अनुरूप सोच विचार, योजना, कार्य योजना, फल परिणाम निरंतर बना रहता है अर्थात् समाधान निरंतर बना रहता है। इसलिए मैं तृप्त रहता हूँ। मेरा विश्वास है आप सभी तृप्त होने के अर्थ में ही हैं। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो तृप्त नहीं होना चाहता हो। सर्व मानव आबाल वृद्ध तृप्त होना ही चाहते हैं।

समझदार हुए बिना मानव को तृप्ति नहीं है।

समझदार आदमी गलती नहीं करता। गलती करता है तो

समझदार नहीं है। समझा नहीं है, इसीलिए गलती किया। उनको समझाने की अर्हता समझे हुए व्यक्ति में रहता ही है। गलती का सुधार ही "दंड" है। दंड का मतलब है सुधार। दंड का मतलब यंत्रणा नहीं है। मेरा विश्वास है यह सद्बुद्धि हरेक व्यक्ति में उपज सकता है। यदि ऐसा सद्बुद्धि सबमें उपज जाए, तो धरती पर संकट कहाँ है? सदा सदा समाधान ही रहेगा। यह मैं आपको भरोसा दिलाना चाहता हूँ। अभी भरोसा दिलाना ही बनता है। आपके हमारे अथक प्रयास से इस प्रस्ताव को शिक्षा विधा में और व्यवस्था विधा में प्रगट करना आवश्यक है। व्यवस्था और शिक्षा में यह प्रस्ताव आए बिना यह सर्व सुलभ होगा, ऐसा मैं नहीं मानता।

अभी परंपरागत शिक्षा में सह अस्तित्व स्वरूपी सत्य को समझाने की कोई गुंजाइश नहीं है। इस शिक्षा में जीवन को समझाने का कोई प्रावधान नहीं है। अभी की शिक्षा में शरीर को ही जीवन मानते हैं। जब तक शरीर संवेदनाओं को व्यक्त करता है, उसको जीवन मानते हैं। जब शरीर संवेदनाओं को व्यक्त नहीं करता है उसको मृत्यु मानते हैं। इतना ही परम्परा में अभी तक ज्ञान है, इससे अधिक हुआ नहीं।

धरती पर 700 करोड़ लोगों के पास सह अस्तित्ववाद का यह प्रस्ताव शिक्षा विधि से ही पहुँचेगा। शिक्षा के ढाँचे खांचे में इस वस्तु को प्रवाहित करने की आवश्यकता है। मैं सामान्य व्यक्ति हूँ, इस बात को मैंने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। इसको आप और अच्छे ढंग से प्रस्तुत करेंगे ऐसा मेरा विश्वास बना हुआ है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

एक मौलिक बात

प्रश्नः आप जो समझदारी की सम्पदा पाये, वह आपको अन्तर्मुखी विधि से ही तो मिली है!

उत्तरः नहीं! यह समझदारी मुझे अंतर्मुखी विधि के "मूल्यांकन" करने के क्रम में मिली है। समाधि जो मुझे हुई, वह अंतर्मुखी विधि से हुई । संयम में अंतर्मुखी विधि नहीं है। समाधि में मुझे मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं मिला। समाधि का मूल्यांकन करने के लिए मैंने संयम किया। संयम की प्रचलित विधियों को मैंने छोड़ दिया। उसकी सिद्धियों की अपेक्षा मैंने छोड़ दिया। समाधि के बिना संयम नहीं हो सकता, यह बात सही है। किंतु संयम से प्राप्त समझदारी स्वरूपी जो वस्तु है वह समाधि संयम के रास्ते से ही मिलेगा ऐसा मैंने छोड़ दिया! मैं समाधि संयम के रास्ते से गुजर कर समझदारी तक पहुँचा। आप अध्ययन के रास्ते से गुजर कर समझदारी तक पहुँच सकते हैं। आपके लिए सीधा सीधा रास्ता लगा दिया है।

जो मैंने पाया वह मेरे लिए तो सम्पदा है ही, जब इसको अध्यवसायिक विधि से लगाने गया तो पता चला यह तो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए सम्पदा है। तब पता चला मुझको जो यह सम्पदा मिली है, यह तो सम्पूर्ण मानव जाति के पुण्य का फल है। इसको आप मेरा बड़प्पन कहो, उदारता कहो कुछ भी कहो! मैं जो निर्णय कर पाया वह यही है! क्योंकि मैं इतनी बड़ी सम्पदा को खोजा ही नहीं था। कहीं न कहीं यह मानव जाति की आवश्यकता रही तभी यह चीज आयी।

"व्यापक और एक एक" इन दोनों के अलावा अस्तित्व में और कुछ है ही नहीं! पूरा अस्तित्व व्यापक में संपृक्त एक एक है। इतने दिन, इतने मेधावी, इतने तपस्वी हो गए और यह सह अस्तित्व सूत्र नहीं निकाल पाये! इन तपस्वियों की कथाएँ हम सुनते ही हैं। उनके तपस्या के तरीकों को सुने, तो हम कहीं लगते ही नहीं हैं! मेरी निष्ठा मेरे पास जो रही, वह अवश्य मौलिक है। उसमें मुझे कोई ढील पौल नहीं दिखती। मैंने जो करना चाहा, वह कर डाला। ख़त्म हो गयी बात! जो परिणाम हो जाए, हो जाए! इस निष्ठा के साथ जो मैंने किया, उसका जो परिणाम आया वह मौलिक है, अमूल्य है। जैसे

जैसे इस बात को व्याख्या करता हूँ मुझे लगता है, यह केवल इस धरती के आदमियों के लिए ही नहीं अपितु सभी धरतियों के मानवों के समझ के लिए वस्तु है! ऐसा ही लगता है मुझे! भले ही आप इसे आशावादिता कहो या अत्याशावादिता कहो पर असलीयत ऐसा ही है!

(1998, आंवरी आश्रम)

सर्वशुभ में जीने का मतलब

"सर्वशुभ में जीने" का मतलब है मेरा शुभ सबके लिए स्वीकार्य है तथा सबका शुभ मेरे लिए स्वीकार्य है। यही मानव चेतना पूर्वक जीना है। अभी की स्थिति इसका उल्टा है। हम जो जीते हैं वह किसी को स्वीकार्य नहीं है। दूसरे सब जो जीते हैं वह हमको स्वीकार्य नहीं है। यही "भ्रम में जीना" है या जीव चेतना में जीना है। जीवों के सदृश जीना मानव के लिए भ्रम है।

मानव चेतना पूर्वक ही मानव के सुख पूर्वक जीने की व्यवस्था है। जीव चेतना पूर्वक मानव के सुख पूर्वक जीने की व्यवस्था नहीं है। जीवों को देखने पर पता चलता है जीव जानवर अपनी अपनी जाति के साथ व्यवस्था में जी लेते हैं। मानव को देखते हैं तो पता चलता है, हम कुछ भी व्यवस्था में नहीं जी पा रहे हैं। "मानव जीवों से भिन्न है और मानव जाति एक है" यह हमें पहचान नहीं हुई है। हमको मानवत्व पूर्वक जीने के लिए आवश्यक ज्ञान की पहचान नहीं हुई है। न ही हमें मानवत्व पूर्वक जीने की व्यवस्था के स्वरूप की पहचान है। फ़िर भी हम जी रहे हैं, यंत्रणा को भुगत रहे हैं। इसमें जो मानव के साथ यंत्रणा गुजरी वह कोई उतनी महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। सबसे बड़ी बात है धरती का बीमार होना। धरती के बीमार होने पर अब सद्बुद्धि का प्रयोग करने की आवश्यकता आ गयी है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

सर्वशुभ का रास्ता

हम जहाँ हैं, वह हमारा घर है।

हम अस्तित्व में हैं, अस्तित्व हमारा घर है।

घर की सुन्दरता पहचान में आती है तो इसमें सुंदर ढंग से जीने की बात बनती है।

सुंदर ढंग से जीने में शुभ होता ही है।

यही सर्वशुभ का रास्ता है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

भ्रम का स्वरूप

अपराध भ्रम वश ही होता है।

मानव ही भ्रमित होकर अपराध करता है और समस्याओं को जनित करता है।

समस्या यदि मानव जाति तक ही सीमित रहता तो कोई परेशानी नहीं था। मानव जाति द्वारा जनित समस्याएं जब धरती को ही बीमार कर दिया तो हम सोच रहे हैं। धरती बीमार होने के कारण मानव जाति में भ्रम मुक्ति "आवश्यक" हो गयी है। इस "आवश्यकता" को इंगित कराने का हम प्रयास कर रहे हैं। यदि मानव परम्परा को निरंतर बने रहने की "आवश्यकता" समझ में आती है तो उसका भ्रम मुक्त होने के लिए "प्रयास" करना भावी हो जाता है। यदि मिटने का ही मन बना लिया है तो मिट कर ही रहे ! उसके लिए तो पूरी तैयारी हो चुकी है।

जीव चेतना में संवेदनाओं को राजी करने के क्रम में "अच्छा लगना" और "बुरा लगना" ये दो बात रहती है। "अच्छा लगना"

17_samvaad_part2_2013_c

प्रलोभन के रूप में होता है। "बुरा लगना" भय के रूप में होता है। प्रलोभन और भय भ्रम वश ही हैं।

"भय और प्रलोभन भ्रम वश हैं।" यह आदर्शवाद ने भी बताया था। पर भय और प्रलोभन से मुक्ति क्या है यह वे उस सोच से नहीं निकाल पाये। भय और प्रलोभन से मुक्ति के लिए उन्होंने वही "अस्तित्व विहीन मोक्ष" को इंगित कराया। उसके समर्थन में स्वर्ग, नर्क, पाप, पुण्य, कर्म काण्ड, साधना अभ्यास विधियाँ ये सब बताया। उससे काम नहीं चला।

मध्यस्थ दर्शन के अनुसंधान पूर्वक प्रस्तुत हुआ "अति व्याप्ति, अनाव्याप्ति और अव्याप्ति दोष वश ही भय और प्रलोभन है।" अतिव्याप्ति दोष वश ही अधिमूल्यन है जिससे "प्रलोभन" है। अनाव्याप्ति और अव्याप्ति दोष वश ही अवमूल्यन और निर्मूल्यन है जिससे "भय" है।

भय और प्रलोभन पर आधारित सोच विचार के चलते लाभोन्माद, कामोन्माद, भोगोन्माद के तीन प्रबंध शिक्षा में आ गए। इस तरह अनेक अपराधों को वैध मान लिया गया और भी अपराधों को वैध मानने के लिए विचार कर रहे हैं।

सह अस्तित्व में अध्ययन पूर्वक मानव भ्रम मुक्त हो सकता है और जागृति को प्रमाणित कर सकता है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

आदर्शवाद का विकल्प

सत्य समझ में आने के बाद पता चलता है "सह अस्तित्व स्वरूपी सत्य से मुक्त कोई वस्तु है ही नहीं।" यह आदर्शवादी विचारधारा से भिन्न बात है जिसमें कहा "सत्य" अलग ही रहता है, "जगत" अलग ही रहता है। सत्य को "खोजने" की अभ्यास, तप

विधियाँ बता दी। सत्य को जगत से अलग ही बता दिया, उसी में उनके हाथ पैर टूट गए। "सत्य जगत से अलग ही कोई चीज है" कोई इस बात को समझा नहीं पाता है, न प्रमाणित कर पाता है। केवल इसको "कहने" मात्र से यह प्रभावित होता नहीं है।

आदर्शवाद ने संवेदनाओं को समाप्त करने के लिए बहुत सारे उपदेश और अभ्यास विधियाँ बताई। समाधि से पहले कोई संवेदनाएं नियंत्रित होती नहीं हैं। समाधि सबको मिलने वाला नहीं है। इस तरह सबके लिए संवेदनाएं नियंत्रित होने के लिए कोई उत्तर आदर्शवाद के पास नहीं है। इसीलिए हम अराजकता के शिकार हो गए। काफी क्षत विक्षत हो चुके हैं।

पहले इन आदर्शवादी भाषणों के प्रति लोगो की आस्थाएं होती थी। अब आस्था होती नहीं है। अब उन भाषणों पर प्रश्न करना बनता है। "इसको कैसे प्रमाणित किया जाए? इसको कैसे समझा जाए?" असभ्य तरीके से भी लोग प्रश्न करते हैं "यह तो बकवास है, इसका रोटी कपड़ा मकान से कोई लेन देन नहीं है।" ये दोनों ध्वनियाँ हम सुनते ही हैं। **आज के समय में आस्थावाद स्थापित होने वाला नहीं है। प्रमाण ही स्थापित होगा। प्रमाण के लिए आपको अपनी सौजन्यता का प्रयोग करना पड़ेगा। प्रमाण के लिए आपकी सौजन्यता ही जिम्मेदार है और कोई जिम्मेदार नहीं है।**

सत्य को समझना अर्थात् सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व को समझना। अस्तित्व क्यों है और कैसा है यह समझ में आना। कैसा है? का स्वरूप आपको बताया। क्यों है? का उत्तर है, प्रगट होने के लिए है। विगत में आदर्शवाद ने कहा था "ब्रह्म से सब प्रगट है।" यहाँ कह रहे हैं "ब्रह्म में सब प्रगट है।" व्याकरण विधि से देखें तो ज्यादा दूर नहीं हैं बस "में" और "से" का फर्क है। ब्रह्म में सब प्रगट है इससे "सम्पृक्तता" इंगित है। सम्पृक्तता का मतलब है जगत डूबा

है, भीगा है, घिरा है।

सत्य को जो मैं समझा उसको समझाने के लिए मैंने भाषा का प्रयोग किया। भाषा परम्परा की है। परिभाषाएं मैंने दी हैं।

धर्म वास्तव में क्या है? जिससे जिसका विलगीकरण न हो, वही उसका धर्म है। पदार्थावस्था अस्तित्व धर्मी है। प्राणावस्था अस्तित्व सहित पुष्टि धर्मी है। जीवावस्था अस्तित्व पुष्टि सहित आशा धर्मी है। मानव ज्ञान अवस्था में होते हुए, अस्तित्व पुष्टि आशा सहित सुख धर्मी है। सुख की अपेक्षा से मानव को अलग नहीं किया जा सकता।

समाधान बराबर सुख। समाधान कैसे होता है? ज्ञान के अनुरूप फल परिणाम होने पर समाधान होता है। यह अखंड समाज सार्वभौम व्यवस्था सूत्र व्याख्या में जीने से होता है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

सह अस्तित्व परम सत्य है

एक बात मैं ठोस रूप में कहता हूँ "हर मानव सत्य के लिए प्यासा है।" वह प्यास ज्ञान, विवेक और विज्ञान को समझने से ही बुझ सकती है। उसको समझाने का माद्दा (ताकत) मेरे पास है। इस प्रस्ताव को जो अध्ययन किए हैं, उनके पास है। इस आश्वासन पर यदि हम विश्वास कर सकते हैं तो सत्य को समझना हमारे लिए सम्भव है।

व्यापक में संपृक्त प्रकृति अस्तित्व समग्र है। व्यापक में सम्पूर्ण प्रकृति डूबी, भीगी, घिरी है। व्यापक वस्तु को आप "ईश्वर" नाम दे सकते हैं, मूल सत्ता यही है। मूल ऊर्जा यही है। जड़ प्रकृति में यही ऊर्जा सम्पन्नता चुम्बकीय बल के रूप में प्रमाणित है । मानव में यही ऊर्जा ज्ञान के रूप में प्रमाणित है। जीव जानवरों में यही

ऊर्जा "जीने की आशा" के रूप में प्रमाणित है। वनस्पतियों में यही ऊर्जा "पुष्टि" के रूप में प्रमाणित है। इस तरह ऊर्जा सम्पन्नता "धर्म" के रूप में प्रकृति की हर वस्तु से अविभाज्य है।

मानव को अपने ज्ञान पर विश्वास करने के लिए "सत्य" को पहचानना होगा।

सह अस्तित्व परम सत्य है। व्यापक वस्तु में जड़ चैतन्य वस्तु संपृक्त है। प्रकृति तीन तरह की क्रियाओं के स्वरूप में है भौतिक क्रिया, रासायनिक क्रिया और जीवन क्रिया। इन तीन प्रकार की क्रियाओं के संयोग से चार अवस्थाएं प्रगट हुई हैं : पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था। ज्ञानावस्था में मानव है। मानव समझने वाली इकाई है। जीव जानवर समझने वाली इकाई नहीं है। जीव जानवर अपने वंश के अनुसार व्यवस्था में जीते हैं। पेड़ पौधे बीज के अनुसार व्यवस्था में जीते हैं। पदार्थ संसार परिणाम के अनुसार व्यवस्था में है। इस तरह मानवेतर (मानव को छोड़कर) सभी अवस्थाएं अपने अपने त्व सहित व्यवस्था में हैं। मानव भी मानवत्व के साथ व्यवस्था में रह सकता है। मूल मुद्दा यही है।

मानव में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता मौलिक है। इसी के कारण वह दौड़ता है। दौड़ते दौड़ते थक थकाकर कहीं बैठ जाता है। अब यहाँ कह रहे हैं "थकें नहीं! इस कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता को सत्य को समझने के लिए उपयोग करें।" सत्य को मैंने पहचाना है, आप भी पहचान सकते हैं। सह अस्तित्ववादी विचार में आप पारंगत हो सकते हैं। मैं सह अस्तित्ववादी विचार के अनुरूप जिया हूँ, जीता हूँ, आप भी जी सकते हैं।

सत्य समझ में आने पर पता चलता है "सह अस्तित्व स्वरूपी सत्य से मुक्त कोई वस्तु है ही नहीं!"

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

हर मानव में अनुभव करने का माद्दा है

अनुभव = अनुक्रम से होना, रहना।

मैंने जो भी प्रस्तुत किया है वह अनुभवमूलक विधि से किया है। मेरा विश्वास है हर व्यक्ति में अनुभव करने का माद्दा है।

विगत में कहा था "अनुभव को बताया नहीं जा सकता"। मैं कह रहा हूँ अनुभव को ही ठोक बजाऊ तरीके से बताया जा सकता है। शानदारी से यदि कुछ बताया जा सकता है तो वह अनुभव ही है। दूसरा कुछ भी शानदारी से नहीं बताया जा सकता।

अनुभव के लिए मेरे बुजुर्गों ने जैसा मेरा मार्गदर्शन किया था वैसा ही मैंने प्रयत्न किया। समाधि तक भी पहुँचे। समाधि में जब अज्ञात ज्ञात नहीं हुआ तब मैंने संयम किया। संयम के बारे में पातंजलि योग सूत्र में लिखा है "धारणा ध्यान समाधिः त्रयमेकत्रवात संयमः"। विभूतिपाद में जो संयम के फल परिणाम के बारे में लिखा है, उससे मुझे लगा वह केवल सिद्धि प्राप्त करने के लिए है, उससे कोई अज्ञात ज्ञात नहीं होगा। वह सब अप्राप्त को प्राप्त करने के लिए है ऐसा मुझे लगा। "समाधि के बाद अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा कैसे रह गयी? यदि रह गयी तो समाधि कैसे हुआ, माना जाए?" यह प्रश्न मुझमें हुआ। मैंने पातंजलि द्वारा बताये गए सूत्र को उलटाया और इन तीनों स्थितियों को विपरीत क्रम में रखा समाधि, ध्यान, फिर धारणा। यह योग में गंभीर रूप से जुड़े लोगों के लिए एक बहुत ही मूल्यवान सूचना हो सकती है।

इस तरह जब मैंने संयम किया तो समग्र अस्तित्व मेरे अध्ययन में आ गया। जो मैंने अध्ययन किया, वही आपके अध्ययन के लिए दर्शन, वाद, शास्त्र के रूप में "सूचना" प्रस्तुत कर दिया। समझना और समझाना मानव से ही होगा। किताब से समझना होगा नहीं। किताब से सूचनाएं मिलती हैं।

"अनुभव से अनुभव के लिए प्रेरणा दी जा सकती है।" यह जब मैं निर्णय कर पाया तो अनुभवगामी पद्धति बनी। पहले के अनुसार भी मैं कह सकता था सब लोग समाधि करो, संयम करके ज्ञान हासिल करो। अनुभवगामी पद्धति ही अध्ययन विधि है। अनुभवमूलक विधि से जो कुछ भी बताते हैं, उसका अर्थ बोध होने तक अध्ययन है। अध्ययन शब्द का मतलब इतना ही है। आचरण से लेकर दर्शन तक और दर्शन से लेकर आचरण तक अध्ययन कराने की व्यवस्था दी। भाषा परम्परा की है। परिभाषाएं मैंने दी हैं। परिभाषा के अनुसार अध्ययन करने पर लोगों को बोध होगा। हर मानव में अनुभव करने का माद्दा है। यह मानव का पुण्य रहा, मानव जाति का अपेक्षा रहा, चिर कालीन तृषा रहा ऐसा मैं मानता हूँ।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

ज्ञान व्यक्त होने वाली वस्तु है समझाने के रूप में

ज्ञान की अपेक्षा मानव के पास सदा से रहा है। सर्वप्रथम चार विषयों के ज्ञान को ही मानव ने सम्पूर्ण ज्ञान मान कर जिया। उसके बाद पाँच संवेदनाओं को ज्ञान माना। इसलिए आज तक मानव संवेदनशीलता के आधार पर संवदेनाओं को संतुलित बना कर रखने के अर्थ में जीता रहा। अभी तक मानव ऐसे ही जीता आया है, इससे आगे जीना नहीं बना है।

इसके अलावा भी कुछ ज्ञान होता है, यह ईश्वरवाद ने लाया। किंतु ज्ञान को अव्यक्त और अनिर्वचनीय बता कर रास्ता बंद कर दिया। ज्ञान क्या है ? यह ईश्वरवाद से परम्परा में पहुँचा नहीं।

चार विषयों में जीने से ज्यादा अच्छा पाँच संवेदनाओं के अर्थ में जीना है यह श्रेष्ठता की ओर एक गति रही। इस तरह, जीवों से भिन्न तरीके से जीना बना। लेकिन पाँच संवेदनाओं के अर्थ में जीना भी जीव चेतना की सीमा में ही है। जीव चेतना विधि से मानव जैसा

भी जिया, जो भी कर पाया उससे धरती बीमार हो गयी।

अब अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित चिंतन से प्रस्ताव आया कि मानव चेतना की ओर गति आवश्यक है। "ज्ञान व्यक्त होने वाली चीज है" यहाँ से शुरुआत किए। यह ईश्वरवाद/आदर्शवाद के प्रस्ताव से भिन्न है। जैसे चार विषयों का ज्ञान व्यक्त हुआ, फ़िर पाँच संवेदनाओं का ज्ञान व्यक्त हुआ, वैसे ही मानव चेतना का ज्ञान भी व्यक्त होगा।

जीव चेतना विधि से जीने से मानव ने स्वयं तो अपराध किया ही, अपनी आगे पीढ़ी के लिए भी खतरा पैदा किया। आगे पीढ़ी जिसने कोई अपराध नहीं किया, उसके लिए सुविधा करने की जगह खतरा पैदा कर दिया।

मानव जाति से गलती हो गयी है, यह पता चलता है। गलती स्वीकार होता नहीं है। गलती से मुक्ति पाने की आवश्यकता महसूस होती है। उस स्थिति में जीव चेतना से मानव चेतना में संक्रमित होने के लिए मध्यस्थ दर्शन का प्रस्ताव रखा है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

हम स्वयं प्रसन्न हुए बिना समाधान को व्यक्त नहीं कर सकते

हम स्वयं प्रसन्न हुए बिना समाधान को व्यक्त नहीं कर सकते। इसको मैंने आजमा लिया। इसको अथा से इति तक छू–छू कर देख लिया। स्वयं में समाधानित होने के बाद ही लोकव्यापीकरण की बात है। कोई कोई लोग थोड़ी बात को पा कर प्रसन्न हो जाते हैं, व्यक्त हो जाते हैं। कोई थोड़ा ज्यादा पा कर प्रसन्न हो पाते हैं, तो कोई पूरा पा कर ही प्रसन्न हो पाते हैं। वह आपके अपने संस्कार के अनुसार ही होगा। उसका कोई मात्रा निश्चित नहीं किया जा

सकता। सन् 1975 से अब तक लोगों के साथ काम करने में मैंने जो अनुभव किया वह यही है। अपने में प्रसन्नता की स्थली को पाये बिना हम व्यक्त नहीं हो सकते।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

प्रमाण के बिना परम्परा नहीं है

सह अस्तित्व समझ में आए बिना, जीवन समझ में आए बिना मानव का जीना तो बनेगा नहीं! समझदार होना है, फ़िर समझदारी को जीने में प्रमाणित करना है, इतनी सी बात है। जीवन जागृति मानव परम्परा में ही प्रमाणित होती है। मानव परम्परा में यह चार जगह पहुँचता है आचरण, शिक्षा, संविधान, व्यवस्था। इन चार जगह में यदि जीवन जागृति पहुँचा, तो मानव परम्परा प्रमाणित हुआ।

अभी इस प्रस्ताव पर आधारित व्यवस्था बनी नहीं है, इसलिए प्रवर्तनशील होने की आवश्यकता है। प्रवर्तनशील होना अर्थात् दूसरों तक इस बात को पहुँचाने के लिए प्रयासरत होना। व्यवस्था हो जाने के बाद स्वभावशील होना बनेगा। स्वाभाविक रूप में एक पीढ़ी अपनी समझदारी को आगे पीढ़ी को अर्पित करेगा।

प्रश्नः क्या स्वयं अनुभव सम्पन्न होने से पहले दूसरों को समझाने निकल पड़ने में कोई परेशानी नहीं है? क्या ऐसा करने से स्वयं के अध्ययन से ध्यान बंटने की सम्भावना नहीं है?

उत्तरः "सम्भावना" के अर्थ में आपकी बात सुनने योग्य है, सोचने योग्य है। मानव जैसा और जितना समझता है, उतना व्यक्त होता ही है। जिसकी जितनी और जैसे व्यक्त होने की प्रवृत्ति है, वह उतना और वैसे व्यक्त होता ही है। उसके साथ ईमानदारी जुड़ी ही रहती है। समझ के इस प्रस्ताव को लेकर ईमानदारी के साथ ही चला जाता है।

17_samvaad_part2_2013_c

हमारा लक्ष्य है अनुभव जीने में प्रमाणित होना। अभी हम जहाँ हैं वह हमारी आज की यथास्थिति है। लक्ष्य और यथास्थिति इन दोनों के प्रति स्पष्ट हुए बिना आगे बढ़ने का कोई स्पष्ट कार्यक्रम बनता नहीं है।

अधूरे में कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

फ़िर भी इस रास्ते पर जो जितना प्रवर्तनशील है, वह धन्यवाद का पात्र है। प्रवर्तनशील होने की चार चरण बनी। इन चार चरणों में (जीवन विद्या से जुड़े लोग) सभी हैं।

(1) प्रस्ताव की सूचना देने में प्रयासरत होना।

(2) पढ़ाने के लिए प्रयासरत होना।

(3) समझाने के लिए प्रयासरत होना।

(4) प्रमाणित करने के लिए प्रयासरत होना।

सूचना दिया, उससे भी व्यवस्था बनने के लिए गति में कुछ योगदान हुआ। जो आज सूचना ही देता है, कल उसकी पढ़ने में प्रवृत्ति बनती है। जो आज पढ़ाता है, उसकी कल समझने में प्रवृत्ति बनती है। जो आज समझाता है, कल उसकी प्रमाणित करने की प्रवृत्ति बनती है। इस तरह एक से एक कड़ियाँ जुड़ी हैं।

प्रमाण परम है। प्रमाण के बाद परम्परा बनती ही है। यह बात सही है प्रमाण के बिना परम्परा नहीं है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

समझने की संभावना

आचरण क्रम ही वर्तमान को समझना है। अस्तित्व (जो कुछ भी है) नित्य वर्तमान है। स्थूल रूप में हम अस्तित्व को पहचानते हैं।

जैसे यह धरती निरंतर बनी है यह स्थूल ज्ञान है। सूक्ष्म रूप अर्थात् वैचारिक रूप में हम अस्तित्व को पहचानते हैं। वैचारिक रूप में अस्तित्व "नियम", "नियंत्रण", "संतुलन", "न्याय", "धर्म" और "सत्य" के रूप में पहचान में आता है। उससे भी गहन कारण स्वरूप में अस्तित्व "होने" और "रहने" के रूप में समझ आता है। यह है सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान। यह अनुभवमूलक विधि से ही होता है। यह मुख्य बात है।

मानव ने चार विषयों और पाँच संवेदनाओं के ज्ञान के साथ जी कर देख लिया। उसके बाद भी कुछ समझना शेष बचा रहा। मानव वैचारिक स्तर पर बहुत सोचा है। व्यवहारिक स्तर पर बहुत कुछ किया है, कुछ करना शेष भी है। किंतु ज्ञान स्वरूप में अस्तित्व को जो पहचाना है, समझा है, जिया है ऐसे सत्यापन के साथ जिए हुए व्यक्ति धरती पर बिरले ही होंगे। इस तरह सत्यापित करने वाले आदमी को मैं अभी तक पहचाना नहीं हूँ। मैं यहाँ आप को सत्यापित करके बता रहा हूँ मैं इन मुद्दों को समझा हूँ, जिया हूँ। **यदि आप मेरे इस सत्यापन पर यकीन कर सकते हैं, तो आप मुझसे सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व को समझ सकते हैं। यदि आप यकीन नहीं कर सकते तो यह समझने का रास्ता आप अपने लिए बंद कर लेते हैं।** स्थूल रूप में आज भी स्कूलों में विद्यार्थी अपने अध्यापकों को सही मान कर ही उनसे पढ़ते हैं। जिस दिन उन्होंने अध्यापक को ग़लत मान लिया, उसी तिथि से उनका अध्यापक से सीनाजोरी शुरू हो जाता है। आप और मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही धर्म संकट है! कुछ बात को आप मान कर चलते हैं और उसका जीने में परीक्षण करते हैं। वह परीक्षण में सही उतरता है, तो सम्मान बचता है। सही नहीं उतरता तो सम्मान बचता नहीं है! इतना ही बात है। यह सबके रहते आप यहाँ जो जिज्ञासु ज्ञानी, विज्ञानी बैठे हैं, साथ में कुछ अज्ञानी भी बैठे होंगे, उनसे मेरा यही विनय है यदि आप ठीक से समझना चाहते हैं तो आप सबके पास

वह माद्दा है। हर मानव में कल्पनाशीलता है, जिसके सहारे वह समझदार हो सकता है। सह अस्तित्व नित्य वर्तमान है। इसको समझने वाला केवल मानव ही है दूसरा कोई नहीं है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006 कानपुर)

समझदारी का लोकव्यापीकरण

समझदारी प्राप्त होना और समझदारी को प्रमाणित करना दो अलग अलग संसार ही हैं। लोकव्यापीकरण में जीने के स्वरूप की आवश्यकता है। समझदारी का लोकव्यापीकरण भाषण बाजी से नहीं होता। प्रमाणों के साथ ही लोकव्यापीकरण होता है। स्वयं प्रमाण स्वरूप में रहते हुए, उसको अन्य में वितरित करने की बात है।

जीने के स्वरूप के लिए हर बात के उत्तर की आवश्यकता है। आदमी कैसे रहेगा? परिवार कैसे रहेगा? समाज कैसे रहेगा? व्यवस्था कैसे रहेगा? संविधान कैसे रहेगा? हर बात के उत्तर की आवश्यकता है। यह न "कम" है, न "ज्यादा" है।

समाधान सम्पन्नता में परमुखापेक्षा (दूसरे के दान देने की अपेक्षा) नहीं रहता। समस्या ग्रस्त मानव ही परमुखापेक्षा करता है। समझदारी का लोकव्यापीकरण दान पर आधारित नहीं होगा। समृद्धि के साथ ही समाधान की गति है। बोलना आना कोई "जीना" नहीं है। जीने में समाधान ही होगा, समृद्धि ही होगा। उससे कम में मानव के स्वरूप में "जीना" नहीं बनेगा। "बोलना" सूचना है। समाधान समृद्धि पूर्वक "जीना" ही प्रमाण है।

मध्यस्थ दर्शन से पहले जो कुछ भी प्रतिपादित हुआ उसमें "परिवार" की कोई बात नहीं है। व्यक्ति की बात है और फ़िर व्यक्ति से सीधे समाज की बात है। परिवार की कड़ी ही छूट गयी। "परिवार" शब्द मानव परम्परा में ज़रूर है, लेकिन शास्त्रों में नहीं है। मानव

परिवार का क्या प्रारूप होगा यह बात आज तक आए शास्त्रों में नहीं है। व्यक्ति और समाज के बीच की कड़ी परिवार ही है। सह अस्तित्ववाद को छोड़ करके इस कड़ी को कोई जोड़ नहीं सकता।

मानव जाति में शुभ स्वरूप में जीने की अपेक्षा तो है। यही समझदारी का लोकव्यापीकरण होने का आधार है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अपने पराये की मानसिकता ही अपराध प्रवृत्ति है

अपने पराये की मानसिकता ही अपराध प्रवृत्ति है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है सभी देशों की सीमा रेखाओं पर तैनात फौजें। क्या काम है वहाँ पर? दोनों भूखंडों के बीच में 10 15 फुट की दूरी में जो दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करेगा, उसको मारेंगे! डंडे से लेकर, गोली बारूद, प्रक्षेपास्त्र, परमाणु बम तक सब हथियार तैयार रखे रहते हैं। इन सब का प्रयोग वहाँ वैध माना गया है। यही अपने पराये की मानसिकता छोटे स्तर पर परिवार परिवार के बीच कटुता, समुदाय समुदाय के बीच कटुता के रूप में दिखता है।

सभी देशों के संविधान मूलतः गलती को गलती से रोकने, अपराध को अपराध से रोकने और युद्ध को युद्ध से रोकने के अर्थ में हैं। "अपराध करने से अपराध रुकेगा" यह अपराध को वैध मानना हुआ कि नहीं? यह केवल हमारे देश की ही बात नहीं है। सभी देशों में ऐसा ही है। इस तरह धरती के सारे 700 करोड़ लोग अपराध के भागीदार हो गए कि नहीं?

सह अस्तित्व में ज्ञान संपन्न होने से हम अपने पराये की मानसिकता से मुक्त होते हैं, फलतः अपराध मुक्त होते हैं। मानव जाति के अपराध मुक्त हुए बिना धरती का स्वस्थ होना बनेगा नहीं। मानव को धरती पर बने रहना है तो सम्पूर्ण मानव जाति को अपने

पराये की मानसिकता से मुक्त होना ही होगा। यह "चेतना विकास मूल्य शिक्षा" विधि से ही सम्भव है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

जीव चेतना में "न्याय" केवल चाहत के रूप में है

जीव चेतना में जीते हुए मानव में न्याय "चाहत" के रूप में होता है, न्याय "प्रमाणित" होना नहीं बन पाता। जीवन में जो दस क्रियाएं हैं उनमें से साढ़े चार क्रियाएं ही जीव चेतना में प्रमाणित हो पाती हैं। बाकी साढ़े पाँच क्रियाओं के प्रमाणित होने की अपेक्षा बनी रहती है। ऐसे में मानव स्वयं के साथ न्याय चाहता है, पर दूसरों के साथ अन्याय करता रहता है। "स्वयं के साथ न्याय" का मतलब ऐसा निकलता है मेरा सुविधा संग्रह बना रहे, दूसरों का चाहे जो भी हो। यही सोच आगे समुदाय के स्तर पर है, यही देश के स्तर पर है। "मेरे समुदाय के साथ न्याय", "मेरे देश के साथ न्याय"... इसका मतलब यही निकलता है, मेरे समुदाय का सुविधा संग्रह बना रहे, बाकी सब चाहे मिट जाएँ। मेरे देश का सुविधा संग्रह बना रहे, बाकी सब चाहे मरें। ऐसे क्या न्याय होगा?

जीव चेतना में "प्रसन्नता" को न्याय माना, "दर्द" को अन्याय माना। प्रसन्नता और दर्द को संवेदनाओं के अर्थ में पहचाना। जैसे एक परिवार के सदस्य की हत्या हो गयी। उस परिवार के सभी सदस्य दर्द से भर गए। अब क्या करें? उस हत्यारे की हत्या करने से, उसे पीड़ा पहुँचाने से, दर्द से भरे परिवार को प्रसन्नता मिलती है ऐसा सोचा गया। इसको "न्याय" माना। "हमको दर्द नहीं होना चाहिए!" इसको मौलिक अधिकार माना। इस धरती के सभी देशों की न्याय संहिताओं की सोच इस पर बैठा है। "दर्द हुआ", उसके बदले में "प्रसन्न" करने के लिए राज्य व्यवस्था बना दी। किस दर्द के बदले में क्या दंड देना है, इसको संविधान कह दिया। इस तरीके से

न्याय तक हम क्या पहुँच सकते हैं? क्या एक गलती को दूसरी गलती से रोका जा सकता है? क्या एक अपराध को दूसरे अपराध से रोका जा सकता है?

जीव चेतना में जीते हुए न्याय की अपेक्षा जीवन में होती है, लेकिन न्याय को प्रमाणित करने की योग्यता नहीं रहती। न्याय मानव चेतना में ही प्रमाणित होता है। न्याय का मतलब है संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन और उभय तृप्ति। संबंध जीवन और जीवन के बीच होता है। जीवन को समझे बिना न्याय कैसे होगा?

जीव चेतना में जीते हुए संबंधों के नाम तो हम पा गए हैं, पर संबंधों के प्रयोजन पहचान नहीं पाये हैं। इससे जब तक "स्वयम् के लिए अनुकूल" होता रहता है तब तक हम संबंध को निभाते रहते हैं, जब "स्वयं के लिए अनुकूल" नहीं होता या अपनी संवेदनाओं के अनुकूल बात नहीं होती, तो संबंध को नकार देते हैं। जबकि जीवन और जीवन का संबंध निरंतर बना ही हुआ है। संबंधों में न्याय प्रमाणित होने के लिए संबंधों की सटीक पहचान होना आवश्यक है। उसके लिए जीवन को समझना आवश्यक है। शरीर के किसी अंग प्रत्यंग (जैसे हाथ, पैर, दिमाग, हृदय, गुर्दा) में न्याय की प्यास नहीं है। न्याय की प्यास जीवन में ही है। शरीर को हम जीवन माने रहते हैं जीव चेतना में। ऐसे में क्या जीव चेतना में न्याय मिल सकता है?

मानव चेतना पूर्वक न्याय के प्रमाणित होने की प्रथम स्थली है परिवार। इस तरह व्यवस्था का जो स्वरूप निकलता है, वह है परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था। इस तरह संविधान का जो स्वरूप निकलता है वह है, मानवीय आचरण स्वरुपी संविधान।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

प्रश्न और उत्तर

प्रश्न में कौन सा उत्तर मिलता है भला? अभी तक प्रश्न पैदा करने को, शंका पैदा करने को ही विद्वता माना। केवल प्रश्न करके, शंका पैदा करके संतुष्ट रहना नहीं बनेगा उत्तर को अपनाने से संतुष्ट रहना बनेगा। मानव को ही समझने और उत्तर को स्वीकार करने का अधिकार है।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

तत्काल राहत

मानव जाति के इतिहास में जंगल युग से जो भी परिस्थितियाँ उदय होती रही हैं, वे समस्या की ओर ही जा रही हैं। अभी तक के इतिहास में मानव जैसे भी जिया है, समस्याओं को ही निर्मित किया है। हर परिस्थिति समस्या को ही लाया, समाधान को नहीं ला पाया। पीढ़ी दर पीढ़ी समस्याएं बढ़ती ही आयी हैं। समस्याओं से मानव जाति पूरी तरह अब घिर चुकी है। इससे "तत्काल राहत" की आवश्यकता है ऐसा भी मुझसे कई लोग पूछते हैं।

समाधान के अलावा "तत्काल राहत" क्या होगी? समाधान के अलावा आप जो कुछ भी करेंगे समस्या ही पैदा करेंगे। समाधान से तत्काल भी राहत है, दीर्घ काल तक भी राहत है, सर्व काल तक भी राहत है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

संवेदना का मतलब

संवेदना = पूर्णता के अर्थ में वेदना। यह संवेदना की परिभाषा बनी। संवेदनाओं में संतुष्टि मिलता नहीं है इसीलिए वेदना। संवेदनाओं में पूर्णता की अपेक्षा (प्यास) रहते हुए भी अभाव का संकट

बना रहता है, असंतुष्टि बनी रहती है।

संवेदनाओं के अर्थ में जीने से सार्वभौमता को प्राप्त नहीं किया जा सकता। मुझको खाने में जो अच्छा लगता है, वह आपको भी अच्छा लगे ऐसा कोई नियम नहीं है। मुझको जितना सोने की आवश्यकता है, उतनी ही आपको भी हो ऐसा कोई नियम नहीं है। संवेदनाओं के अर्थ में हर व्यक्ति अपने में एक स्वरूप है।

संवेदनाओं में संतुष्टि मिलती नहीं है। संवेदना विधि से मानवीय परम्परा बन नहीं सकती। हम यदि संवेदनाओं में जीने से स्वयं संतुष्ट नहीं हैं, तो अपने बच्चों को क्या संतुष्टि देंगे? इस तरह यही कहना बनता है हमको इतने पैसे से संतुष्टि नहीं हुआ, शायद हमारे बच्चे इससे ज्यादा पैसे से संतुष्ट हो जायेंगे! इस तरह की सोच बनती है।

मानव समझदारी पूर्वक (सह अस्तित्व में अनुभवपूर्वक) ही न्याय सम्मत कार्य व्यवहार करता है। समझदारी यदि नहीं है, तो न्याय संगत कार्य व्यवहार नहीं करता, संवेदना संगत कार्य व्यवहार करता है। संवेदना संगत कार्य व्यवहार से न्याय नहीं मिल सकता।

समझदारी सबको मिल सकता है। हर मानव समझदार होने योग्य है। हर व्यक्ति को समझदारी पूर्वक न्याय मिल सकता है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

संगीत का सार्थक स्वरूप

भारतीय संगीत परम्परा का अपना एक इतिहास है।

काल खंड को "ताल" कहा। काल खंडों की श्रृंखला को "लय" कहा। ताल के अनुसार राग होगा और राग के अनुसार लय होगा ऐसा सोचा गया। स्वर सहित राग और स्वर विहीन राग इन

दोनों के बारे में सोचा गया। सप्त स्वरों को पहचाना गया। स्वरों के मूल स्त्रोत के बारे में सोचा गया। जैसे कोई स्वर का मूल स्त्रोत वृषभ (सांड), तो दूसरे स्वर का मूल स्त्रोत मयूर (मोर)... हर स्वर में तीन स्थायियों को पहचाना गया उच्च, मध्यम और मंद। तीनों स्थायियों पर सातों स्वरों के साथ उच्चारण/गायन कर पाने वाले व्यक्ति को संगीत में "पूर्ण विद्वान" माना।

पंडित ओंकारनाथ ठाकुर जो राष्ट्रीय संगीतकार के रूप में पहचाने जाते थे यहाँ अमरकंटक आए थे। यह 1960 दशक के अन्तिम भाग की बात होगी। उस समय मैं साधना काल में ही था। मैं उस समय मंदिर के पीछे कुटी में रहता था। किसी से मेरे बारे में सुन कर वे मुझसे मिलने पहुँचे। उन्होंने मेरे सामने सातों स्वरों को तीनों स्थाइयों पर तीन तीन स्थितियों पर गा कर सुनाया। जैसे "सा" स्वर को मंद स्थायी पर तीन स्थितियों पर गाना। और उनमें भेद प्रभेद मुझको समझ में आया। वह पहला व्यक्ति था, जिसको मैंने ऐसा सुना है। यह अधिकार घोर अभ्यास के बिना आ नहीं सकता। उनको सुनने से पहले मेरा मानना था संगीत केवल मजमा जमाने की चीज है। ओंकारनाथ ठाकुर को सुनने के बाद मैंने पाया संगीत इतना हल्का चीज भी नहीं है!

भारतीय संगीत में सातों स्वरों प्रयुक्त होने वाले राग को "जनक राग" कहा और उससे कम को "जन्य राग" कहा। जैसे "तोडी" एक जनक राग है। हर "जनक राग" के साथ एक देवी देवता को जोड़ा गया। तोडी राग के देवी देवता का ओंकारनाथ ठाकुर को साक्षात्कार हुआ है, यह किंवदंती थी। मैंने उनसे पूछा आपके बारे में ऐसा सुनते हैं, आपका क्या कहना है इस बारे में? उन्होंने बताया "हर किंवदंती के साथ अतिशयोक्ति जुड़ी रहती है। तोडी गाते हुए मैं तल्लीन हो जाता हूँ यह सही है।"

तल्लीन या तन्मय हो जाने को संगीत में "आनंद" या "पूर्णता"

माना गया। संगीत का मतलब है पूर्णता के अर्थ में गीत। पूर्णता को यहाँ अद्वैत मोक्ष ही माना था। इसी अर्थ में गीतों को गाना ही भारतीय परम्परा में संगीत माना गया था। स्वर, ताल, लय, राग जो पहचाने उनमें कोई परेशानी नहीं है। लेकिन संगीत के बारे में सिद्धि चमत्कार जो जोड़ दिए जैसे दीपक राग से दीपक जल जाना, मल्हार राग से वर्षा हो जाना वह सब ग़लत है।

मध्यस्थ दर्शन के इस प्रस्ताव के आने के बाद संगीत की परिभाषा हुई – क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता के अर्थ में गीत गायन। पूर्णता को यहाँ क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता के रूप में पहचाना गया है। यही संगीत का सार्थक स्वरूप है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

पुण्यशीलता

सच्चाई को स्वीकारने में पुण्यशील व्यक्ति देर नहीं लगाते। सच्चाई को स्वीकारने में पुण्यशीलता का प्रभाव रहता है। पुण्यशीलता क्या है? अच्छा करने की इच्छा पुण्यशीलता है। दूसरे, जिसको अच्छा परम्परा में माना गया है उसको बनाए रखना और जिसको बुरा माना गया है उससे दूर रहना। ये दोनों रहने से हम पुण्यशील कहलाये।

पुण्यशीलता के साथ अध्ययन को जोड़ने पर हम में सच्चाइयाँ स्वीकार होती हैं। समझदारी करतलगत होती है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

आगे की पीढ़ी आगे

हर मानव संतान में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता जीवित रहता है। हम अपने बच्चे को कुछ भी समझायें, सिखाएं, करायें उसके बाद भी उसमें यह कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता जिन्दा रहता

है। गणितीय विधि से इसे सोचें जैसे, मैंने आपको कुछ समझाया, उसके बाद आपका कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता आपके पास सुरक्षित है, उसको आप जोड़ते हैं तो आप मुझसे आगे हो ही गए! यही आधार है आगे की पीढ़ी हमसे आगे ही होगी! आगे की पीढ़ी के हमसे और अच्छा होने की नियति सहज व्यवस्था बना हुआ है।

मैं अनुसन्धान पूर्वक अपने पराये से मुक्त हुआ, भय मुक्त हुआ और समाधान समृद्धिपूर्वक जीना सिद्ध कर पाया। वह ज्ञान आपमें प्रवेश होता है, आप उसको पूरा स्वीकार लिए, उसके बाद आप अपना कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता उसमें जोड़ते हैं, तो आप मुझसे अच्छा जी ही सकते हैं, मुझसे अच्छा दूसरों का उपकार कर ही सकते हैं। अभी मैं न्यूनतम स्वरूप में उपकार कर रहा हूँ। इस तरह आगे आगे पीढ़ियों का मुझसे अच्छा जीने, मुझसे अच्छा उपकार करने का रास्ता खुल गया।

समझदारी के बाद ही उपकार करने की योग्यता आती है। यह तो पहले हम बात कर चुके हैं। समझदारी से पहले कोई उपकार कर नहीं पायेगा।

आगे पीढ़ी इस बात को मुझसे तो अच्छा ही प्रस्तुत करेगा। ऐसा मेरा विश्वास है। यदि यह हो पाता है, तो मानो परम्परा बदलेगा। यह प्रस्ताव मानव परम्परा की आवश्यकता है। आज इस प्रस्ताव की जितनी आवश्यकता महसूस की जा रही है, ऐसा 25 वर्ष पहले नहीं था। परिस्थितियाँ मानव को इस प्रस्ताव को अपनाने के लिए मजबूर कर रहा है।

मैं मानव परम्परा में विश्वास करता हूँ। मानव परम्परा पर यदि मैं विश्वास नहीं करता, तो इसको लेकर क्यों आप लोगों से जूझता? मैंने मानव के जीने का न्यूनतम सुंदर मॉडल प्रस्तुत कर

दिया है। सर्वोत्तम सुंदर मॉडल के लिए आगे परम्परा के लिए जगह रखा है! आगे की पीढ़ी आगे ही होगी।

(अगस्त 2006 अमरकंटक)

बड़े बुजुर्गों का सहमत होना पर्याप्त है

बड़े बुजुर्गों का सहमत होना पर्याप्त है। प्रौढ़ पीढ़ी के अभिभावकों का सहयोग करना आवश्यक है। युवा पीढ़ी का प्रयत्न करना, पूरा अध्ययन करना बहुत आवश्यक है। कोई बिरला बुजुर्ग व्यक्ति अध्ययन करके समझदार बनेगा। प्रौढ़ पीढ़ी में उससे ज्यादा लोग अध्ययन करेंगे। युवा पीढ़ी में सबसे ज्यादा लोग अध्ययन करेंगे, कम से कम लोग छिटकेंगे। बचपन में सभी इसको समझेंगे। इस ढंग से आगे पीढ़ी आगे! इससे पिछली पीढ़ी वालों द्वारा अगली पीढ़ी को नालायक मानने की बात समाप्त होती है।

(अक्टूबर 2010, बांदा, उ.प्र.)

प्रचलित विज्ञान की समीक्षा

रूप, गुण, स्वभाव और धर्म का विखंडन नहीं किया जा सकता। रूप, गुण, स्वभाव और धर्म अविभाज्य हैं।

प्रचलित विज्ञानियों का हठ है रूप और गुण (इंद्रिय गोचर पक्ष) को मानेंगे, स्वभाव और धर्म को नहीं मानेंगे! स्वभाव (मौलिकता, प्रयोजन) कुछ होता है, धर्म (व्यवस्था) कुछ होता है यह प्रचलित विज्ञान नहीं मानता। यह सोच ही विखंडनवादी है।

स्थिति और गति अविभाज्य है। स्थिति से आशय है "होना"। गति से आशय है "प्रगटन"। प्रचलित विज्ञान गति को तो मानता है, स्थिति ("होना") को नहीं मानता। इकाई का होना (या उसकी स्थिति) उसके स्वभाव और धर्म द्वारा इंगित है। इकाई का परस्परता में

17_samvaad_part2_2013_c

प्रगटन (या उसकी गति) उसके रूप और गुण द्वारा इंगित होती है।

प्रश्नः विज्ञानी ऐसा तो नहीं कहते कि धर्म और स्वभाव को नहीं मानेंगे...

उत्तरः वे जो भी कहते हों, यह मेरे अनुभव की रौशनी में प्रचलित विज्ञान का समीक्षा है। विज्ञान भाषा व्यापार भाषा में ही जुड़ती है। विज्ञान उपयोग में तकनीकी और औषधि के रूप में आता है। इन दोनों के कार्यक्रमों में विखंडनवादी सोच साफ़ दिखती है। दोनों व्यापार के लिए समर्पित हैं। बिना टुकडा किए (विखंडन किए) व्यापार होता नहीं है। व्यापार धोखाधड़ी से मुक्त नहीं है। व्यापार न्याय से जुड़ता नहीं है।

प्रचलित विज्ञान की यही सोच उसे ज्ञान व्यापार की तरफ़ ले गयी। पेटेंटीकरण (इंटेलेक्टयूल प्रापर्टी राइट) महान अपराध है।

प्रचलित विज्ञान ने भाग विभाग से संपूर्ण को सोचा। भाग विभागों को जोड़ कर संपूर्ण बना सकते हैं यह सोचा। भाग विभागों को कृत्रिमता पूर्वक बना सकते हैं यह सोचा। इस सोच से सार्थक जो निकला वह है दूर संचार। अधिकाँश रूप में विखंडनवादी सोच से विनाश ही हुआ।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

प्रचलित विज्ञान का मूल्यांकन

मध्यस्थ दर्शन से सर्व मानव का लक्ष्य निकला समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व। अभी का विज्ञान क्या करना चाहता है, उसको भी सोचा जाए?

अभी के विज्ञान से जो कल्याण हुआ है और जो नाश हुआ है, उसका मूल्यांकन किया जाए। विज्ञान से सकारात्मक भाग में दूर

संचार मिला है। नकारात्मक भाग में धरती बीमार हो गयी, प्रदूषण छा गया और अपने पराये की दूरियाँ बढ़ गयी। ये तीनों अनिष्ट का कारण हो गया। दूर संचार इष्ट का कारण हुआ जो विज्ञान युग का देन है। दूर संचार भी विज्ञान की चाहत से मानव जाति को हासिल नहीं हुआ। प्रौद्योगिकी विधि से हासिल हुआ। विज्ञान युग आने के पहले से ही पहिये का आविष्कार हो ही चुका था। पहले मानव ने खुद उसको घुमाया, फिर जानवर से घुमाया। विज्ञान युग में यंत्र को बनाया। यंत्र में ईंधन का संयोग किया। उससे धरती, पानी, हवा पर चलने वाले यान वाहन बना लिए।

आदर्शवादी युग में भी अपने पराये की दूरियाँ रही। दूरी पहले से रहा, जो विज्ञान युग के आने से और बढ़ गया।

(मई 2007, अमरकंटक)

देखना समझना

देखने का मतलब है समझना। समझ में आता है तभी देखा, नहीं तो क्या देखा? यदि आप कोई वस्तु को देखते हैं और वह आप को समझ में नहीं आता है तो आपने उसको देखा है, उसका क्या प्रमाण है?

देखा है, पर समझा नहीं है उसी जगह में सकल अपराध होते हैं।

समझा नहीं है, पर अपने को समझा हुआ मान लिया है, उसी जगह में सारे गलतियाँ/ अपराध होते हैं।

नासमझी ही गलती और अपराध का आधार है।

जैसे आप अपने भाई को देखते हो, लेकिन भाई के साथ अपने **संबंध** को नहीं समझते हो तो उस संबंध में आप से

गलती / अपराध होना संभावित है। संबंध में जो मूल्य निर्वाह होना चाहिए, वह नहीं हो पाना ही संबंध में गलती / अपराध करना है।

उसी तरह अस्तित्व अपने में एक व्यवस्था है। यह व्यवस्था हमें समझ में नहीं आता है तो हम गलती और अपराध के अलावा क्या करेंगे? गलती करते हैं, फ़िर उस गलती को दूसरी गलती से रोकने का प्रयास करते हैं। अपराध करते हैं, फ़िर उस अपराध को दूसरे अपराध से रोकने का प्रयास करते हैं। जब तक हम अस्तित्व की व्यवस्था को नहीं समझते तब तक हम गलती और अपराध के अलावा और कुछ कर ही नहीं सकते।

मानव अस्तित्व में व्यवस्था को समझने के बाद ही स्वयं व्यवस्था में जीने को प्रमाणित कर सकता है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

आज्ञापालन और कृतज्ञता

अध्ययन कराना स्वेच्छा से स्वयंस्फूर्त होता है। अध्ययन करना यह स्वेच्छा से होता है। इसमें कोई विकसित चेतना में पारंगत होने के पश्चात् भय प्रलोभन शामिल नहीं है। इसमें कोई "आज्ञापालन" भी शामिल नहीं है। आज के समय में आज्ञापालन तो कोई नहीं करेगा। आज्ञा का पालन होना ही नहीं है तो आज्ञा देने का क्या फायदा? हमारे समय तक आज्ञापालन जो होना था, हो गया। समझने के लिए प्रस्ताव है उससे आप संतुष्ट होते हैं, तो उसको समझने के लिए आपकी प्रयत्न है।

आज के समय कृतज्ञता तो मूल्यों के रूप में रहेगा। लेकिन आज्ञापालन होना बहुत मुश्किल है। यदि उपकृत होते हैं, तो कृतज्ञता सर्वाधिक लोगों में है। प्रचलित विज्ञान विधि से चलने पर

कृतज्ञता की बात नहीं आती। कृतघ्नता होती है। जो सिखाता है, उसी के प्रति विरोध और शत्रुता की बात आती है। अभी आप स्कूल कॉलेज में अध्यापकों पर विद्यार्थियों द्वारा हमला करने, गोली से मारने तक की बात सुनते ही हैं।

आज हमारे देश में लाभोन्मादी, भोगोन्मादी, कामोन्मादी शिक्षा के लिए सभी तत्पर हैं। उसको चाहते हैं, तभी ऐसा है। ऐसे में हम यह सह अस्तित्ववादी प्रस्ताव को रख रहे हैं। इसमें से कुछ पुण्यशीलों को यह अपील हो रहा है। प्रस्ताव आने पर लोगों का ध्यान धीरे धीरे इसकी तरफ़ जा रहा है। आदमी में सहीपन की अपेक्षा है तभी ऐसा है।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

समझ को जीने का स्वरूप

शब्द को बोलना समझ का प्रमाण नहीं है। शब्द को बोलकर बता देना कोई "समझ" है यह मैं स्वीकार नहीं करता। समझ को जीना ही समझ का प्रमाण है। समझ को जीने का रूपरेखा/प्रारूप जो मैंने प्रस्तुत किया है वह है, समाधान समृद्धि पूर्वक जीना। अब आगे की पीढ़ी और बतायेगी यदि इसके अलावा भी समझ को जीने का कोई प्रारूप हो सकता है तो! मैं तो समाधान समृद्धि पूर्वक जीने के प्रारूप का ही भविष्यवाणी करूँगा। हर समझदार व्यक्ति समाधान का एक कारखाना है। समाधानित होने के बाद ही व्यक्ति अपने समृद्धि पूर्वक जीने के तरीके का प्रारूप तैयार करता है।

समाधान समृद्धि पूर्वक जीने का परिणाम है उपकार। उपकार है दूसरों को समझदार बनाना और समृद्धि के लिए अपने प्रमाणों से प्रेरणा देना। प्रमाण नहीं है तो प्रेरणा क्या देंगे?

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

जागृत मानव और प्रेरणा

अनुसंधानपूर्वक मुझे जागृत मानव का स्वरूप समझ में आया। मानव ही जागृत होता है यह समझ में आया। जागृत मानव के उस स्वरूप को प्रमाणित करने के लिए मैं स्वयं तैयार हुआ। जागृतिपूर्वक जीने का स्वरूप निकला "समाधान समृद्धि"। समाधान समृद्धि को जीने में प्रमाणित करने वाला व्यक्ति ही जागृत मानव है। इस स्वरूप के अलावा बाकी सब "भ्रम" सिद्ध हुआ। भ्रम से जागृति तक का अध्ययन का रास्ता लगाया। उसको "अनुभवगामी विधि" कहा। अब आप भ्रम से जागृत होने के क्रम में हैं तो उस विधि से बात करो। यदि आप जागृत हो चुके हैं तो उस विधि से बात करो।

प्रश्नः क्या आपको जागृत होने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति से प्रेरणा मिली?

उत्तर : मुझको पूर्ण जागृत मानव प्रेरणा दिए ही हैं, तभी तो मैं जागृति लक्ष्य के लिए सहमत हुआ। सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व में जागृति है इसको मैं विश्वास करता हूँ। अस्तित्व में जो नहीं है, वह होता भी नहीं है। सह अस्तित्व में मुझको प्रेरणा मिलती रही, तभी मैं जागृति के स्वरूप को समझा।

प्रश्न : आज की स्थिति में मैं जब अध्ययन कर रहा हूँ तो आपके जीने, कहने और करने को प्रेरणा स्त्रोत के रूप में स्वीकारता हूँ। आपके लिए इस तरह का प्रेरणा स्त्रोत तो नहीं था?

उत्तर : जीवन शरीर के साथ ही नहीं, शरीर छोड़ने के बाद भी प्रेरणा देने में समर्थ होता है। जागृत जीवन दूसरों की जागृति के लिए प्रेरक होते ही हैं। उनका प्रेरणा जहाँ प्रभावी हो सकता है, वहाँ वे प्रेरणा देते हैं। इसी धरती पर अनेक समाधि संयमपूर्वक अनुभव संपन्न जीवन हैं, जो प्रमाणित नहीं हो पाये हैं। **मुझसे पहले किसी को समाधि नहीं हुआ, संयम नहीं हुआ, अनुभव नहीं हुआ,**

ऐसा मैंने नहीं कहा है। जागृति का प्रमाण मानव परम्परा में नहीं हुआ, अध्ययन गम्य नहीं हुआ यह कहा है। जागृति को मानव परम्परा में प्रमाणित करने का काम, उसको अध्ययन गम्य बनाने का काम मैं कर रहा हूँ। इसके लिए पूर्व में जागृत जीवन मेरे लिए प्रेरक रहे। अभी जैसे आप ही यदि कल जागृति को प्रमाणित करने योग्य होते हो, तो आप में वह कैसे आ गया? यह प्रश्न बनता ही है। उसके लिए आपको जागृत व्यक्ति का प्रेरणा है कि नहीं? प्रेरणा नहीं मिली तो आप में कैसे आ गया? अभी हम बात कर रहे हैं मैं स्वयं जागृत हूँ, उससे आपको प्रेरणा मिल रहा है। इसी प्रकार से मेरी जागृति के लिए मुझे भी पूर्व जागृत जीवनों से प्रेरणा मिली।

प्रश्न : आपको महर्षि रमण और आचार्य चंद्रशेखर भारती श्रृंगेरी शंकराचार्य ने जो साधना करने के लिए जो आशीर्वाद दिया था क्या वह भी प्रेरणा ही थी?

उत्तर : वह भी प्रेरणा ही थी। यहाँ अमरकंटक आने से पहले अनुभव का तो मुझे कोई ज्ञान नहीं था। जिनको मैं पूज्य मानता था उनकी बात को मैंने मान लिया, स्वीकार कर लिया। उनकी बात "अच्छे काम" के लिए प्रेरणा रही क्योंकि मैं प्रमाणित हो गया। यदि मैं प्रमाणित नहीं हो पाता, असफल हो जाता तो "अच्छा काम" क्या होता, "प्रेरणा" क्या होती?

प्रश्न : तो आज की स्थिति में आप यह कह पाते हैं कि उनका आशीर्वाद आपके लिए प्रेरणा थी, क्योंकि आप का अनुसंधान सफल हो गया।

उत्तर : हाँ। शास्त्रों में साधना समाधि के लिए लिखी बात पर उन्होंने बल दिया। "समाधि में ज्ञान होता है" उनके इस निर्देश को मैंने स्वीकार लिया। उन दोनों व्यक्तियों से मैं पूछ सकता था आपको समाधि हुई थी या नहीं? आपको समाधि में ज्ञान हुआ था कि नहीं?

पर उन दोनों व्यक्तियों से मैंने यह सवाल नहीं किया, अपना शंका व्यक्त नहीं किया।

प्रश्नः क्यों नहीं किया?

उत्तर : भयवश। यदि मैं उनसे पूछ लेता "आपको समाधि हुआ है या नहीं?" और वे कहते नहीं! तो मुझे साधनापूर्वक समाधि होगा इस बात पर मैं कैसे विश्वास करता? यदि वे कहते हाँ, हमको समाधि हुआ है। तो मेरा उनसे पूछना बनता ही "आपको समाधि में क्या ज्ञान हुआ?" यह सब पूछने के अपने अधिकार को मैंने इन दो व्यक्तियों पर प्रयोग नहीं किया। इन दो व्यक्तियों के प्रति मेरी श्रद्धा थी, इसलिए मैंने उनकी बात को बिना शर्त मान लिया। उनकी प्रेरणा के अनुसार मैंने साधना किया। साधना के फल में समाधि की स्थिति को भी प्राप्त किया। समाधि के बाद संयम का प्रारूप बनाने में मैंने अपनी कल्पनाशीलता का प्रयोग किया। जिसको करने पर मैंने संयम काल में अस्तित्व का अध्ययन किया, अनुभव किया। अब आप बताओ इसमें किस पर दोष है, किस पर आरोप है? मेरे साधना के सफल होने में उन दो व्यक्तियों का प्रेरणा बलवती नहीं रहा, यह मैं मान ही नहीं सकता। संयम पूर्वक अनुभव संपन्न होने पर अब मैं कह रहा हूँ सम्पूर्ण मानव जाति के पुण्य से मैं सफल हुआ हूँ। इसलिए जो मैंने पाया उसको मानव को अर्पित कर दिया।

प्रश्न : आपकी सफलता मानव जाति के पुण्य से घटित हुई, यह निर्णय आपने कैसे ले लिया?

उत्तर : मानव जाति में "शुभ" की कामना है, पर शुभ घटित नहीं हुआ है। शुभ के लिए प्रयास कर रहे हों या अशुभ के लिए प्रयास कर रहे हों पर हर मानव में शुभ की अपेक्षा है। इस आधार पर मैं मानव जाति का पुण्य मानता हूँ। मैंने जो पाया उसमें सर्वशुभ का सूत्र है। इसलिए मैंने अपने कार्यक्रम को मानव के पुण्य से जोड़ लिया। सर्वशुभ के लिए यह प्रस्ताव पर्याप्त है या नहीं, इसको हर

व्यक्ति अपने में जाँचेगा। जरूरत होगा तो अपनाएगा, जरूरत नहीं होगा तो छोड़ देगा। छोड़ देगा तो आगे और कोई अनुसंधान करेगा सर्वशुभ के लिए। कोई दीवाल नहीं है किसी के लिए। यह बिल्कुल निर्विवाद बात है। यदि आप बुद्धि का प्रयोग करो तो आप यही पायेंगे। निर्बुद्धि की बातों के लिए मेरे पास "क्षमा" बहुत है! क्षमा का मतलब है दूसरे की अयोग्यता से प्रभावित नहीं होना। अयोग्यता से प्रभावित होना अयोग्यता ही है। यह निर्विरोध कार्यक्रम है। इसको करने के लिए मैं कोई पसीना बहा रहा हूँ, ऐसा बिल्कुल नहीं है। स्वाभाविक रूप में हो रहा है।

प्रश्न : समझने की प्रक्रिया में भी क्या कोई संघर्ष नहीं है?

उत्तर : पहले से हम दोनों मानव हैं।

हम दोनों शुभ चाहते हैं।

यह सर्वशुभ के अध्ययन का प्रस्ताव है।

चाहो तो इसका अध्ययन करो, नहीं चाहो तो मत करो!

अध्ययन करने पर आप सर्वशुभ के लिए इस प्रस्ताव में कुछ कमी पाते हो, तो आप आगे अनुसंधान करो।

यह पूरी तरह निर्विरोध और निर्विवाद बात है। निर्विरोध ही मंगल मैत्री है।

यह पूरी तरह सकारात्मक बात है।

सकारात्मकता को नकारना आदमी से बनता नहीं है।

हर मुद्दे पर सकारात्मकता के सार्वभौम आधार का यह प्रस्ताव है।

मानव जाति के लिए एक अद्‌भुत बात तो हुआ है। प्रभावशील होने की जहाँ तक बात है, धीरे धीरे होगा। नियति विधि से परिस्थितियाँ जन मानस को इस ओर सोचने के लिए मजबूर कर रही हैं। 50 वर्ष पहले की तुलना में आज की स्थिति में इस मुद्दे पर सोचने वालों की संख्या लाखों गुना बढ़ गयी है।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

यंत्र और मानव

विज्ञानी जो भी बात किया मानव को छोड़ कर किया। "मानव को छोड़ कर बात करनी है" यह जिद्द पकड़ ली। "यंत्र यह कहता है, गणित यह कहता है" ऐसी व्याख्याएं दी। विज्ञानी का यंत्र पर विश्वास करने का आधार था यंत्र का बारम्बार वही क्रिया करना। उसके साथ यंत्र गति भी ले आया। "यंत्र जिस गति से काम कर सकता है, मानव उस गति से काम नहीं कर सकता।" "यंत्र विश्वास योग्य है। मानव विश्वास योग्य नहीं है।" यह ठहराया। जबकि मानव ही देखता है, मानव ही करता है, मानव ही यंत्र बनाता है। विज्ञानी की सोच यंत्र केंद्रित है, मानव केंद्रित नहीं है।

मानव का "स्वयं पर विश्वास" करने का आधार ही नहीं है विज्ञानी के पास!

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

सकारात्मक सार्थकता

"मानव संचेतना" का अर्थ है स्वयं (जीवन) में निहित मूल्यों को अपने जीने में प्रमाणित करना।

स्वयं (जीवन) में निहित मूल्यों की पहचान अपने संबंधों के आधार पर होती है (व्यवस्था के अर्थ में, मानव लक्ष्य के

अर्थ में)।

संबंधों की पहचान उनमें निहित प्रयोजनों के आधार पर होती है।

हर संबंध का प्रयोजन है व्यवस्था में होना और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करना। संबंध का और कोई प्रयोजन नहीं है।

मूल में अस्तित्व सह अस्तित्व है। इसीलिये सह अस्तित्व नित्य प्रभावी है। इसीलिये अस्तित्व में हरेक एक अपने त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता है। इसी क्रम में मानव मानवत्व सहित एक व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता है।

मानव मानवत्व सहित जीने में असमर्थ है इसीलिये अपराध करता है। शेष तीनों अवस्थाएं (पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था) अपने त्व सहित व्यवस्था होने में समर्थ हैं इसीलिये वे कोई अपराध करते नहीं हैं। इसीलिये मानव जाति को मानवत्व सहित व्यवस्था में समर्थ बनने की आवश्यकता है। जीव चेतना से मानव चेतना में संक्रमित होने पर मानव अपने संबंधों को प्रयोजनों के अर्थ में पहचान पाता है।

मानव के व्यवस्था में होने और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने के आधार पर ही उसके द्वारा "न्याय" करना बनता है। न्याय का मतलब है संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन और उभय तृप्ति। उसी के साथ "मानव चरित्र" स्थापित होता है। उसी के साथ "नैतिकता" स्थापित होती है। मूल्य, चरित्र और नैतिकता अलग अलग नहीं होता। मूल्य होगा तो चरित्र भी होगा। चरित्र होगा तो नैतिकता भी होगा। नैतिकता होगा तो मूल्य और चरित्र भी होगा। इस तरह "मानवीयतापूर्ण आचरण" को मैंने मूल्य, चरित्र और नैतिकता के संयुक्त स्वरूप में पहचाना।

जीव चेतना से मानव चेतना में संक्रमित होने के बाद ही मानव मानवीयतापूर्ण आचरण करता है। उससे पहले एक भी आदमी मानवीयतापूर्ण आचरण नहीं कर पायेगा। मानव चेतना में संक्रमित होने के पहले भी कई आदमी "ज्ञानी" कहला चुके पर मानवीयतापूर्ण आचरण प्रमाणित नहीं हुआ। कई आदमी "विज्ञानी" कहला चुके पर मानवीयतापूर्ण आचरण प्रमाणित नहीं हुआ। अज्ञानी में मानवीयतापूर्ण आचरण प्रमाणित होने का प्रश्न ही नहीं है।

ये निर्णयात्मक प्रस्तुतियाँ हैं। इन निर्णयों में यदि आपको कुछ समझ नहीं आता है, तो उसको समझने के लिए आप अपनी जिज्ञासा व्यक्त कर सकते हैं।

आपकी आवश्यकता होने पर ही आप इनको स्वीकार करेंगे। आपको आवश्यकता नहीं होता है तो आप इनको स्वीकार नहीं करेंगे। यह वैसा ही है जैसा आपको प्यास लगती है तो आप पानी को स्वीकारते हो। "सकारात्मक सार्थकता" इसी विधि से आता है।

आपको यदि इसकी आवश्यकता महसूस होती है और आप इसको स्वीकारते हैं तो यह मेरी आवश्यकता और मेरी स्वीकृति का प्रमाण मिलता है। आपको देख कर तीसरे आदमी में भी इसकी आवश्यकता बन सकती है यह अनुमान किया ही जा सकता है। यदि ऐसा होता है तो इस धरती पर 700 करोड़ आदमियों को इसकी आवश्यकता है, ऐसा मैं अनुमान करूँगा।

700 करोड़ आदमियों के लिए इसे कैसे प्रस्तुत किया जाए इसकी एक निश्चित विधि बनेगी। इसका नाम दिया "शिक्षा विधि"। शिक्षा विधि के लिए तीन प्रबंध दिए (1) मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान, (2) आवर्तनशील अर्थशास्त्र, (3) व्यवहारवादी समाजशास्त्र। इन तीन प्रबंधों का अध्ययन कराने की व्यवस्था दिया। अध्ययन कराने के कार्यक्रम को निःशुल्क रखा। अध्ययन कराने के लिए मुझे कोई

प्रतिफल नहीं चाहिए। ज्ञान और धर्म का व्यापार करना महा अपराध है।

प्रचलित विज्ञान का "ज्ञान" पक्ष अपराधिक है। "तकनीकी" पक्ष ठीक है। प्रचलित विज्ञान के तकनीकी पक्ष को यथावत् रखा जाए, ज्ञान पक्ष पर पुनर्विचार किया जाए। प्रचलित विज्ञान के ज्ञान पक्ष में अस्थिरता अनिश्चयता के स्थान पर अस्तित्व में स्थिरता और निश्चयता के स्वरूप का अध्ययन हो। "अस्तित्व स्थिर है, विकास और जागृति निश्चित है।" इस एक वाक्य में प्रचलित विज्ञान के अपराधिक ज्ञान से विधि ज्ञान में परिवर्तित होने का सूत्र है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

सुख और स्वयं में विश्वास

सर्व मानव में सुखी होने (तृप्त होने) की अपेक्षा है, पर उसे सुख (तृप्ति बिन्दु) मिला नहीं है। "मानव सुखी होना चाहता है" यह निर्णय है। "मानव अभी तक सुखी नहीं हुआ है" यह समीक्षा है।

सुखी होने के लिए "स्वयं में विश्वास" संपन्न होना आवश्यक है।

स्वयं में विश्वास संपन्न होने के लिए "सह अस्तित्व में अध्ययन" पूर्वक अनुभव संपन्न होना आवश्यक है।

हर मानव में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता स्वत्व के रूप में है। सह अस्तित्व में अध्ययन के लिए कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता का प्रयोग आवश्यक है।

मानव द्वारा अपनी कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता के तृप्ति बिन्दु को पहचानने के लिए ही अध्ययन है।

कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता का तृप्ति बिन्दु ही "सुख" है

जो "स्वयं में विश्वास" के रूप में प्रगट होता है।

जीवन ज्ञान को नकारने वाला इस संसार में कोई नहीं है। अपने आप पर विश्वास करने के लिए स्वयं का अध्ययन नहीं चाहने वाला भी क्या कोई होगा? स्वयं पर विश्वास न करना चाहता हो क्या ऐसा भी कोई व्यक्ति होगा? इसी आधार पर शुरू किए स्वयं में विश्वास सुखी होने के लिए ज़रूरी है। उसके लिए ज्ञान, विवेक, विज्ञान संपन्न होने की आवश्यकता है। इन तीनों के लिए सह अस्तित्व में अध्ययन करायेंगे। ये तीनों अध्ययन होने पर अपने आप से स्वयं में विश्वास होता है। फ़िर मानव को विश्वास के लिए बाहर से कोई प्रेरणा की ज़रूरत नहीं पड़ती।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

राजगद्दी और धर्मगद्दी

मानव का अध्ययन करने पर पता चला मानव को आदि काल से कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता का अधिकार है। इसकी गवाही है मानव जंगल से गुफा में, गुफा से झोपड़ी में, कबीले में, गाँव में और आज शहर तक पहुँच गया। इस बीच मानव अपनी सुविधा के लिए और जंगली जानवरों से अपने बचाव के लिए औजार तैयार किया। गाँव कबीला बसने से पहले ही यह औजार तैयार करना हो चुका था। गाँव कबीला बसने के बाद एक गाँव कबीला वाले दूसरे गाँव कबीला वालों के साथ लूट खसोट मार पीट करते रहे। इसमें से ही कोई "मानव" फ़िर सुझाया होगा सबको लूट पाट, झगड़ा करने की क्या ज़रूरत है? सामान्य लोग अमन चैन से रहे; लूट पाट और लड़ने आदि की जिम्मेदारी हम ले लेते हैं। इस तरह "शासन" की शुरुआत हुई।

इसके मूल में यह परिकल्पना दी गयी "ईश्वर ही मूलतः

शासक है।" राजा ईश्वर का ही प्रतिनिधि है। "राजा गलती नहीं करता" यह मान लिया। इस मान्यता के आधार पर राजा का सम्मान हुआ। राजा जो कहता है वही संविधान है यह भी मान लिया। कुछ समय बाद पता चला, यह पर्याप्त नहीं है। तो उसके बाद मंत्रियों को जोड़ लिया मंत्रणा करने के लिए! उसके बाद सभा को जोड़ लिया।

सभा विधि से या राजा विधि से राज्य की सच्चाई पहचान में नहीं आयी। यह दुःख सतत् बना रहा। अमन चैन से रहने का राजगद्दी का आश्वासन् पूरा नहीं हुआ। इसके विपरीत राजगद्दी अपराध ग्रस्त हो गयी।

इसी के साथ धर्मगद्दी तैयार हुई, जिसने आश्वासन दिया पापी को तारने का, अज्ञानी को ज्ञानी बनाने का और स्वार्थी को परमार्थी बनाने का। "पाप, अज्ञान और स्वार्थ ही आदमी को रास्ते से बेरास्ता करता है" यह सोचा गया। अभी तक कोई पापी के तारे होने का, अज्ञानी के ज्ञानी बनने का और स्वार्थी के परमार्थी बनने का कोई गवाही मिलता नहीं है। इसके विपरीत धर्मगद्दी "कीर्ति ग्रस्त" हो गया। धर्मगद्दी के सारे प्रयास समुदायवादी अपने पराये की दीवारों को और ऊँचा बनाने में लग गए। इस ढंग से धर्मगद्दी से भी हम खाली हो गए हैं।

व्यवस्थित होने और व्यवस्था में जीने की मानव में सहज अपेक्षा है। इनके लिए धर्मगद्दी और राज्य गद्दी के आश्वासन झूठे सिद्ध हो गए हैं। समझदारी पूर्वक मानव स्वयं व्यवस्थित रहता है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता है। मानव के समझदारी संपन्न होने के लिए ही मध्यस्थ दर्शन का प्रस्ताव है। समझदारी पूर्वक मानव अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था को प्रमाणित कर सकता है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

ज्ञान

मानव में ऊर्जा सम्पन्नता ज्ञान के रूप में है। भ्रमित रहते तक ऊर्जा का प्रयोग मनुष्य चार विषयों और पाँच संवेदनाओं के रूप में करता है। जागृत होने पर ऊर्जा का प्रयोग मनुष्य तीन ऐषणाओं और उपकार में करता है।

प्रश्न : चार विषयों के लिए क्या ''ज्ञान'' शब्द का प्रयोग उचित है?

उत्तर : ज्ञान के बिना ''प्रवृत्ति'' नहीं है। विषयों के ज्ञान से ही विषयों में प्रवृत्ति है। उसी तरह संवेदनाओं के ज्ञान से संवेदनाओं में प्रवृत्ति है। ऐषणाओं के ज्ञान से ऐषणाओं में प्रवृत्ति है। उपकार के ज्ञान से उपकार में प्रवृत्ति है। ज्ञान के चार स्तर हैं। जिस स्तर के ज्ञान को अपनाते हैं, उसी की व्याख्या अपने जीने में करने लगते हैं। विषयों में प्रवृत्ति और संवेदनाओं में प्रवृत्ति जीव चेतना की सीमा है। ऐषणाओं में प्रवृत्ति और उपकार में प्रवृत्ति से मानव चेतना की शुरुआत है।

पाँच संवेदनाएं और चार विषय यह जीव चेतना की सीमा है। तीन ऐषणाओं पूर्वक जीने से मानव चेतना की शुरुआत है। इसमें संवेदनाएं नियंत्रित रहती है। जीव चेतना में संवेदनाएं नियंत्रित नहीं रहती हैं। इतना ही अंतर है। मानव चेतना से उपकार की शुरुआत है।

मानव चेतना सहज ज्ञान को मध्यस्थ दर्शन में प्रतिपादित किया गया है। जिससे सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान में पारंगत होना और प्रमाणित होना संभव है। जिससे ज्ञान सम्मत विवेक और विवेक सम्मत विज्ञान पूर्वक जीना होता है।

व्यापक वस्तु के प्रतिरूप का नाम है ''ज्ञान''। मानव में ऊर्जा सम्पन्नता ज्ञान के रूप में है। व्यापक वस्तु ही मानव द्वारा ''ज्ञान'' के नाम से प्रकाशित होता है।

व्यापक वस्तु को जो हम अभिव्यक्त कर सकते हैं, संप्रेषित कर सकते हैं, आचरण में ला सकते हैं उसका नाम है ''ज्ञान''। ज्ञान के चार स्तर बताए हैं जीव चेतना, मानव चेतना, देव चेतना और दिव्य चेतना। जीव चेतना से मानव चेतना श्रेष्ठ है। मानव चेतना से देव चेतना श्रेष्ठतर है। देव चेतना से दिव्य चेतना श्रेष्ठतम है। जिस स्तर पर आप जीना चाहें जियें! हमारा कोई आग्रह नहीं है आप ऐसे ही जियें।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

मानव का अधिकार

''होने'' का नाम है अस्तित्व। ''रहने'' का नाम है अधिकार। अस्तित्व सह अस्तित्व है। सह अस्तित्व = व्यापक वस्तु में एक एक वस्तुएं अविभाज्य वर्तमान है। अस्तित्व चार अवस्थाओं के रूप में प्रकट है। पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था और ज्ञान अवस्था के रूप में जो है वही अस्तित्व है। पदार्थ अवस्था का ''अधिकार'' या ''रहने'' का स्वरूप है होने को बनाए रखना। प्राण अवस्था का ''अधिकार'' है अस्तित्व सहित पुष्टि। एक से अनेक स्वरूप में अवतरित होने का अधिकार प्राण अवस्था में है। जीव अवस्था में वंश के अनुसार रहने का ''अधिकार'' है। जैसे गाय का बछड़ा गाय वंश के अनुसार रहने का अधिकार के साथ ही जन्म लेता है। मानव (ज्ञान अवस्था) में देखते हैं तो उसके ''रहने'' का निश्चित स्वरूप या ''मानव का अधिकार'' तय ही नहीं हुआ। इसका कारण है मानव का अध्ययन नहीं हुआ। हर मानव अभी अपने अलग स्वरूप में काम करता है। अभी मानव अलग अलग परिस्थितियों में अलग

अलग स्वरूप में काम करता है। इस कारण से मानव के निश्चित आचरण का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया। स्पष्ट होने की जरूरत है या नहीं?

मानव चेतना के साथ ''मानव का आचरण'' या ''मानव का अधिकार'' स्पष्ट होता है। मानवत्व मानव चेतना के साथ है। मानव चेतनापूर्वक यदि मानव जीता है तो वह भ्रम मुक्त हो सकता है और अपराध मुक्त हो सकता है। मानव चेतना की शिक्षा देने से बच्चों में मानवत्व आ सकता है। ''मानव का अधिकार'' है रूप, पद, बल, धन और बुद्धि। इसमें से रूप, पद, बल और धन के अधिकार को मानव उपयोग कर चुका है। इस तरह मानव का आचरण स्पष्ट नहीं हुआ। इसके प्रमाण में नर नारी में समानता आया नहीं, अमीरी गरीबी में संतुलन इससे हुआ नहीं। मानव ने बुद्धि के अधिकार का प्रयोग नहीं किया है। बुद्धि के अधिकार का प्रयोग करने का मतलब है समझदारी पूर्वक जीना। मानव को अधिकार पूर्वक जीने के लिए ''समझदारी'' का उपार्जन करना आवश्यक है।

(नवम्बर 2009, अछोटी)

कर्म फल सिद्धांत

हर क्रिया का फल होता है। कोई क्रिया ऐसी नहीं है, जिसका फल नहीं होता हो। मानव भी एक क्रिया है। मानव की हर क्रिया का भी फल होता है। मानव के हर कर्म (कायिक, वाचिक, मानसिक, कृत, कारित, अनुमोदित) का फल होता है। मानव के हर व्यवहार का फल होता है।

पहला सिद्धांत है : "हर कर्म फलवती है।"

हम कुछ भी करेंगे, सोचेंगे, बोलेंगे उसके फल के रूप में समाधान होगा या समस्या होगा। समाधान भी न हो, न समस्या हो,

ऐसा कोई कर्म फल नहीं है।

आदर्शवाद ने विगत में प्रतिपादित किया संसार के साथ असंग या निर्लिप्त विधि से रहने से कर्म का फल नहीं होता है। वह ग़लत है। ऐसी "असंगता" या "निर्लिप्तता" का मनमानी में ही अंत होता है।

दूसरा सह अस्तित्व वादी सिद्धांत है :

"भ्रमित मानव कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर उसका फल भोगने में परतंत्र है।

जागृत मानव कर्म करने में भी स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने में भी स्वतन्त्र है।"

जागृति के बाद मानव के कर्म और उससे होने वाले फल परिणाम दोनों निश्चित हो जाते हैं। इसीलिये जागृति पूर्वक मानव कर्म करने और फल भोगने दोनों में स्वतन्त्र हो जाता है। कर्म फल निश्चित होने के बाद स्वतंत्रता नहीं होगी तो क्या होगा?

भ्रमित मानव अपने कर्म फल के प्रति अनिश्चयता वश कुकर्म कर जाता है। भ्रमित मानव अपने कर्म फल के प्रति निश्चित नहीं है, इसलिए वह फल भोगने में परतंत्र है।

जागृति की ओर दिशा पकड़ लेने पर जीवन शाप, ताप और पाप तीनों से मुक्त हो जाता है। गलतियों की तरफ़ हमारी प्रवृत्ति जब तक है, हम गलतियों का फल भोगने के लिए बाध्य रहते हैं। जिस क्षण से हम सही की तरफ प्रवृत्त होते हैं, गलतियों का प्रभाव हम पर से हट जाता है। दूसरी तरह से देखें तो **अपनी गलतियों का फल भोगने के बाद ही सही की ओर प्रवृत्ति बनती है।**

तीसरा सिद्धांत : "सुकर्मों का फल ही वितरित होता है।"

17_samvaad_part2_2013_c

कुकर्मों का फल वितरित नहीं होता। सुकर्म वे हैं जो नियति सहज कर्म हैं। कुकर्म वे हैं जो नियति विरोधी हैं। सुकर्मों के फल को हर व्यक्ति स्वीकारना चाहता है। कुकर्मों के फल किसी को स्वीकार नहीं होते। नियति उनको छोटा बना कर ही छोड़ती है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अध्याय–2

वस्तु संबंधी स्पष्टीकरण

2.1 अस्तित्व दर्शन

सत्ता में संपृक्त जड़ चैतन्य प्रकृति

व्यापक को आप प्रकृति की इकाईयों की परस्परता में दूरी के रूप में पहचान सकते हैं। व्यापक में संपृक्त जड़ चैतन्य प्रकृति के स्वरूप में सह अस्तित्व नित्य वर्तमान है। व्यापक वस्तु को आप "ईश्वर", "ज्ञान", "परमात्मा", "ब्रह्म", "शून्य" ये सब नाम दे सकते हैं। इसको मैंने नाम दिया है "साम्य ऊर्जा"।

व्यापक में हम "डूबे" हुए हैं, यह समझ में आता है। इससे हम "घिरे" हुए हैं, यह भी समझ में आता है। उसके बाद व्यापक में हम "भीगे" हुए हैं, यह समझ में आना मुख्य मुद्दा है। इस व्यापक वस्तु में आप हम जो ज्ञानी, अज्ञानी, विज्ञानी कहलाते हैं, वे सभी भीगे हैं यह समझ में आना मुख्य मुद्दा है। व्यापक वस्तु पारगामी है। पत्थर शिला धातुओं में भी, वनस्पतियों में भी, जीव जानवरों में भी, मानवों में भी, हर परमाणु, अणु, अणु रचित रचना में भी यह आरपार है। व्यापक में भीगे होने के कारण हर वस्तु ताकतवर है या ऊर्जा संपन्न है।

यह ऊर्जा सम्पन्नता जड़ वस्तुओं (भौतिक–रासायनिक वस्तुओं) में चुम्बकीय बल के रूप में है। यही ऊर्जा सम्पन्नता चैतन्य वस्तु (जीवन) में जीने की आशा से शुरू होती है। इसके बाद यही ऊर्जा सम्पन्नता चैतन्य वस्तु द्वारा विचार, इच्छा, बोध और अनुभव के रूप में प्रगट होती है।

पदार्थ अवस्था और प्राण अवस्था साम्य ऊर्जा सम्पन्नता वश क्रियाशील है, आचरणशील है। जीव अवस्था में जीवन वंश के अनुसार कार्य करता है। गाय का बच्चा गाय के वंश के अनुसार काम करना सीख कर ही पैदा होता है। इसी ढंग से हर जीव जानवर की बात है। इसके बाद आता है मानव। मानव समझदारी के अनुसार

जीना चाहता है। समझदारी के दो भाग हैं एक, मनाकार को साकार करना। दूसरा, मनःस्वस्थता को प्रमाणित करना। इसमें से मनाकार को साकार करने का भाग मानव ने प्रमाणित कर लिया। मनःस्वस्थता का भाग अभी तक नहीं हुआ।

मनाकार को साकार करने का क्रम रहा आहार से आवास, आवास से अलंकार, अलंकार से दूरगमन, दूरगमन से दूरश्रवण, दूरश्रवण से दूरदर्शन। इससे ज्यादा की जरूरत मुझे तो महसूस होता नहीं है। मनाकार को साकार करने में मानव "यांत्रिक विधि" से सफल हुआ है। घर बनाना ("आवास") एक यांत्रिक विधि है। इस तरह विभिन्न वस्तुओं (जैसे मिट्टी, पत्थर, लोहा) को जोड़ कर रचना स्वरूप देने की सामर्थ्य मानव के पास आयी। इसी क्रम में मानव ने आहार, आवास, अलंकार, दूरगमन, दूरश्रवण, दूरदर्शन संबंधी वस्तुओं का इन्तजाम कर लिया।

सभी वस्तुओं का इन्तजाम करने के बाद भी हम परेशान क्यों हैं? समस्या से घिरे क्यों हैं? इसका कारण ढूँढने जाते हैं तो पता चलता है, मानव की सारी समस्याएं मानव के साथ ही हैं। पत्थर, पेड़ पौधे और जीव जानवरों के साथ मानव को कोई समस्या नहीं है।

मानव के साथ समस्या होने का कारण मनःस्वस्थता का अभाव है। मनःस्वस्थता "समाधान" के रूप में आता है, फ़िर "प्रमाण" के रूप में आता है, फ़िर "जागृत परम्परा" के रूप में आता है। मनःस्वस्थता ही जागृत परम्परा का आधार बनेगा। मनाकार को साकार करना जागृत परम्परा का आधार बनेगा नहीं। मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने के लिए समझदारी (सह अस्तित्व में अनुभव) एकमात्र रास्ता है। दूसरा कोई रास्ता नहीं है। ज्ञान से विवेक, विवेक से विज्ञान, विज्ञान से योजना, योजना से कार्य, कार्य से फल परिणाम। फल परिणाम पुनः ज्ञान के अनुरूप होने पर हम समाधानित हुए, नहीं तो हम कोई समाधानित नहीं हुए।

प्रश्न : व्यापक को समझने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर : इसको समझने से व्यवस्था में जीने के लिए हम समर्थ हो जाते हैं। जब तक यह समझ में नहीं आता है, तब तक हम व्यवस्था में जियेंगे नहीं!

"ज्ञान" ज्ञानेन्द्रियों से गम्य नहीं है। नाक से यह सूंघने में नहीं आता। आँख से यह दिखाई नहीं देता। जीभ से यह चखने में नहीं आता। कान से यह सुनाई नहीं देता। त्वचा से यह छूने में नहीं आता। इन्द्रियों से जो गम्य होता भी है वह समझ में आता है। अस्तित्व में वस्तुओं का "प्रयोजन" समझ में ही आता है। "प्रयोजन" आंखों में दिखता नहीं है। इन्द्रियगम्य वस्तु का प्रयोजन इन्द्रियों से गम्य नहीं है। यह केवल समझ में ही आता है। समझता जीवन ही है। समझने वाला भाग आंखों में नहीं आता।

इन्द्रियों से जीवन को सूचना मिलती है, उसको समझता जीवन ही है। जैसे यह वस्तु गर्म है। "गर्म" को समझता कौन है? समझता जीवन ही है। इस तरह इन्द्रियगम्य वस्तुओं में भी समझने का भाग शेष रहता ही है। समझे बिना कुछ इन्द्रियगम्य हुआ, यह हम कह भी नहीं सकते। मृत शरीर में कोई गर्म ठंडे की पहचान सिद्ध नहीं होती।

कोई वस्तु आंखों से दिखता है, पर उसको हम समझे नहीं हैं तो उसको हम देखे हैं, इसका कोई प्रमाण नहीं है।

दो बातें हुई समझ में आया वस्तु 'देखने' को मिलना। दूसरे देखने में आया वस्तु 'समझने' को मिलना।

इन्द्रिय गम्य वस्तुएं हमको देखने के बाद समझ में आता है। जो वास्तविकताएं इन्द्रियगम्य नहीं हैं वे हमको समझने के बाद देखने को मिलता है। जैसे व्यापक वस्तु को आप समझ गए तो आप हमारे बीच की दूरी के रूप में वह आपको दिख गयी। यदि आप व्यापक

वस्तु को समझे नहीं है, तो वह आप हमारे बीच दूरी के रूप में है यह आपसे सत्यापित करना बनेगा नहीं!

प्रश्न : आपने बता दिया, अब हम भी बोल सकते हैं कि व्यापक वस्तु ऐसा है!

उत्तर : आप बोल अवश्य सकते हैं, पर बिना आप उसको समझे, समझा नहीं पायेंगे! इस बात पर जितने प्रश्न बन सकते हैं, उनका सामना करना अनुभव के बिना बनेगा नहीं! व्यापक वस्तु पारगामी है, यह समझाना तभी बनेगा जब व्यापक में आपने स्वयं अनुभव किया हो। यह वैसे ही है जैसे कोई वस्तु खट्टा है, यह दूसरे को समझाना आपसे तभी बनेगा जब आपने स्वयं उसको चखा हो। व्यापक को हम अनुभव के स्तर पर समझते हैं और उसमें सुख पाते हैं। हम स्वयं व्यापक में डूबे हैं, भीगे हैं, घिरे हैं इसका पहला सुख यही है।

मानव में ऊर्जा, ज्ञान सम्पन्नता के रूप में समझ आती है। ज्ञान हमको व्यापक वस्तु के रूप में "प्राप्त" है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

साम्य ऊर्जा कार्य ऊर्जा

सत्ता (व्यापक) में संपृक्त प्रकृति ही अस्तित्व समग्र है।

प्रकृति में जो क्रियाशीलता है, उसके मूल में साम्य ऊर्जा है। व्यापक ही साम्य ऊर्जा है। साम्य ऊर्जा सम्पन्नता से प्रकृति की इकाईयों में चुम्बकीय बल सम्पन्नता है। चुम्बकीय बल सम्पन्नता से ही प्रकृति में क्रियाशीलता है। क्रियाशीलता का स्वरूप है श्रम, गति, परिणाम। क्रियाशीलता से जो ध्वनि, ताप और विद्युत निष्पन्न होता है वह कार्य ऊर्जा है। मूलतः परमाणु की क्रियाशीलता से ही ये (ध्वनि, ताप, विद्युत) निष्पन्न होते हैं। **कार्य ऊर्जा ही आचरण है।**

चैतन्य प्रकृति (जीवन) में भी साम्य ऊर्जा सम्पन्नता से चुम्बकीय बल सम्पन्नता है जिससे उसमें ध्वनि, ताप और विद्युत रहता ही है। जीवन में यह ध्वनि, ताप और विद्युत आशा, विचार और इच्छा के स्वरूप में प्रगट हो जाता है। इनके साथ चैतन्य में ज्ञान भी शुरू होता है। जीवन में जो "ज्ञान" है, वह है पहले चार विषयों (आहार, निद्रा, भय, मैथुन) का ज्ञान, फ़िर पाँच संवेदनाओ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) का ज्ञान, फ़िर मानव चेतना, देव चेतना और दिव्य चेतना का ज्ञान।

मानव ने जड़ प्रकृति की कार्य ऊर्जा के प्रकाशन (ध्वनि, ताप और विद्युत) को विकसित करने को कारीगरी विधि से पहचाना है। इसका सामरिक तंत्रों (युद्ध) में जो उपयोग किया वह नकारात्मक हुआ। समाज गति (दूरगमन, दूरदर्शन और दूरश्रवण) में जो उपयोग किया वह सकारात्मक हुआ।

कार्य ऊर्जा ही आचरण है। आचरण ही नियम है। नियम सभी जगह में आचरण के स्वरूप में व्यापक है। आचरण त्व सहित व्यवस्था के स्वरूप में होता है। यह प्रकृति की हर जड़ और चैतन्य इकाई के साथ है।

साम्य ऊर्जा सम्पन्नता (सत्ता में संपृक्त होने) से चुम्बकीय बल सम्पन्नता है। चुम्बकीय बल सम्पन्नता से कार्य ऊर्जा है। ये दो बातें न भौतिकवादियों को समझ में आए, न आदर्शवादियों को समझ में आए। भौतिकवादियों ने मान लिया कार्य ऊर्जा से चुम्बकीय बल सम्पन्नता है। जबकि वास्तविकता इसका उल्टा है।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

<u>ऊर्जा</u>

सभी संसार एक परमाणु अंश से लेकर परमाणु तक, परमाणु से लेकर अणु रचित रचना तक, अणु रचित रचना से लेकर

प्राणकोषा से रचित रचना तक का क्रियाकलाप स्वयं स्फूर्त होता हुआ समझ में आया। स्वयं स्फूर्त विधि से ही परमाणु का गठनपूर्ण होना समझ में आया।

प्रश्न : परमाणु स्वयं स्फूर्त विधि से कैसे रचना कर दिया और कैसे गठन पूर्ण हो गया?

इसका उत्तर है :– परमाणु ऊर्जा संपन्न है, जिसके क्रिया रूप में वह स्वचालित है। परमाणु अपने में स्वचालित है, उसको कोई ''बाहरी वस्तु'' चलाता नहीं है। हर परमाणु अंश स्वचालित है, हर परमाणु स्वचालित है। इसको देख लिया गया। स्वचालित होने के आधार पर ही गठनपूर्ण हुआ है और रचनाएँ किया है। स्वयंस्फूर्त होने के लिए मूल वस्तु है ऊर्जा सम्पन्नता। सत्ता से प्रकृति का वियोग होता ही नहीं है। इसी का नाम है ''नित्य वर्तमान'' होना।

सत्ता न हो, ऐसा जगह मिलता नहीं है। पदार्थ न हो, ऐसा जगह मिलता है। पदार्थ का सत्ता से वियोग होता नहीं है, पदार्थ को सदा ऊर्जा प्राप्त है इसलिए पदार्थ नित्य क्रियाशील है, काम करता ही रहता है। इस तरह सभी पदार्थ या जड़ चैतन्य प्रकृति का 'त्व सहित व्यवस्था समग्र व्यवस्था' में भागीदारी पूर्वक रहने का विधि आ गई। पदार्थ की स्वयं स्फूर्त क्रियाशीलता ही ''सह अस्तित्व में प्रगटन'' है।

सत्ता को हमने ''साम्य ऊर्जा'' नाम दिया क्योंकि यह साम्य रूप में जड़ और चैतन्य को प्राप्त है। जड़ को ऊर्जा रूप में प्राप्त है, चैतन्य को ज्ञान रूप में प्राप्त है। ज्ञान ही चेतना है, जो चार स्वरूप में है जीव चेतना, मानव चेतना, देव चेतना और दिव्य चेतना। जीव चेतना में जीने से जीवों में तो व्यवस्था होता है, लेकिन मानवों में व्यवस्था होता नहीं है। मानव के व्यवस्था में जीने के लिए कम से कम मानव चेतना चाहिए। मानव चेतना में परिपक्व होते हैं तो देव चेतना में जी सकते हैं। देव चेतना में परिपक्व होते हैं तो दिव्य

चेतना में जी सकते हैं।

साम्य ऊर्जा सम्पन्नता वश प्रकृति में सापेक्ष ऊर्जा या कार्य ऊर्जा है। सापेक्ष ऊर्जा या कार्य ऊर्जा एक ही है। कार्य से जो उत्पन्न हुआ वह कार्य ऊर्जा है। अभी प्रचलित भौतिक विज्ञान में जितना भी पढ़ाते हैं वह कार्य ऊर्जा ही है। साम्य ऊर्जा को प्रचलित भौतिक विज्ञान में पहचानते ही नहीं है।

सत्ता में भीगे रहने से या पारगामीयता से प्रकृति में ऊर्जा सम्पन्नता है। सत्ता में डूबे रहने से प्रकृति में क्रियाशीलता है। सत्ता में घिरे रहने से प्रकृति में नियंत्रण है। इसको अच्छे से समझने के लिए अपने को लगाना ही पड़ता है। अपने को लगाए नहीं, यंत्र इसको समझ ले ऐसा होता नहीं है। यंत्र को आदमी बनाता है।

अस्तित्व नित्य वर्तमान होने से, नित्य प्रगटनशील होने से ही मूल ऊर्जा सम्पन्नता का होना पता चल गया। मूल ऊर्जा सम्पन्नता ही मूल चेष्टा है। चेष्टा ही क्रियाशीलता है। क्रियाशीलता से ही सापेक्ष ऊर्जा है। भौतिक रासायनिक वस्तुओं की परस्परता में दबाव, तरंग और प्रभाव के रूप में सापेक्ष ऊर्जा को पहचाना जाता है। ताप, ध्वनि और विद्युत भी सापेक्ष ऊर्जा है। कार्य ऊर्जा पूर्वक ही इकाईयों का एक दूसरे को प्रभावित करना और एक दूसरे से प्रभावित होना सफल होता है। इस तरह प्रभावित होने और प्रभावित करने का प्रयोजन है व्यवस्था में रहना। प्रभावित होने और करने के साथ परिणति होने की भी बात है। यदि परिणति न होती तो चारों अवस्थाओं के प्रगट होने की बात ही नहीं थी।

कार्य ऊर्जा की मानव गणना करता है। मूल ऊर्जा (साम्य ऊर्जा) की उस तरह गणना नहीं होती। मूल ऊर्जा को हम समझने जाते हैं, तो पता चलता है मूल ऊर्जा सम्पन्नता चारों अवस्थाओं के रूप में प्रगट है। कार्य ऊर्जा का स्वरूप हर अवस्था का अलग अलग है। जैसे जिस तरह जीव जानवर कार्य करते हैं और जिस तरह

मानव कार्य करता है, इन दोनों में दूरी है। मानव जीवों से भिन्न जीने का प्रयास किया है, इस कारण से यह दूरी हो गयी। कार्य करने के स्वरूप को ही कार्य ऊर्जा कहते हैं।

''कार्य ऊर्जा'' में ही आवेशित गति और स्वभाव गति की पहचान होती है। ''कारण ऊर्जा'' या साम्य ऊर्जा में आवेशित गति होती ही नहीं है (अथवा, यह गति विहीन है)। आवेशित गति अव्यवस्था कहलाता है। स्वभाव गति व्यवस्था कहलाता है।

साम्य ऊर्जा न बढ़ती है न घटती है। कार्य ऊर्जा भी न बढ़ती न घटती है। एक दूसरे पर दबाव और प्रभाव के बढ़ने और घटने की बात होती है। उसमें कोई मात्रात्मक परिवर्तन होता नहीं है। कम होना और बढ़ना मात्रात्मक परिवर्तन के साथ ही होता है। दबाव और प्रभाव में आवेशित गति और स्वभाव गति ही होती है। जैसे एक तप्त इकाई है, दूसरी इकाई उसके समक्ष है जो उसके ताप से प्रभावित है। ऐसे में, दोनों इकाईयाँ कार्य ऊर्जा संपन्न हैं तभी वे एक दूसरे को पहचान पाती हैं। पहचान के फलस्वरूप दूसरी इकाई उसके ताप को अपने में पचाती है। अंततोगत्वा दोनों इकाईयाँ स्वभाव गति में पहुँचती हैं।

(अप्रैल 2011, अमरकंटक)

सत्ता के ''होने'' को समझना

आप हमारे बीच में जो खाली वस्तु है, हर परस्परता के मध्य में जो वस्तु है वही सत्ता है। सत्ता पारगामी, पारदर्शी और व्यापक है। व्यापक का अर्थ है सर्वत्र विद्यमान रहना। पारगामी होने के आधार पर जड़ प्रकृति ऊर्जा संपन्न है और चैतन्य पद प्रकृति ज्ञान संपन्न है। सत्ता ही साम्य ऊर्जा है और सत्ता ही ज्ञान है।

सत्ता (ज्ञान) के पारगामी होने के आधार पर ही अस्तित्व

मानव को स्वीकार होता है, अन्यथा मानव में कहाँ से आएगा? ज्ञानगोचर को छोड़ करके हम चलते हैं तो यांत्रिकता के अलावा कुछ मिलेगा नहीं।

प्रश्न : ''सत्ता ही साम्य ऊर्जा है और सत्ता ही ज्ञान है'' इसको कैसे समझें?

उत्तर : जड़ प्रकृति के साथ सत्ता साम्य ऊर्जा है। जड़ प्रकृति में मात्रात्मक के साथ गुणात्मक विकास होने पर गठन पूर्णता होने पर चैतन्य पद (जीवन परमाणु) है। चैतन्य पद में सत्ता ज्ञान है।

प्रश्न : सत्ता की ''पारदर्शीयता'' से क्या आशय है?

उत्तर : आप और हम यहाँ आमने सामने बैठे हैं। आपको मैं पहचान रहा हूँ, मुझको आप पहचान रहे हैं। बीच में सत्ता इस पहचान को रोकता नहीं है। आप अपने को यथावत् प्रस्तुत करें और मैं अपने को यथावत् प्रस्तुत करूँ, इसमें सत्ता सहमत है। इसीलिये सत्ता पारदर्शी है। हम और आप एक दूसरे को देख समझ पा रहे हैं यही सत्ता की पारदर्शीयता का ''प्रमाण'' है।

प्रश्न : जैसे बिजली के कारण वश बल्ब जलता है सत्ता के कारण वश प्रकृति क्रियाशील है। बिजली के स्त्रोत को हम हटा देते हैं तो बल्ब जलता नहीं है इसलिए हमको यह सिद्ध हो जाता है कि बिजली के कारण ही बल्ब जल रहा था। लेकिन सत्ता के साथ ऐसा किया नहीं जा सकता, फिर सत्ता को कारण स्वरूप में कैसे समझें?

उत्तर : सत्ता को हटाया नहीं जा सकता इसलिए सत्ता और प्रकृति के सह अस्तित्व को इस विधि से नहीं सिद्ध कर सकते। ''सत्ता पारगामी है, इसलिए प्रकृति क्रियाशील है'' यह मानव के ''समझ'' में आता है। समझ का मतलब है ज्ञान। मैंने जो ''समझा'' है वह आपको बताया है। जो मैंने बताया है वह आपके लिए

''सूचना'' है। आप भी उस ओर ''ध्यान'' देकर (अध्ययनपूर्वक) उसे ''समझ'' सकते हैं। मैंने भी उसे ''ध्यान'' देकर अध्ययन पूर्वक ''समझा'' है। आपको अपने ''समझने के अधिकार'' का प्रयोग करना है। अध्ययनपूर्वक ''समझने का अधिकार'' हर व्यक्ति में रखा हुआ है। मानव में जो ''कल्पनाशीलता'' है अध्ययन का आधार वहीं से है। ज्ञान सम्पन्नता का आंशिक भाग कल्पनाशीलता ही है। कल्पनाशीलता का आप ''सदुपयोग'' करेंगे तो सत्ता की पारगामीयता, पारदर्शीयता, व्यापकता भी समझ आता है। वही ज्ञान गोचर है। ज्ञान गोचर विधि से मानव ''समझ'' सकता है। इन्द्रिय गोचर विधि से ''समझ'' में नहीं आता है। मानव ज्ञान अवस्था की इकाई है। ज्ञान गोचर विधि से ही मानव की सार्थकता है। ज्ञान गोचर विधि से समझने में केवल जीवन का ही श्रम है, शरीर का कोई श्रम नहीं है। ज्ञान गम्य होने में जीवन ही श्रम करता है। शरीर से कोई श्रम नहीं होता। ज्ञान को परंपरा में प्रमाणित करने के लिए जीवन शरीर द्वारा प्रस्तुत होता है। उसी ढंग से मैं जीता ही हूँ।

''देखने का मतलब ही समझना है।'' कहीं न कहीं इस बात को समझने में हम अटक जाते हैं। शरीर का एक भाग (ज्ञान इन्द्रिय) है ''सुनना'' होता है। जो सुना (जीवन में), उसका कुछ अर्थ होता है। वह अर्थ अस्तित्व में वस्तु है। वस्तु को वस्तु स्वरूप में साक्षात्कार करना ही ''समझने'' का मतलब है। मुझको समझ में आ सकता है तो आपको भी आ सकता है। आँखों से जो दिखता है उससे जो निष्कर्ष निकलता है, बारम्बार उसे गौण करके ''समझने'' को प्राथमिक करने से समझ में आता है।

प्रश्न : पानी में जैसे कपड़ा भीगता है, क्या वैसे ही ज्ञान में जीवन भीगा है?

उत्तर : किसी भी तरह की उपमा विधि से यह पूरा नहीं पड़ता। ज्ञान या सत्ता जैसा और कोई वस्तु नहीं है। उपमा विधि से

''भीगे होने'' की वास्तविकता को समझाने की शुरूआत है। हर परमाणु अंश भीगा है, हर परमाणु भीगा है, शरीर भीगा है, जीवन भीगा है। इसको ज्ञान गोचर विधि से स्वीकारना होता है। भीगे होने का प्रमाण क्रियाशीलता। क्रियाशीलता का कुछ भाग (रासायनिक भौतिक वस्तुएं) इन्द्रिय गोचर होने के साथ ज्ञान गोचर भी है। जीवन संबंधी वस्तुएं और सत्ता केवल ज्ञान गोचर हैं। ज्ञान गोचर पक्ष पर यदि हमको यकीन होता है तो इस बात को ''समझने'' में हमको तकलीफ नहीं होगा। ज्ञान गोचर पक्ष को पहचानना जीवन का अधिकार है, जब हम यह स्वीकार पाते हैं तब हम ''समझ'' पाते हैं। यदि ऐसा नहीं स्वीकार पाते हैं तो नहीं समझ पायेंगे। ज्ञान गोचर पक्ष पर आपका गम्यता कहाँ तक हुआ है, उसको सोचना चाहिए।

प्रश्न : तो क्या अभी आपकी बात हम बिना समझे स्वीकार लें?

उत्तर : समझने पर ही कोई भी बात स्वीकार होता है या अस्वीकार होता है। ''बिना समझे हम स्वीकारेंगे नहीं!'' इस हठ से तो आप इस प्रस्ताव को सुनेंगे ही नहीं। इस प्रस्ताव को ''सुनना है'' या ''नहीं सुनना है'', ''समझना है'' या ''नहीं समझना है'', फिर ''स्वीकारना है'' या ''नहीं स्वीकारना है'' यह आपके अधिकार की बात है। इसका मार्ग है : ''पहले समझने के लिए स्वीकारना (श्रवण)। फिर समझ (शोध) कर स्वीकारना'' (अवधारणा–बोध)।

प्रश्न : तो क्या आपके तर्क को समझ कर ही स्वीकार जा सकता है?

उत्तर : यह प्रस्ताव तर्क नहीं है, स्वयं में शोध की बात है। हम समझ पा रहे हैं या नहीं समझ पा रहे इसका स्वयं में शोध होना। अस्तित्व में वस्तु के रूप में समझ पा रहे हैं या नहीं इसका स्वयं में

शोध होना। अस्तित्व में वस्तु के रूप में समझना ही ज्ञान गोचर है। सत्ता और जीवन को ज्ञान गोचर विधि से ही समझा जा सकता है। इन्द्रिय गोचर विधि से यह होगा नहीं। इन्द्रिय गोचर विधि से केवल इनके लक्षण आते हैं। जैसे, मैं समाधान समृद्धि पूर्वक जीता हूँ, मेरे वह लक्षण आप तक पहुँचता है। वह सूत्र भेदते भेदते जीवन गत होता है। जीवन गत होने पर ज्ञान गोचर होता है। ज्ञान गोचर हो जाने पर वह आपका स्वत्व हो गया। समझ स्वत्व होने पर स्वतन्त्र हो गए। मानव के लिए ज्ञान गोचर विधि से ही तृप्ति बिंदु है। मानव ज्ञान विधि से ही तृप्त होता है। यांत्रिक विधि से मानव तृप्त हो नहीं सकता।

उत्तेजित होकर समझा नहीं जा सकता। शान्तिपूर्वक ही समझा जा सकता है। सत्ता सहज सर्वत्र विद्यमानता, सर्वत्र पारदर्शीयता और सर्वत्र पारगामीयता ज्ञान गोचर है। इन तीनों बातों पर ''ध्यान'' देना होता है। सबसे ज्यादा ज्ञान गोचर कुछ है, तो वह यही है। इस भाषा का क्या अर्थ है इसका शोध करने का दायित्व आपका स्वयं का है। इसीलिये ''ध्यान'' देने के लिए कह रहे हैं। समझने के लिए ध्यान देना होता है, समझने के बाद ध्यान बना ही रहता है। ध्यान का मतलब विधिवत अध्ययन करना ही है। इसके अलावा पूर्णता पाने के लिए दूसरा रास्ता समाधि संयम पूर्वक अनुसंधान है जो अँधेरे में हाथ मारने जैसा है। मिल जाए तो ठीक है, नहीं तो और हाथ मारते रहो। भौतिकवादी विधि से यांत्रिकता हाथ लगती है। यांत्रिकता गलत है ऐसा मैंने नहीं कहा है। यांत्रिकता की सीमा में मनुष्य नहीं है यह कहा है। संज्ञानीयता यांत्रिकता की सीमा में नहीं है।

संज्ञानीयता है सत्ता में संपृक्त प्रकृति को समझना। यह समझ में नहीं आता है तो संज्ञानीयता में प्रवेश ही नहीं हुआ। संज्ञानीयता की शुरुआत ही यहाँ से है। यही मूल मुद्दा है। सत्ता में संपृक्त

प्रकृति में ही परिवर्तन, परिमार्जन और गुणात्मक विकास तक का संबंध बना हुआ है। सत्ता में संपृक्तता समझ में नहीं आता है तो हम कितना भी प्रयास करें वह अधूरा ही रहेगा। ज्ञानगोचर प्रक्रिया जीवन में समाहित है ही। जीवन ज्ञानेन्द्रियों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन्द्रयों) से जो भी देखता है, वह ज्ञान संपन्न होने के लिए ही देखता है। उसमें कोई तकलीफ भी नहीं है। ज्ञानगोचर होने के लिए हमको ज्यादा बल देने की जरूरत है। संपृक्तता समझ में नहीं आ रहा है, उसका कारण है इन्द्रियगोचर और ज्ञानगोचर का भेद स्पष्ट नहीं होना। इन्द्रिय संवेदनाओं से ज्ञान होने के संबंध को हमने स्वीकार लिया है। ज्ञानगोचर विधि में ज्ञान से ही वास्तविकताएं स्पष्ट होना और व्यवहार में उसका संकेत पहुँच जाना होता है। मैंने जो जिया है, उसका तरीका यही है। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

पारगामीयता

प्रश्न : सत्ता पारगामी है, यह आपको कैसे समझ में आया?

उत्तर : पहले मैंने स्वचालित वस्तु को देखा। वस्तु स्वचालित कैसे है? यह शोध करने पर उसके उत्तर में मुझे यह पता चला कि मूलरूप साम्य ऊर्जा सम्पन्नता है, जिससे क्रियाशीलता है और कार्य ऊर्जा के रूप में स्वचालित है। व्यापक वस्तु जड़ प्रकृति के लिए ऊर्जा है और चैतन्य प्रकृति के लिए ज्ञान है। ज्ञान समाधान को छूता है, सार्वभौमता और अखंडता को छूता है।

व्यापक वस्तु सर्वत्र पारदर्शीयता विधि से परस्परता में पहचान के रूप में है। पारगामीयता विधि से हर वस्तु ऊर्जा संपन्न है।

प्रश्न : तो हम स्वचालित वस्तु को देख कर, उसके स्वचालित होने के कारण को पहचानने के लिए अनुमान करते हैं कि इस वस्तु

के चारों ओर फैली व्यापक वस्तु इसमें पारगामी होगी, इसलिए यह स्वचालित है?

उत्तर : कारण पता लगने पर कार्य विधि का पता चलता है। कारण पता चलने के लिए हर व्यक्ति अपने तरीके से अनुमान लगाएगा। अनुमान लगाने का कोई एक तरीका नहीं है।

मेरी साधना विधि में अनुमान की अवधि कम हो गयी स्पष्टता अधिक हो गयी। साधना विधि में जो स्पष्टता हुई, वही स्पष्टता अध्ययन विधि में होने की बात प्रस्तावित की है। हर व्यक्ति साधना विधि से इस स्पष्टता को पायेगा नहीं, इसलिए अध्ययन विधि को जोड़ा है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

नित्य वर्तमानता

वर्तमान को "काल" और "समय" नाम भी मानव ने दिया है। ये सब नाम हमारे सामने रखे हुए हैं। विगत में (आदर्शवाद में) बताया गया था "सत्य नित्य वर्तमान है." ब्रह्म ही सत्य है यह बताया। साथ ही सत्य को अव्यक्त और अनिर्वचनीय भी बता दिया। जगत को ब्रह्म से ही उत्पन्न बताते हुए, जगत को मिथ्या बता दिया। ऐसा बताने से हम संदिग्धता में आ गए थे। (दूसरी ओर) भौतिकवाद समय या काल को खंड खंड करते हुए ऐसी जगह पहुँच गए कि वर्तमान को ही शून्य कर दिया।

इन सब बातों में एक तारतम्यता, संगीत और निश्चयता आने के बारे में मैंने कुछ सोचा है। किस आधार पर? सह अस्तित्व के आधार पर। सह अस्तित्व विधि से हमें नित्य वर्तमानता की बात स्पष्ट होती है।

ब्रह्म को मैंने व्यापक और शाश्वत वस्तु के स्वरूप में

पहचाना। व्यापक वस्तु में सम्पूर्ण जड़ चैतन्य प्रकृति संपृक्त रहने को पहचाना। इसी आधार पर "काल", "समय", "वर्तमान" की बात स्पष्ट होना मुझे स्वीकार हुआ है। हम सब सह अस्तित्व के आधार पर ही वर्तमान को सटीक पहचान पाते हैं।

वर्तमान का मतलब है स्थितिशील और गतिशील निरंतरता। जड़ चैतन्य प्रकृति के लिए यही वर्तमान है। स्थिति गतिशीलता सहित वर्तमान है। जड़ चैतन्य प्रकृति स्थिति गति स्वरूप में वर्तता ही रहता है इसीलिए वर्तमान। जड़ चैतन्य प्रकृति में रूप, गुण, स्वभाव, धर्म निरंतर वर्तता ही रहता है। यह कभी रुकने वाला नहीं है इसलिए वर्तमान।

किसी भी वस्तु का "होना" निरंतरता के अर्थ में है। "निरंतर होना" ही वर्तमान है। "निरंतर होना" ही वैभव है। अस्तित्व में नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म और सत्य निरंतर होने के अर्थ में ही हैं। ये सभी चीजें निरंतर होने के रूप में मुझे अनुभव में आया है। मैं उसमें जीता ही हूँ। उसी आधार पर मैं कह रहा हूँ "होने" के रूप में नित्य वर्तमान है।

"होना" क्या चीज है? व्यापक वस्तु में एक एक वस्तु का डूबा भीगा घिरा हुआ होना यही "होने" का मूल स्वरूप है। यही वर्तमान है। यह निरंतर वर्तता ही रहता है। व्यापक वस्तु में चार अवस्थाएं उनका रूप, गुण, स्वभाव और धर्म सहित निरंतर वर्तता ही रहता है।

सम्पूर्ण खनिज (पदार्थ अवस्था) रूप प्रधान स्वरूप में परिणाम अनुषंगी विधि से निरंतर होना यह वर्तमान है।

सम्पूर्ण हरियाली (प्राण अवस्था) गुण प्रधान स्वरूप में बीज अनुषंगी विधि से होना यह वर्तमान है।

स्वभाव प्रधान स्वरूप में वंश के अनुरूप जीवों (जीव अवस्था) का जीना यह वर्तमान है।

मानव सुख पूर्वक जीने (धर्म प्रधान स्वरूप में, संस्कार अनुषंगी विधि) के रूप में वर्तमान है। जब तक मानव सुख पूर्वक नहीं जीता तब तक मानव का वर्तमान नहीं है। इस तरह से सह अस्तित्व विधि से वर्तमान को पहचानने की बात आयी। यदि इस प्रकार से हम सोच पाते है, समझ पाते हैं और इसमें विश्वास करने की जगह में आ पाते हैं तो हम पाते हैं, वर्तमान में ही हमारा वैभव है। वर्तमान को छोड़ कर मानव का वैभव प्रमाणित होता ही नहीं है।

मानव अपने "धर्म" को सुख रूप में व्यक्त किया है। सुख के बारे में आपको बताया है:

समाधान = सुख = मानव धर्म

समस्या = दुःख = मानव के लिए अधर्म

समस्या मानव को स्वीकार नहीं है। समाधान और सुख ही मानव को स्वीकार है। मानव के जीने में मानव धर्म वर्तना या प्रमाणित होना ही "मानव का वर्तमान" है। मानव धर्म प्रमाणित होने के अर्थ में समाधान निरंतर बना रहना आवश्यक है। समाधान निरंतर बने रहने के अर्थ में सुख निरंतर बने रहना आवश्यक है। यह मानव के वर्तमान का मतलब हुआ।

उसी प्रकार जीवों में स्वभाव प्रधान विधि से वंश के अनुसार होना, जीना यह वर्तमान हुआ। वैसे ही समस्त हरियाली बीज अनुषंगीयता विधि से वर्तमान है। और परिणाम अनुषंगी विधि से समस्त पदार्थ संसार वर्तमान हुआ। इस ढंग से समस्त वस्तुएं सह अस्तित्व में स्वयं वर्तमान हैं।

सम्पूर्ण अस्तित्व ही वर्तमान है। वर्तमान में स्थिति भी है, गति भी है। दोनों मिल करके वर्तमान। स्थिति के बिना गति नहीं होती। अभी तक की परम्परा के मानव के मन में सुदृढ़ होने में थोड़ा

परेशानी आ रहा होगा, अब आगे चल कर इसमें हम और सुदृढ़ हो सकते हैं। मानव संसार स्थिति गति में है। जीव संसार भी स्थिति गति में है।

मूल में सम्पूर्ण वस्तु अपने परमाण्विक स्वरूप में स्थिति गति में है ही। तथा वह एक इकाई के रूप में भी स्थिति गति में है। जैसे यह धरती एक इकाई के रूप में स्थिति गति में है। इसी प्रकार एक सौर व्यूह अथवा ग्रह व्यूह अपने स्थिति गति में हैं। आकाश गंगा भी स्थिति गति में है। इसको हम अच्छे तरीके से स्वीकार कर सकते हैं। इन सब वस्तुओं का होना, इन सब वस्तुओं का सत्ता में संपृक्त रहना और फलस्वरूप ऊर्जा संपन्न होना, स्थिति गति में होना यह वर्तमान हुआ।

अस्तित्व स्वयं स्थिति गति के रूप में नित्य वर्तमान है।

अस्तित्व निरंतर होने के आधार पर हम स्वाभाविक रूप में यह समझ सकते हैं कि अस्तित्व स्वयं में स्थिर है।

अस्तित्व वर्तमान स्वरूप में स्थिर है। वर्तमान = निरंतर होना।

वर्तमान का मूल स्वरूप सत्ता में संपृक्त प्रकृति है। सत्ता कभी न घटता है, न बढ़ता है। प्रकृति कभी भी समाप्त नहीं होता, नाश नहीं होता। इस तरह वर्तमान नित्य, स्थिर और निरंतर बने रहने वाली स्थिति में है।

वर्तमान नाश विहीन स्थिति में है। प्रकृति में "अविनाशिता" दो तरीके से है। परिणाम विधि से अविनाशी (जड़ प्रकृति) और परिणाम विहीन विधि से अविनाशी (चैतन्य प्रकृति)।

चैतन्य प्रकृति में "जीवन" परिणाम विहीन विधि से अविनाशी है, नित्य वर्तमान है। जीवन परिणाम (या मात्रात्मक परिवर्तन) से

मुक्त है। जीवन को अमरत्व प्राप्त है। इस आधार पर जीवन नित्य वर्तमान होना स्वाभाविक हो गया।

जड़ प्रकृति (खनिज और वनस्पति संसार) में परिणाम सहित (या मात्रात्मक परिवर्तन सहित) अविनाशी वर्तमान होना हुआ। उसका मतलब है रचना और विरचना। जैसे घर बनाया मिट्टी पत्थर से, वह विरचित हो गया तो भी वस्तु वहीं का वहीं रहता है। इस प्रकार सभी खनिज वनस्पति जो रचना विरचना में रत हैं वस्तु के रूप में उनका कोई नाश नहीं होता है। रचना के विरचित होने को "विलय" या प्रलय कहते हैं। रचना के बने रहने को "वैभव" (विभव) या यथास्थिति कहते हैं। और रचना के रचित होने को "उद्भव" या सृष्टि कहते हैं। जैसे घर को बनाना = उद्भव, घर का बने रहना = वैभव (विभव) और घर का विरचित हो जाना = विलय। वर्तमान में ये तीनों स्थितियाँ (उद्भव, वैभव और विलय) (उद्भव, विभव, प्रलय) बने ही हैं। वस्तु दूसरे स्वरूप में परिणित होने के बाद दूसरे स्वरूप में है ही! जैसे कपड़ा बनाया, फट गया, चिंदी के रूप में है ही! फिर मिट्टी हो गया तो मिट्टी के स्वरूप में है ही! यह "होने" की बात कभी समाप्त होता नहीं है। किसी न किसी स्वरूप में वस्तु बना ही रहता है। कितने भी बदल गए, कितनी भी परिस्थितियाँ बदल गयी, कितनी भी विकृतियाँ हो गयी कभी भी "होने" की बात समाप्त होता नहीं है।

कोई चीज समाप्त नहीं होती। कोई चीज गुमती नहीं है। इसको चुरा कर ले जाने वाला कोई नहीं है। वस्तु के समाप्त हो जाने का कोई खाका ही अस्तित्व में नहीं है। जो हड्डी पसली बनती है, वह मिट्टी में रहता ही है। पुनः मिट्टी से हड्डी पसली बनता ही है। जड़ प्रकृति में यह रचना विरचना क्रम चला ही है।

अस्तित्व निरंतर होने के स्वरूप में है। अस्तित्व नित्य वर्तमान है।

नित्य वर्तमान होने के आधार पर ही अस्तित्व स्थिर है।

अस्तित्व शुद्धतः नित्य वर्तमान है। अस्तित्व सह अस्तित्व स्वरूप में नित्य वर्तमान है, वैभव है।

यह बात आपके हृदय में पहुँचना चाहिए। अस्तित्व शुद्धतः नित्य वर्तमान है।

"काल" क्या है?

काल के बारे में प्रतिपादित किया है:

क्रिया की अवधि = काल।

यह अवधि मानव का ही बनाया माप दंड है। अस्तित्व में काल खंड खंड रूप में मिलता नहीं है।

मानव को "थोड़ा समय", "ज्यादा समय" कहने के लिए काल खंड की गणना करने की आवश्यकता पड़ी। जैसे धरती एक अपने में घूर्णन क्रिया करता है। एक प्रातः काल से दूसरे प्रातः काल तक। इसको 24 भाग किया। फ़िर हर भाग का 60 विभाग किया। उस हर विभाग का पुनः 60 विभाग किया। ऐसा करते गए। ऐसा करते करते एक ऐसी जगह में आ गए कि यह कह दिया काल है ही नहीं! जबकि धरती पर नित्य सवेरा होता ही रहता है! इस तरह विज्ञान ने कितने झूठ के आधार पर अपना बात खड़ा किया है यह सोचने का मुद्दा है। सोचने पर अफ़सोस भी होता है, कैसे फंस गए?

विज्ञान विखंडन विधि से फंसा है। किसी बात का चीर फाड़ करना, बाल की खाल निकालना, इस विधि से फंसा है विखंडन विधि से ही विज्ञान फिशन फ्यूजन की जगह में पहुँचा। यह धरती के ही विनाश का स्वरूप बन गया। अब उस जगह सोचने की आवश्यकता आ गयी।

हम काल को उपयोगिता, सदुपयोगिता और प्रयोजनशीलता के आधार पर समझ सकते हैं। काल का क्या प्रयोजन है? समयबद्ध

17_samvaad_part2_2013_c

विधि से हम श्वास लेते हैं। समयबद्ध विधि से हम भोजन करते हैं, समयबद्ध विधि से हम उत्पादन कार्यकलाप करते हैं। इसके लिए "काल" का ज्ञान है।

विखंडन कोई सकारात्मक ज्ञान सिद्ध नहीं हुआ। विखंडन समस्याकारी ही सिद्ध हुआ है। विखंडन विधि से हम सभी तरह के तर्क में फंस कर समाधान पाने की जगह से वंचित रह गए हैं। विखंडन विधि समाधान से विमुख होने से ही हम समस्या में फंसने की जगह में आ गए हैं। कितनी भी विखंडन विधि है उससे समाधान मिलता नहीं है। इस बात को आप देख सकते हैं, प्रयोग कर सकते हैं, जाँच सकते हैं और निर्णय कर सकते हैं। अभी सर्वाधिक पढ़े लिखे, आधुनिक विज्ञान की शिक्षा प्राप्त किया हुआ व्यक्ति का मन विखंडन विधि में ही लगा है। पढ़े लिखे हुए व्यक्ति को सर्वाधिक उपयोगी होना चाहिए। पर यह कहाँ हो पा रहा है? जो आज सर्वाधिक पढ़े लिखे, बुद्धिमान माने जाते हैं उनसे उपकार कहाँ हुआ? विखंडन विधि से त्रस्त होने के कारण ही ये उपकार से नहीं जुड़ पा रहे हैं। विखंडन विधि से न परिवार बन सकता है, न समाज बन सकता है। न हम समाधानित हो पायेंगे, न संतुष्ट हो पायेंगे। इसीलिये विखंडन समस्या का कारण हुआ।

विखंडन विधि का दृष्टा बना रहना बुरा नहीं है। लेकिन आचरण में हम सह अस्तित्व विधि से ही अखंडता और व्यवस्था पूर्वक जी पाते हैं। जैसे मानव का शरीर। विखंडन विधि से हम शरीर का संचालन तो नहीं कर पायेंगे। विखंडन विधि से जीवन का संचालन नहीं हो सकता। विखंडन विधि से हम समाधान को प्राप्त नहीं कर सकते। विखंडन विधि से हम नियम पूर्वक आचरण नहीं कर पायेंगे।

वर्तमान में अखंडता विधि से ही हम निरंतर समाधान को पाते हैं। नित्य वर्तमान में ही जागृति सहज वैभव हो पाता है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन, अक्टूबर 2005, मसूरी)

www.madhyasth.org

ज्ञान

ज्ञान होना आवश्यक है यह सबको पता है। ज्ञान क्या है? यह पता नहीं है। मध्यस्थ दर्शन के अनुसन्धान से निकला ज्ञान मूलतः तीन स्वरूप में है – सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान। इस ज्ञान के अनुरूप सोच विचार, सोच विचार के अनुरूप योजना और कार्य योजना, कार्य योजना के अनुरूप फल परिणाम, फल परिणाम यदि ज्ञान अनुरूप होता है तो समाधान है नहीं तो समस्या है। इस तरह संज्ञानीयतापूर्वक जीने की विधि आ गयी।

ज्ञान को समझाने के लिए ''शिक्षा विधि'' के अलावा और कोई रास्ता नहीं है। उपदेश विधि से ज्ञान को समझाया नहीं जा सकता। शिक्षा और व्यवस्था की आवश्यकता की पूर्ति होने के आशय में व्यापक की चर्चा है, पारगामीयता की चर्चा है, पारगामीयता के प्रयोजन की चर्चा है।

पारगामीयता का प्रयोजन है जड़ प्रकृति में ऊर्जा सम्पन्नता और चैतन्य प्रकृति में ज्ञान सम्पन्नता। जड़ प्रकृति में ऊर्जा सम्पन्नता प्रमाणित है कार्य ऊर्जा के रूप में। मानव में ज्ञान सम्पन्नता प्रमाणित होना अभी शेष है। जड़ परमाणु स्वयंस्फूर्त क्रियाशील है बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के! उसी तरह चैतन्य परमाणु (जीवन) को भी स्वयं स्फूर्त क्रियाशील होना है। जीवन परमाणु के स्वयंस्फूर्त काम करने के लिए मानव ही जिम्मेदार है और कोई जिम्मेदार नहीं है। मानव से अधिक और प्रगटन नहीं है, अभी तक तो इतना ही देखा गया है। मानव समाधान पूर्वक जीना चाहता है और संज्ञानीयता पूर्वक ही समाधान पूर्वक जीना बनता है। मानव न्यायपूर्वक जीना चाहता है और संज्ञानीयता पूर्वक ही न्यायपूर्वक जीना बनता है। मानव सत्यपूर्वक जीना चाहता है और संज्ञानीयतापूर्वक ही सत्यपूर्वक जीना बनता है। संज्ञानीयतापूर्वक ही हर मनुष्य न्याय, समाधान (धर्म) और सत्य को

फलवती बनाता है।

न्याय, धर्म (समाधान) और सत्य मनुष्य की कल्पनाशीलता के तृप्ति बिंदु का प्रगटन है। कल्पनाशीलता चैतन्य इकाई के व्यापक में भीगे रहने का फलन है।

व्यापक वस्तु ही ज्ञानस्वरूप में मनुष्य को प्राप्त है। ज्ञान अलग से कोई चीज नहीं है। ज्ञान को जलाया नहीं जा सकता, न तोड़ा जा सकता है, न बर्बाद किया जा सकता है। ज्ञान अपने में अछूता रहता है। ज्ञान को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। ज्ञान संपन्न हुआ जा सकता है। **क्रिया रूप में ज्ञान व्यक्त होता है।** जीवों में जीव शरीरों के अनुसार जीवन चेतना स्वरूप में ज्ञान व्यक्त होता है। जीव शरीरों को जीवंत बनाता जीवन जीव चेतना को ही व्यक्त कर सकता है। जीव चेतना में शरीर को जीवन मान करके वंशानुषंगीय विधि से जीना होता है। मानव शरीर ज्ञान के अनुरूप बना है। सारी पंचायत वही है! वंश अनुषंगीय विधि से मानव जी कर सुखी हो नहीं सकता। जीवन को पहचान कर संस्कार अनुषंगीय विधि से जी कर ही मानव सुखी हो सकता है। शरीर संरचना समान है चाहे काले हों, भूरे हों, गोरे हों। अब हमको तय करना है शरीर स्वरूप में जीना है या जीवन स्वरूप में जीना है।

इस धरती पर पहली बार जीवन का अध्ययन सामने आया है। यही मौलिक अनुसंधान है। इससे मनुष्य जाति के जागृत होने की सम्भावना उदय हो गयी है। परिस्थितियाँ भी मनुष्य को जागृत होने के लिए बाध्य कर रही हैं। सम्भावना उदय होना और परिस्थितियाँ बाध्य करना ये दोनों होने से घटना होता है। संभावना यदि उदय नहीं होता तो परिस्थितियों के आगे मनुष्य हताश हो सकता है, निराश हो सकता है। मैंने जब शुरू किया था तो धरती की यह परिस्थिति हो जायेगी है, यह अज्ञात था। साथ ही सम्भावना भी शून्य था। आज परिस्थिति ज्ञात है धरती बीमार हो गयी है। अध्ययनपूर्वक जागृत होने

की सम्भावना भी उदय हो गयी है।

(अप्रैल 2010, अमरकटंक)

ज्ञान का मतलब है सह अस्तित्व में अनुभव

"ज्ञान" का मतलब है सह अस्तित्व में अनुभव। और कोई ज्ञान होता नहीं है! प्रचलित विज्ञान (भौतिकवाद) या आदर्शवाद के अनुसार "ज्ञान" के नाम पर जो प्रतिपादित हुआ, उससे अपराध ही होता है। लोगों ने उसके अनुसार आचरण करके देख लिया उससे दुर्घटना ही हुई, सद्घटना कोई घटित हुई नहीं। दुर्घटना है धरती का बीमार होना, प्रदूषण छा जाना, व्यक्तिवाद समुदायवाद के रूप में अपने पराये की दूरियाँ बढ़ जाना।

अस्तित्व में मानव एक सामाजिक न्यायिक इकाई है। "साथ साथ होने" की अपेक्षा मानव में सहज है। भौतिकवाद (प्रचलित विज्ञान) और आदर्शवाद दोनों व्यक्तिवाद की ओर ही ले जाते हैं। व्यक्तिवाद का मतलब है समानान्तर विचार धाराएं, जो कभी मिलने वाले नहीं हैं। इससे हम एक दूसरे के साथ दूरी बना कर रखने वाले सब व्यक्तिवाद और समुदायवाद हो गए। दूरी बना कर रखने के कारण हम एक दूसरे के साथ विश्वास पूर्वक जीने में समर्थ नहीं हुए। लोगों को साथ साथ लाने के लिए कृत्रिम आधारों की आवश्यकता बन गयी।

भौतिकवाद ने "सुविधा संग्रह" का कृत्रिम आधार दिया साथ साथ लाने के लिए। लेकिन सुविधा संग्रह का कोई तृप्ति बिन्दु ही नहीं है। सुविधा संग्रह लक्ष्य के साथ चलने पर "संघर्ष" (द्रोह, विद्रोह, शोषण, युद्ध) अवश्यम्भावी हो जाता है। इस तरह भौतिकवाद व्यवहारिक सिद्ध नहीं हुआ।

आदर्शवाद ने "रहस्यमयी ईश्वर" (भक्ति विरक्ति) का कृत्रिम

17_samvaad_part2_2013_c

आधार दिया साथ साथ लाने के लिए। रहस्यमयता में ही "कल्याण" का चित्रण किया। रहस्य के प्रति आस्थाएं बनी। अपने अपने रहस्य के प्रति कट्टरताएं और समुदायवादिता पनपी। समुदायवादिता के साथ "अपना पराया" जुड़ा ही है। इस तरह आदर्शवाद व्यवहारिक सिद्ध नहीं हुआ।

इस तरह दोनों विधियों से मानवों को साथ साथ लाने के प्रयास असफल हो गए। दोनों विधियों से प्रयत्न खूब हुआ, लोगों ने पूरा जी जान लगाए। भक्ति विरक्ति में तत्कालीन "अच्छे" कहलाये जाने वाले लोग जी जान लगाए। सुविधा संग्रह में ज्ञानी, अज्ञानी, विज्ञानी तीनों गोता लगा दिए! इस तरह गोता लगाने पर हम घोर संकट की स्थिति में पहुँच गए, जब धरती ही बीमार हो गयी। अब पुनर्विचार की आवश्यकता बन गयी। साथ साथ लाने के कृत्रिम आधारों पर प्रश्न चिन्ह लग गया।

पूरा मानव परम्परा ही सुविधा संग्रह के चक्कर में उलझा है। पूरा मानव परम्परा ही भ्रमित है। सुविधा संग्रह के लक्ष्य से हम छूटते नहीं हैं। धरती को ही बीमार कर दिया तो रहोगे कहाँ पर? इसलिए पुनर्विचार की आवश्यकता है। पुनर्विचार के लिए मध्यस्थ दर्शन सह अस्तित्ववाद "विकल्प" के रूप में प्रस्तुत है। विकल्प इसलिए क्योंकि यह पिछली दोनों विचार धाराओं से जुड़ा नहीं है।

विकल्प के लिए प्रधान मुद्दा है "ज्ञान" स्पष्ट होना। सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व का दर्शन होना। सह अस्तित्व स्वरूप में पूरा अस्तित्व होने का ज्ञान होना। सह अस्तित्व में ही जीवन ज्ञान होना। सह अस्तित्व में ही मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान होना। यह तीनों समझ में आने से, उससे संतुष्टि मिलने से, उससे तृप्ति मिलने से "ज्ञान" हुआ।

तृप्ति का पहला घाट है "मैं सब कुछ समझ गया हूँ।" सह अस्तित्व में अनुभव होने पर तत्काल स्वयं में यह स्थिति बनती है।

www.madhyasth.org

इसका नाम है "दृष्टा पद"।

इस तरह समझदार होने पर स्वयं को प्रमाणित करने की योग्यता आती है। प्रमाणित करना बराबर अन्य व्यक्ति को अपने जैसा समझदार बना देना। प्रमाणित करने का मतलब यही है। इस तरह एक व्यक्ति यदि दस व्यक्तियों को अपने स्वरूप में परिणित करता है उससे संसार का "उपकार" है। यही "ज्ञान का प्रमाण" है। भौतिकवादी विधि से प्रयोगशाला में अपने शरीर का प्रतिरूप तैयार कर लेने को "ज्ञान" माना है। ईश्वरवादी विधि में चेले बनाने को ज्ञान का प्रमाण माना है। जो जितना ज्यादा चेले बनाता है वह उतना "अच्छा" गुरु! इन दोनों के विकल्प में यहाँ अनेक व्यक्तियों को अपने जैसा समझदार बना लेने को "ज्ञान का प्रमाण" कह रहे हैं।

"मैं सब कुछ समझ गया हूँ।" मुझमें यह विश्वास डगमगाने की बात अभी तक आया नहीं है। सन् 1975 में मैंने यह स्थिति हासिल की थी। तब से आज तक जितनी भी घटनाएं हुई, परिस्थितियाँ आईं, वह जड़ हिला नहीं। "अनुभव ज्ञान में स्थिरता है" इस बात को माना जाए या नहीं माना जाए?

मैंने प्रतिपादित किया है "अस्तित्व स्थिर है, विकास और जागृति निश्चित है।" यह प्रचलित विज्ञान के अस्थिरता अनिश्चयता मूलक प्रतिपादन पर कितना बड़ा प्रहार है, आप सोच लो! यह प्रहार बिंदु है इसको मैं अच्छे से जानता हूँ। प्रहार इसलिए आवश्यक है, क्योंकि नींदवालों को जगाना आवश्यक है। यह प्रहार बिंदु होते हुए भी इसमें कितना प्यार घुला है आप सोच लो! प्यार घुला है इसीलिये मैं सफल हो जाता हूँ। "आदमी बनो, मगरमच्छ मत बनो! मगरमच्छ बनने से धरती को बीमार कर दिया, जो ठीक नहीं हुआ।" यह प्यार नहीं है, तो और क्या है? क्या इस बात का विरोध भी करना बनता है किसी से? इससे दूर भागना बन सकता है। इससे दूर भागते हैं तो हाथ पैर ठंडा होना बनता ही है। हाथ पैर ठंडा होता है तो आज

नहीं तो कल इसी दरवाजे पर आयेंगे।

प्रश्नः ज्ञान की पारदर्शीयता से क्या आशय है?

उत्तरः मैं यहीं बैठा हूँ, अभी मैंने आपके सामने सारे विगत की राजगद्दी, धर्मगद्दी, व्यापार गद्दी का समीक्षा प्रस्तुत किया। यह ज्ञान की पारदर्शीयता है या नहीं? अनुभवमूलक ज्ञान से सभी विगत का समीक्षा हो गया इसको ज्ञान की पारदर्शीयता कहा जाए या नहीं? मैं यहीं बैठा हूँ , संसार में गया नहीं हूँ, किसी से सूचना एकत्र नहीं किया हूँ। अनुभव होने से अस्तित्व सह अस्तित्व स्वरूप में कैसे है यह समझ में आ गया। अस्तित्व क्यों है यह भी समझ में आ गया। सह अस्तित्व में अनुभव के आधार पर मैं अस्तित्व में हर बात का विश्लेषण और समीक्षा प्रस्तुत करता हूँ। इसको ज्ञान की पारदर्शीयता का प्रमाण माना जाए या नहीं?

आप मेरा उदाहरण देखो मैंने बिना कुछ आधुनिक संसार की पढ़ाई किए समग्र अस्तित्व का ज्ञान हासिल किया है। आधुनिक संसार की पढ़ाई की कौन सी सार्थकता है, जो मेरे दर्शन में नहीं आयी है? इसको ज्ञान की पारदर्शीयता माना जाए या नहीं माना जाए?

मैं किसी भी घटना को देखने जाता हूँ तो मुझे वह घटना परिस्थिति तो समझ में आता ही है, उससे ज्यादा भी समझ में आता है। उस घटना या परिस्थिति के समाधान तक पहुँच जाता हूँ मैं। इसको ज्ञान की पारदर्शीयता माना जाए या नहीं माना जाए? मुझमें यह योग्यता साधना समाधि संयम पूर्वक अनुभव संपन्न होने पर आया। उससे पहले यह योग्यता मुझमें नहीं था। यह योग्यता सभी में हो, उसी के लिए मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन का प्रस्ताव है।

सह अस्तित्व में अनुभवपूर्वक हम ज्ञान के प्रति पारदर्शी हो जाते हैं।

प्रश्नः ज्ञान की पारदर्शीयता का क्या फायदा हुआ?

उत्तरः इससे नकारात्मक और सकारात्मक का नीर क्षीर न्याय होता है। सकारात्मक भाग मानव के "जीने" में आता है। नकारात्मक भाग अपराध में जाता है। नकारात्मक भाग को मैंने "अपराध" नाम दिया है। तात्विक रूप में नकारात्मक और सकारात्मक दोनों घटनाएं ही हैं। नकारात्मक घटनाओं में कोई क्रमबद्धता नहीं होती। सकारात्मक घटनाएं एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी क्रमवत् जुड़ते चले जाते हैं। इन दोनों में यही अन्तर है।

प्रश्नः ज्ञान की पारगामीयता से क्या आशय है?

उत्तरः स्वयं में समझ के आधार पर जब मैं अस्तित्व की व्याख्या प्रस्तुत करता हूँ, तो आप में समझने की इच्छा पैदा होता है। ज्ञान एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में अंतरित होता है। यही ज्ञान की पारगामीयता का प्रमाण है। मेरा प्रतिरूप यही है। जीवन का प्रतिरूप होता है न कि शरीर का! अनुभवमूलक ज्ञान का प्रतिरूप होता है। यह सिद्धांत है। विज्ञानी जो शरीर का प्रतिरूप बनाने में लगे हैं, वह कितना व्यर्थ है आप सोच लो!

प्रश्नः ज्ञान की पारगामीयता से क्या फायदा हुआ?

उत्तरः इससे उपकार की विधि निकल गयी। समझे हुए को समझाना, सीखे हुए को सिखाना, किए हुए को कराना यही उपकार है। ज्ञान की पारगामीयता है तभी समझा हुआ व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को समझाने में समर्थ हो सकता है। ज्ञान की पारगामीयता है तभी तो शिक्षा विधि से ज्ञान का लोकव्यापीकरण सम्भव है।

जब कोई व्यक्ति मेरे सम्मुख प्रस्तुत होता है तो वह ऐसे क्यों प्रस्तुत हो रहा है, यह मुझे तुंरत समझ में आ जाता है। फ़िर उसको कैसे समझाना है, उसका रूपरेखा मुझमें अपने आप से निकल आता

17_samvaad_part2_2013_c

है। वह रूपरेखा सफल हो जाता है। इसमें मुझे कोई श्रम नहीं करना पड़ता यह स्वयंस्फूर्त रूप में हो जाता है। ज्ञान पारदर्शी है, पारगामी है तभी यह सम्भव है।

ज्ञानपूर्वक ही मानव भ्रम मुक्ति, अपने पराये से मुक्ति और अपराध मुक्ति को पाता है। सकारात्मक रूप में कहें तो सर्व मानव को एक जाति के रूप में पहचानना बनता है। "मानव जाति एक है" यह पहचानना अनुभवमूलक ज्ञान से ही बन पाता है। और किसी विधि से बनता होगा तो आप बताओ! "मानव जाति एक है" यह पहचानना किसी मशीन से सम्भव हो, तो बताओ! "मानव जाति एक है" यह रहस्य विधि से पहचानना सम्भव हो, तो आप बताइये!

सह अस्तित्व में अनुभव ही ज्ञान है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति स्वरूपी अस्तित्व क्यों है और कैसा है इसका उत्तर स्वयं में स्थापित होना ही अनुभव है।

(अप्रैल 2008, अमरकंटक)

कार्य ज्ञान और ज्ञान

"मानव में कार्य ज्ञान होता है।" हम कुछ भी कार्य करना सीख सकते हैं, सिखा सकते हैं यह इस बात का प्रमाण है। यह बात मानव परम्परा में आ चुकी है।

समय (क्रिया की अवधि) और दूरी के नाप के आधार पर कार्य का पहचान होता है। अत्याधुनिक संसार (प्रचलित विज्ञान) ने स्थूल और सूक्ष्म स्तर पर नापने की विधियाँ दी, जिससे कार्य की पहचान होती है। कार्य करने के लिए जो ज्ञान होता है, उसे "कार्य ज्ञान" कहते हैं।

मानव में कार्य ज्ञान ही उसके कार्य करने की ऊर्जा है।

कार्य ज्ञान के मूल में "कारण स्वरूप" में ज्ञान है। यही मूल ऊर्जा है। यही साम्य ऊर्जा है। **मानव में साम्य ऊर्जा ज्ञान स्वरूप में है।** ज्ञान के आधार पर ही मानव को कार्य ज्ञान होता है। यह एक बहुत ही महिमा संपन्न मुद्दा है। इसको आप अच्छे से समझ लो! यही स्थूल और सूक्ष्म के बीच की विभाजन रेखा है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

सुखी होने का ज्ञान

प्रश्न : मानव को ज्ञान क्यों चाहिए?

उत्तर : सुखी होने के लिए। सुखी होने के बाद सुखी रहना बनता है। मानव को सुखी होने के लिए ज्ञान की पहचान आवश्यक है, इसी आधार पर मानव ज्ञान अवस्था में है।

सुख किसी संख्या में नहीं आता। मानव द्वारा बनाए गए स्थूल या सूक्ष्म किसी भी मापदण्ड पर सुख को नापा नहीं जा सकता। विगत ने शब्द संसार द्वारा सुख को लेकर जो कुछ भी बताया उससे सुख के स्वरूप की पहचान नहीं हुआ। इस तरह आदर्शवाद और भौतिकवाद दोनों द्वारा सुख की पहचान नहीं हुई। यह यदि आपमें निर्णय हो पाता है तो आप उनसे (विगत में) छुटोगे, नहीं तो (विगत) पकड़े ही रहेगा!

"मानव सुखी होना चाहता है।" यह बात भारतीय अध्यात्मवाद ने दिया। "इन्द्रियों में सुख की निरंतरता नहीं है।" इस बात की भी घोषणा किया। इसके लिए हम विगत के लिए कृतज्ञ हैं। सुख किसमें होता है ? यह पूछने पर विगत में उसको रहस्यमय बताया।

सुखी होने के ज्ञान को उजाले में बताने के लिए हम जा रहे हैं। सुख का स्वरूप "ज्ञान" जो आदर्शवाद और भौतिकवाद के प्रयासों से स्पष्ट नहीं हो पाया था, उसके लिए मैंने प्रयत्न किया

जिसमें मैं सफल हो गया।

मानव का अध्ययन सुखी होने के अर्थ में ही है और कोई अर्थ में नहीं है। मानव का अध्ययन न हो और सुख पहचान में आ जाए, यह सम्भव नहीं है।

संवेदनाओं में मानव को सुख भासता है (सुख जैसा लगता है)। इससे सुख कुछ "है" यह मानव को स्वीकार हो गया। "संवेदनाओं में सुख की निरंतरता नहीं होती" यह भी मानव की पहचान में आ गया। सुख की निरंतरता कैसे हो ? यह बात मानव के समझ में अभी तक नहीं आयी।

प्रश्न : सुख की निरंतरता कैसे हो?

उत्तरः ज्ञान, विवेक और विज्ञान विधि से जीने पर मानव में समाधान रूप में सुख की निरंतरता होती है। सह अस्तित्व में अध्ययन पूर्वक मानव का ज्ञान, विवेक, विज्ञान विधि से जीना बनता है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अनुभव अपने में पूर्ण होता है, उसका प्रगटन क्रम से होता है.

सह अस्तित्व में अध्ययन के फलस्वरूप जीवन जो अनुभव करता है, वह अपने में पूर्ण ही होता है लेकिन उस अनुभव का प्रगटन क्रमिक रूप से होता है। **जब कभी न्याय समझ में आता है, साथ में धर्म और सत्य भी समझ में आता है। सत्य की रौशनी में ही न्याय और धर्म प्रकाशित है। सत्य अपने में प्रकाशित है ही। न्याय समझ में आ जाए, धर्म और सत्य समझ में नहीं आए ऐसा कुछ होता नहीं है।** इस तरह अनुभवपूर्वक दृष्टा पद में हो जाते हैं।

इस अनुभव का प्रगटन पहले मानव चेतना के रूप में है, फ़िर देव चेतना के रूप में, फ़िर दिव्य चेतना के रूप में है। मानव चेतना में हम न्याय प्रधान विधि से तीनों ऐषणाओं के साथ धर्म और सत्य को प्रमाणित करने की बात होती है। देव चेतना में पुत्रेषणा और वित्तेषणा गौण रहती हैं और लोकेषणा के साथ धर्म प्रधान विधि से न्याय और सत्य को प्रमाणित करने की बात होती है। दिव्य चेतना में सत्य प्रधान विधि से न्याय और धर्म को प्रमाणित करने की बात होती है। दिव्य चेतना में लोकेषणा भी गौण हो जाती है।

"प्रमाणित होना" और "प्रमाणित करना" दो भाग हैं। "प्रमाणित होना" अनुसन्धान या अध्ययन रुपी साधना का फल है। "प्रमाणित करना" अनुभव की जीने में अभियक्ति है, सम्प्रेषणा है, प्रकाशन है।

प्रश्नः लोकेषणा से क्या आशय है? दिव्य चेतना में लोकेषणा गौण होने का क्या मतलब है?

उत्तरः लोकेषणा से आशय है व्यक्ति के रूप में स्वयं की पहचान दूर दूर तक फैलना।

दिव्य चेतना में व्यक्ति के रूप में पहचान की बात गौण रहती है। वस्तु (चिंतन, दर्शन, विचार, शास्त्र) प्रधान हो जाती है। दिव्य चेतना में व्यक्ति प्रधान नहीं रहेगा ऐसा नहीं है। व्यक्ति के साथ ही वस्तु है। व्यक्ति ही दिव्य मानवीयता का प्रमाण होता है।

(अगस्त 2006 अमरकंटक)

स्थिरता और निश्चयता

सत्ता ही ऊर्जा है, यही मानव परम्परा में "ज्ञान" अथवा "चेतना" है, जिसमें संपृक्त होने के कारण प्रकृति की प्रत्येक इकाई चुम्बकीय बल संपन्न है। परमाणु अंश भी जो एक दूसरे को पहचानते हैं, वे चुम्बकीय बल सम्पन्नता के आधार पर ही पहचानते हैं।

फलस्वरूप परमाणु अंश में व्यवस्था प्रवृत्ति होने का प्रमाण मिलता है। इसकी गवाही है दो अंश के परमाणु का आचरण निश्चित है। उसकी उपयोगिता निश्चित है। उसकी पूरकता निश्चित है।

उसी प्रकार एक प्राण कोषा बल संपन्न होने से अपने प्राण सूत्रों में रचना विधि के अनुसार कार्य करता है। एक रचना विधि के पूरा होने पर दूसरी रचना विधि उनमें स्वयंस्फूर्त उभर आता है। जबकि विज्ञानी लोग बताते हैं, प्राण कोषायें गलती करते हैं, फलस्वरूप विविध तरह की रचनाएँ प्रगट हुई। इस पर प्रश्न बनता है पहली जो प्राण कोषा बनी, वह किसकी गलती से बन गयी? पहली जो रचना बनी, उसकी रचना विधि उसके प्राण कोषा में था कि नहीं? क्या वह बिना रचना विधि के ही रचना हो गयी? प्राण सूत्रों में रचना विधि के साथ ही रचना हुआ, यह विज्ञानी लोग मानते हैं। वह रचना विधि किस गलती से हो गयी? यह बता नहीं पाते हैं।

मध्यस्थ दर्शन में यहाँ यह प्रस्तावित है हर प्राण कोषा में निहित प्राण सूत्रों में रचना विधि होती है, वह रचना बीज वृक्ष परम्परा के रूप में स्थापित होने के बाद प्राण कोषाओं में उत्सव होता है। जिसके फलस्वरूप उन्हीं प्राण सूत्रों में दूसरी अधिक उन्नत रचना विधि प्रगट हो जाता है। इस प्रकार प्राण अवस्था की परम्पराएं एक से दूसरी क्रमवत् निकलती चली आयी। इसमें मानव कुछ भी हस्तक्षेप करता है, तो उसकी परम्परा नहीं बनती। मानव जो वांशिकी प्रौद्योगिकी द्वारा कर रहा है, उससे यही हो रहा है।

विज्ञानी अस्तित्व के मूल में अस्थिरता और अनिश्चयता को बताते हैं। जबकि मध्यस्थ दर्शन में अस्तित्व में स्थिरता और निश्चयता से शुरुआत करते हैं।

आप अस्थिरता अनिश्चयता चाहते हैं या स्थिरता निश्चयता? इस प्रश्न का उत्तर हर व्यक्ति स्थिरता और निश्चयता के पक्ष में ही देता है। अस्तित्व में जो नहीं है, उसको मानव चाह भी नहीं सकता।

www.madhyasth.org

अस्तित्व में जो है, उसी को मानव चाह सकता है, प्रयोग कर सकता है, उसी के साथ सुख या दुःख को भोगता है।

पदार्थ अवस्था से प्राण अवस्था, प्राण अवस्था से जीव अवस्था, जीव अवस्था से मानव ज्ञान अवस्था की इकाई के रूप में प्रगट हुआ। मानव ज्ञान अवस्था के होते हुए भी जीवों के सदृश जिया। ऐसे जीव चेतना में जीने से मानव ने मानव के साथ अपराध किया और धरती के साथ अपराध किया। प्रधान तौर पर सुविधा संग्रह के लिए और सीमा सुरक्षा के लिए धरती को घायल करना हुआ। सीमा सुरक्षा में दो ही काम होते हैं युद्ध करना या युद्ध के लिए तैयारी करना। इससे युद्ध कहाँ रुका या रुकेगा? अपराध मुक्त विधि से जीने के लिए मध्यस्थ दर्शन एक अध्ययन गम्य प्रस्ताव है, जिसके अनुसार :

अस्तित्व स्थिर है। अस्तित्व में विकास और जागृति निश्चित है।

गठनपूर्णता ही विकास है।

मानव चेतना विधि से जीना ही जागृति है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

सह अस्तित्व में स्वयं स्फूर्तता

अस्तित्व में चारों अवस्थाएं स्वयंस्फूर्त विधि से प्रगट हैं।

स्थिति पूर्ण सत्ता में स्थितिशील प्रकृति संपृक्त है। पूर्णता के अर्थ में प्रकृति सत्ता में संपृक्त है।

भौतिक–रासायनिक वस्तुओं की गणना की जा सकती है। हर वस्तु अपनी स्थिति में "एक" होता है। जैसे एक परमाणु अंश, एक परमाणु, एक अणु, एक प्राण सूत्र, एक प्राण कोषा, एक धरती। ये सब

एक एक की संज्ञा में आते हैं।

प्रत्येक "एक" अपने वातावरण सहित "सम्पूर्ण" है। इसके प्रमाण में ही "त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी" गवाहित होती है। हरेक "एक" अपनी स्थिति में "सम्पूर्णता" में ही होता है। किसी "बाहरी" शक्ति की अनुकम्पा से इकाईयाँ चालित नहीं हैं। सत्ता में सम्पृक्तता वश इकाईयाँ "ऊर्जा संपन्न" हैं। ऊर्जा संपन्न होने से वे "बल संपन्न" हैं। बल संपन्न होने से वे "क्रियाशील" हैं। इस तरह अस्तित्व में "कार्य" और "कारण" अविभाज्य है और "फल परिणाम" निश्चित है। अस्तित्व में नियम है। नियम पूर्वक ही अस्तित्व में "ह्रास" है, नियम पूर्वक ही अस्तित्व में "परम्परा" है। नियम पूर्वक ही विकास है।

प्रश्नः पदार्थ अवस्था जब स्वयंस्फूर्त विधि से काम कर सकता है, तो आदमी को स्वयंस्फूर्त होने में क्या तकलीफ है?

उत्तरः मानव ने उस ओर प्रयत्न ही नहीं किया। उल्टे चारों अवस्थाओं को अपने भोग की वस्तु मान लिया। भोगने के लिए संघर्ष भावी हो गया। आदमी अपराध में फंस गया। इस तरह संघर्ष में लगने से, अपराध में लगने से मानव "सत्य को समझने" में असमर्थ रहा। यही आदमी के लिए स्वयंस्फूर्त जी पाने में तकलीफ है। सत्य को समझे बिना मानव का चारों अवस्थाओं के साथ संतुलित और स्वयंस्फूर्त जी पाना सम्भव नहीं है।

प्रश्नः अस्तित्व में स्वयंस्फूर्तता को मैं स्वयं में कैसे देख सकता हूँ?

उत्तरः मनाकार को साकार करना मानव का स्वयंस्फूर्त वैभव है। आप कोई प्रारुप / रूपरेखा बनाते हो, उससे अच्छा प्रारुप / रूपरेखा आप में अपने आप से उभर आता है। चाहे वह कपड़ा बनाने का प्रारुप / रूपरेखा हो, चाहे सड़क मकान बनाने का प्रारुप / रूपरेखा

हो या कोई यंत्र बनाने का प्रारुप/रूपरेखा हो। यह आपके चित्रण और विचार के योगफल में होता है। इस स्वयंस्फूर्तता को आप स्वयं में अभी जाँच सकते हैं। मनाकार को साकार करने के भाग में मानव अपने इतिहास में स्वयंस्फूर्त आगे बढ़ता आया। लेकिन मनःस्वस्थता न होने के कारण "अपराध" में फंस गया।

मनाकार को साकार करना कोई अपराध नहीं है। मनाकार को साकार करना मानव का स्वयंस्फूर्त वैभव है। मनाकार को साकार करने से बनी वस्तुओं के व्यापार करने में अपराध है। दूसरे, मनाकार को साकार करने के लिए कच्चा माल प्राप्त करने के लिए प्रकृति का जो शोषण है उसमें अपराध है। मनःस्वस्थता पूर्वक मानव अपराध प्रवृत्ति से मुक्त होता है। समाधान ही मनःस्वस्थता का प्रमाण है। समझदारी से समाधान होता है। समाधान पूर्वक मानव का स्वयंस्फूर्त जीना बन जाता है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अनुभव की सीढ़ी, अस्तित्व में प्रगटन

अस्तित्व में प्रगटन है। पदार्थ अवस्था से प्राण अवस्था प्रगट हुई है। प्राण अवस्था से जीव अवस्था प्रगट हुई है। जीव अवस्था से ज्ञान अवस्था प्रगट हुई है। ज्ञान अवस्था में मानव ही है। हर मानव जीवन व शरीर का संयुक्त रूप में होने का प्रमाण है।

परमाणु में विकास का अन्तिम स्वरूप "जीवन" है।

भौतिक रचना के विकास क्रम का अन्तिम स्वरूप यह "धरती" है।

भौतिक–रासायनिक रचना के विकास क्रम का अन्तिम स्वरूप "मानव शरीर" है।

धरती पर मानव शरीर का प्रगटन "नियति विधि" से हुआ है।

मानव शरीर के धरती पर प्रगटन में मानव का कोई हाथ नहीं है। धरती के गठित / रचित होने में मानव का कोई हाथ नहीं है। धरती पर ही मानव रह सकता है। मानव के धरती पर रहने के लिए, मानव से पहले जो कुछ भी धरती पर प्रगट हुआ, उसके बने रहने की आवश्यकता है। **प्रगटित वस्तु के प्रगटन के पीछे की सारी वस्तुएं बनी रहने पर ही प्रगटित वस्तु रह सकता है। प्रगटन से पहले की सभी वस्तुएं मिट जाएँ और प्रगटित वस्तु रह जाए यह कैसे हो?**

अस्तित्व में मानव ही "कर्ता" पद में है। मानव के अलावा बाकी सभी वस्तुएं नियति क्रम में अपने प्रगटन के अनुरूप "कार्य" करते रहते हैं।

पदार्थ अवस्था की इकाईयाँ अपने गठन के अनुसार "कार्य" करती रहती हैं।

पेड़ पौधे बीज के अनुरूप "कार्य" करते रहते हैं।

"देखने" वाली इकाई जीवन ही है। भौतिक–रासायनिक वस्तुओं में "देखने" की कोई बात नहीं होती। जीव जानवर अपने वंश के अनुरूप "कार्य" करते रहते हैं। जीवों में वंश के अनुरूप जीवन शरीर को चलाता रहता है।

नियति क्रम में मानव शरीर का प्रगटन हुआ। मानव शरीर की ही विशेषता है कि जीवन उसे जीवंत बनाते हुए कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता को प्रगट करने लगा। कल्पनाशीलता वश मानव ने अपने परम्परा स्वरूप में "होने" को स्वीकार लिया है। लेकिन कल्पनाशीलता की सीमा में मानव का अपने "व्यवस्था में रहने" के स्वरूप को स्वीकारना नहीं बन पाया।

मानव के "व्यवस्था में रहने" के लिए उसे एक और सीढ़ी

चढ़ने की ज़रूरत है। वह है अनुभव की सीढ़ी! अनुभव हर व्यक्ति के पास हो और परम्परा में मानव चेतना प्रमाणित हो। हर व्यक्ति के पास अनुभव को मानव चेतना विधि से जी कर प्रमाणित करने की सुविधा हो। इसके लिए ही मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन का प्रस्ताव है।

इसमें किसको क्या विपदा है, आप बताओ?

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

अस्तित्व में प्रगटन

प्रश्नः आपने कहा पदार्थ अवस्था से प्राण अवस्था प्रगट हुई। यह कैसे हुआ? इसको समझाइये।

उत्तर : प्राण अवस्था के प्रगट होने के मूल में पहले पानी का प्रगटन हुआ। पदार्थ अवस्था की ही वस्तुएं ठोस, तरल और विरल रूप में रही हैं। विरल रूप में रही वस्तुओं में से एक जलने वाला वस्तु रहा, एक जलाने वाला वस्तु रहा। ये दोनों वस्तुएं विरल रूप में रहते हुए कोई उपकार होती नहीं रही। उपकार होने का प्रवृत्ति सह अस्तित्व में रखा हुआ है। आगे की प्रवृत्ति के लिए उपकार बना ही है। इसी आधार पर ये दोनों वस्तुएं मिलकर प्यास बुझाने वाली वस्तु (पानी) के स्वरूप में आ गयी। पानी से पहले कोई प्राण अवस्था नहीं है। पानी के बिना प्राण अवस्था का प्रगटन होता नहीं है। यह बात यदि आपके समझ में आता है, तो समझो हम आधा दूर तक तैर गए! दो ऐसी वस्तुएं (हाईड्रोजन और ऑक्सीजन) जो अकेले रहते हुए क्षति ग्रस्त भी हो सकती थी, उस जगह से कैसे सह अस्तित्व विधि से उपकारी हुई। पानी का धरती पर प्रगटन सह अस्तित्व में नियति क्रम का प्रमाण है।

पानी कहाँ खड़ा होगा? धरती पर ही! धरती पर पानी के खड़ा होने से धरती पर जो अम्ल और क्षार जो द्रव्य थे वे पानी में

आ गए। इन अम्ल और क्षार के संयोग से "पुष्टि तत्व" और "रचना तत्व" ये दोनों तैयार हुए। इन दोनों के आधार पर प्राण सूत्र तैयार हुए। प्राण सूत्र तैयार होने के आधार पर पहले वह प्राणकोषा के स्वरूप में परिवर्तित हुई। इससे पहले पानी और धरती के संयोग में काई प्रगट हुई। पानी के साथ काई का होना स्वाभाविक है। काई प्रगट होने के बाद वह प्राण सूत्र पुष्ट हुआ। प्राण सूत्र पुष्ट होने के आधार पर उसमें रचना विधि आ गयी। कैसे आ गयी? नृत्य के आधार पर, खुशहाली के आधार पर। प्राण सूत्रों में जो रचना विधि उभर आयी उस (प्राण अवस्था की) रचना को प्राणकोषा पूरा किया। उसे पूरा करके जो खुशहाली आयी उससे (प्राण सूत्रों में) दूसरे प्रकार की रचना विधि आ गयी। उससे दूसरी और श्रेष्ठतर प्राण अवस्था की रचना का प्रगटन हुआ। इस क्रम में अनेक प्राण अवस्था की रचनाओं का धरती पर प्रगटन हुआ। इस ढंग से अंततोगत्वा मानव रचना तक धरती पर प्रगट हो गयी।

"जो था" वही प्रगट हुआ है। पदार्थ अवस्था ही यौगिक विधि से रसायन संसार के स्वरूप में प्रगट हुआ। प्राण अवस्था में ही प्रजनन विधि आरम्भ हुई। यह विधि जीव अवस्था में पुष्ट हुई। यही विधि मानव संसार में भी है। मानव में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता है इसलिए मानव में इस विधि के दुरूपयोग, उपयोग और सदुपयोग की सम्भावना है।

सह अस्तित्व में जो कुछ भी प्रवृत्तियाँ हैं, सम्भावना है, प्रक्रिया है उसको मानव अनुकरण ही कर सकता है। सह अस्तित्व में जो प्रवृत्तियाँ, सम्भावना और प्रक्रिया नहीं है उसको मानव प्रगट कर ही नहीं सकता। यही मानव के लिए नियति विधि से जीने का उपाय है।

मानव जीव चेतना में अपराध परम्परा में जीता है। मानव पद में न्याय परम्परा में जीता है। देव पद में समाधान परम्परा में जीता

है। दिव्य पद में सत्य परम्परा में जीता है। आपको कैसे जीना है इसको आप को ही तय करना है। अपराध परम्परा में ही आपको जीना है तो जीव चेतना ठीक है। न्याय परम्परा में जीना है तो मानव चेतना के अलावा कोई रास्ता नहीं है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

संपृक्तता, क्रियाशीलता, प्रगटन शीलता

हर परस्परता के बीच जो रिक्त स्थली है, वही व्यापक वस्तु है। इकाईयों के बीच अच्छी दूरी होने का प्रयोजन है एक दूसरे की पहचान होना। **पहचानने का प्रयोजन है व्यवस्था के स्वरूप में कार्य कर पाना।** इकाईयों के कार्य कर पाने का आधार है व्यापक वस्तु में पारगामीयता व्यापक वस्तु पारगामी है और परस्परता में पारदर्शी है।

कपड़ा पानी में भीग जाता है, पर पत्थर पानी में नहीं भीगता। पानी कपड़े में पारगामी है, पत्थर में पारगामी नहीं है। जबकि व्यापक पत्थर में, लोहे में, मिट्टी में, झाड़ में, अणु में, परमाणु में, परमाणु अंश में हर वस्तु में पारगामी है। हर जड़ चैतन्य परमाणु में व्यापक पारगामी है। साम्य ऊर्जा व्यापक रहने से पारगामीयता स्वाभाविक है। पारगामीयता का ज्ञान होना आवश्यक है। इस ज्ञान को अध्ययन विधि से पूरा किया जा सकता है।

क्रिया के रूप में ही सब कुछ समझ आता है। क्रिया के बिना हम कुछ निश्चित कर ही नहीं सकते। क्रिया एक दूसरे को दिखता है, जिसके आधार पर पहचान है। जैसे मनुष्य की क्रिया जानवरों से भिन्न है, तभी वह मनुष्य स्वरूप में पहचाना जाता है।

मनुष्य ने अब तक प्रकृति की क्रियाशीलता को पहचाना है, ऊर्जा सम्पन्नता को पहचाना नहीं है।

प्रश्न : परस्परता में पहचान होने में व्यापक वस्तु की क्या महिमा है?

उत्तर : ऊर्जा सम्पन्नता वश पहचान है। व्यापक वस्तु न हो तो इकाईयों में न ऊर्जा सम्पन्नता हो, न क्रियाशीलता हो, न परस्पर पहचान हो!

प्रश्न : चैतन्य प्रकृति (जीवन) के व्यापक में संपृक्तता से क्या होता है?

उत्तर : **चैतन्य प्रकृति के व्यापक में भीगे रहने से कल्पनाशीलता है। मानव में ज्ञान का बीज रूप है कल्पना।** मानव में ही ज्ञान की परिकल्पना है। कल्पना स्पष्ट होने पर ज्ञान है। कल्पना आशा, विचार और इच्छा का संयुक्त रूप है। **आशा, विचार और इच्छा के सुनिश्चित स्वरूप में काम करना ही ज्ञान है। उसके पहले कल्पना रूप में रहता है।** कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता चैतन्य प्रकृति में समाई हुई प्रक्रिया है।

कल्पनाशीलता जीवन सहज अभिव्यक्ति है। कल्पनाशीलता को हम बना नहीं सकते।

प्रश्न : जीवों में भी तो जीवन है...

उत्तर : जीवों में ''जीने की आशा'' है कल्पना नहीं है। जीने की आशा का भ्रूण रूप स्वेदज संसार से ही शुरू हो जाता है। जीने की आशा के अनुरूप शरीर रचना विकसित होता गया इससे यह बात समझ आता है। जीने की आशा जीवन में होती है, उसके अनुरूप जीव शरीर रचना होती है। शरीर रचना जीवन के अनुकूल न हो, तो जीवन शरीर का उपयोग कैसे करेगा?

ज्ञान के अनुरूप जीने के लिए मनुष्य शरीर रचना का प्रगटन हुआ। ताकि ज्ञान पूर्वक जीना प्रमाणित हो। यह सब इसलिए हुआ

क्योंकि सह अस्तित्व नित्य प्रगटनशील है। सह अस्तित्व अपने प्रतिरूप को प्रमाणित करने के लिए प्रगट किया।

प्रश्न : मनुष्य इतिहास में पहले कल्पना दी गयी थी ''यह सब सृष्टि किसी सर्वशक्तिमान ईश्वर ने बनाई है।'' उसी तरह आप हमको कल्पना दे रहे हैं ''वस्तुओं की क्रियाशीलता के मूल में साम्य ऊर्जा या व्यापक है।'' इनमें अन्तर क्या हुआ?

उत्तर : कल्पना होता ही है। कल्पना के बिना अनुमान कैसे होगा? इस अनुमान के अनुसार आपकी कार्य प्रणाली हो जाए। (मध्यस्थ दर्शन के प्रस्ताव के आधार पर) सारे अनुमान संज्ञानीयतापूर्वक जीने के लिए और मानव लक्ष्य (समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व) को प्रमाणित करने के लिए ही बनते हैं। मानव लक्ष्य पूरा होता है तो यह अनुमान ठीक है।

मानव की मौलिकता जीवों से अलग दिखने के लिए है मानव लक्ष्य। मानव लक्ष्य यदि क्रियान्वित और व्यवहारान्वित होता है तो मानव की मौलिकता प्रमाणित हो गयी। मानव लक्ष्य यदि पूरा नहीं होता है तो मानव की मौलिकता प्रमाणित नहीं हुई।

आप किसी भी कल्पना को ले आईये उससे मानव लक्ष्य पूरा होता है या नहीं, यह देख लीजिये!

मानव लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए ही कल्पनाशीलता है।

मानव लक्ष्य सफल होने के लिए ही अध्ययन है।

अध्ययन अभी तक मानव इतिहास में प्रावधानित नहीं था, न ही मानव लक्ष्य को पहचाना गया था। ऐसे में मानव जात धोखे में फंसेगा या नहीं? मानव धोखे में न फंसे, उद्धार हो जाए, जन्म से ही उसका रास्ता साफ रहे, शिक्षा और व्यवस्था सुलभ रहे इस आशय से

मध्यस्थ दर्शन का ताना बाना प्रस्तुत किया गया है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

स्थिति गति

सत्ता को स्थिति पूर्ण स्वरूप में पहचाना। प्रकृति को स्थितिशील स्वरूप में पहचाना।

सत्ता क्रिया नहीं हैं। प्रकृति क्रिया है।

सत्ता में संपृक्त प्रकृति ही अस्तित्व है।

क्रिया को स्थिति गति स्वरूप में पहचाना।

अस्तित्व में तीन ही तरह की क्रियाएं हैं भौतिक क्रिया, रासायनिक क्रिया और जीवन क्रिया। अस्तित्व में चारों अवस्थाओं का प्रगटन इन तीनों क्रियाओं का ही योग, संयोग है।

स्थिति को "होने" के स्वरूप में पहचाना। प्रकृति की कोई भी वास्तविकता "है", वही उसकी स्थिति है। नियति क्रम विधि से अस्तित्व में वास्तविकताओं का प्रगटन है, उसके अनुसार उनकी स्थिति है। **स्थिति (व्यवस्था में होना) हर वस्तु का धर्म है।**

गति को व्यवस्था में रहने, स्थानान्तरण और परिवर्तन के स्वरूप में पहचाना। स्थानान्तरण और परिवर्तन सम और विषम गति है जिसकी मानव गणना कर सकता है। व्यवस्था में रहना "मध्यस्थ गति" है। मध्यस्थ गति गणना में नहीं आती, मानव उसको केवल समझ सकता है।

प्रश्नः सत्ता "स्थिति पूर्ण" है, इसका क्या आशय है?

उत्तरः परिवर्तन पूर्वक सत्ता आया नहीं है। परिवर्तन उसमें

होता नहीं है। इसलिए स्थिति पूर्ण है।

प्रकृति में परिवर्तन होता है। जड़ प्रकृति में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन होता है। चैतन्य प्रकृति (जीवन) में केवल गुणात्मक परिवर्तन सम्भव है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

सह अस्तित्व में उत्सव

साम्य ऊर्जा (व्यापक) के पारगामी होने के कारण परमाणु अंश ऊर्जा संपन्न हैं। ऊर्जा सम्पन्नता के आधार पर ही परमाणु अंशों में एक दूसरे को पहचानने की ताकत आयी। फलस्वरूप वे एक दूसरे को पहचान भी लिए। परमाणु अंश एक दूसरे को पहचानते हैं, उसी आधार पर एक परमाणु का गठन होता है। परमाणु अंश में भी व्यवस्था में भागीदारी करने की प्रवृत्ति है।

परमाणु गठन का प्रमाण है परमाणु का निश्चित आचरण। दो अंश का परमाणु भी निश्चित आचरण करता है। दो सौ अंश का परमाणु भी निश्चित आचरण करता है। परमाणु अपने गठन के उपरांत एक निश्चित आचरण करता है यह गठन होने की सफलता की स्वीकृति है। उत्सव का मतलब है सफलता की स्वीकृति। सफलता के अर्थ में उत्सव है।

परमाणु गठन से ही "अस्तित्व में उत्सव" की शुरुआत है।

परमाणु के निश्चित आचरण का फलन है उसकी उपयोगिता और पूरकता। इस प्रकार विभिन्न संख्या में परमाणु अंशों के गठित होने से अनेक प्रजातियों के परमाणु गठित हो गए।

सभी आवश्यक परमाणुओं के गठन होने के उपरांत एक जलने वाला पदार्थ और एक जलाने वाला पदार्थ जब निश्चित

अनुपात में यौगिक विधि से मिलते हैं तो पानी का प्रगटन होता है। पानी पहला यौगिक है। यौगिक विधि से जो पानी बना उस "खुशहाली" या "उत्सव" के फलन में रचना तत्व और पुष्टि तत्व के संयोग से "प्राण सूत्र" बन जाते है।

प्राण सूत्रों में जब साँस लेने का या सप्राणित होते हैं तब वे उत्सवित होते हैं। प्राण सूत्रों के उत्सवित होने के फलस्वरूप उनमें रचना विधि आ जाती है। उस रचना विधि के अनुरूप वे प्राण सूत्र रचना कार्य में संलग्न हो जाते हैं।

जब वह रचना बीज वृक्ष परम्परा के रूप में स्थापित हो जाती है तो पुनः प्राण सूत्रों में उत्सव होता है, जिससे उनमें "नयी" रचना विधि आ जाती है। इस तरह हर उत्सव के बाद प्राण सूत्रों में नयी रचना विधि उभर आती है। इस तरह असंख्य रचनाओं की परम्पराएं स्थापित हो गयी।

जीव अवस्था के शरीर प्राण अवस्था की रचनायें ही हैं। जीव अवस्था की विभिन्न शरीर परम्पराएं प्राण सूत्रों में निहित रचना विधि में उत्तरोत्तर गुणात्मक विकास से है। जीव अवस्था में जीवन और शरीर का संयुक्त प्रकाशन होता है।

मानव शरीर परम्परा भी प्राण सूत्रों में गुणात्मक विकास के इस क्रम में ही स्थापित हुई विकसित रचना है। मानव शरीर की विशेषता है कि जीवन अपनी कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता को मानव के जीने में प्रकाशित कर सकता है।

मानव जीवन में सफलता की शुरुआत समझदारी से ही है। मानव जीवन में उत्सव की शुरुआत समझदारी से ही है।

समझदारी पूर्वक मानव जीवन एक उत्सव ही है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

परमाणु व्यवस्था का मूल स्वरूप है

अनुसंधान पूर्वक मैंने देखा (समझा) परमाणु अपने स्वरूप में एक व्यवस्था है। हर परमाणु परमाणु अंशों का एक निश्चित गठन है। परमाणु अंशों में व्यवस्था की प्यास है। कम से कम दो अंश के परमाणु में एक निश्चित व्यवस्था है। गठनशील परमाणु में निश्चित आचरण नहीं हो तो वह विकास (गठनपूर्णता) तक नहीं पहुँच सकता।

गठनपूर्णता होने के बाद परमाणु से कोई प्रस्थापन विस्थाापन होने की सम्भावना ही नहीं रहती, इसलिए उसकी बल और शक्तियाँ अक्षय हो जाती हैं। सत्ता में सम्पृक्तता वश हर परमाणु (गठनशील या गठनपूर्ण) में चुम्बकीय बल सम्पन्नता है। चैतन्य परमाणु **(जीवन) में यह बल सम्पन्नता चैतन्य बल के रूप में है।** जैसे आस्वादन एक चैतन्य बल है। इसी तरह तुलन, चिंतन, बोध और अनुभव चैतन्य बल हैं। जीवन को इन पाँच बलों के स्वरूप में देखा। **जीवन गति को चैतन्य शक्तियों के स्वरूप में देखा।** प्रमाण शक्ति स्वरूप में एक गति है। उसी तरह संकल्प शक्ति, चित्रण शक्ति, विश्लेषण शक्ति, चयन शक्ति। पाँच क्रियाएं स्थिति में और पाँच गति में मिलकर जीवन क्रियाकलाप को पहचाना गया। उसके विस्तार में उसको 122 आचरणों के स्वरूप में पहचाना।

प्रचलित विज्ञानियों ने परमाणु के विखंडनपूर्वक परमाणु अंशों को खोल दिया। मानव अपना प्रभाव डाले बिना वह खुलता नहीं है। खुलने के बाद परमाणु अपने स्वाभाविक स्वरूप में नहीं रहा। उस पर मानव का प्रभाव रहा। मानव प्रभाव में परमाणु विकृत स्वरूप में रहा। विकृत स्वरूप को मानव ने सही मान कर परमाणु को अस्थिर अनिश्चित ठहरा दिया। जबकि परमाणु वास्तविकता में व्यवस्था का मूल स्वरूप है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

सृष्टि दर्शन परमाणु, गतियाँ, घूर्णन, वर्तुल, कम्पन

मानव ज्ञान अवस्था में होने के आधार पर पूरी प्रकृति का दर्शन करना चाहता ही है।

परमाणुओं में परमाणु अंशों का बढ़ना घटना, अणुओं में परमाणुओं का संख्या बढ़ना घटना इसी का नाम है, रासायनिक भौतिक संसार।

सृजन = इकाई + इकाई। इसके तीन स्तर हैं पहला – परमाणु के स्तर पर परमाणु अंशों का जुड़ना, दूसरा – अणु के स्तर पर परमाणुओं का जुड़ना, तीसरा – अणु रचित रचना के स्तर पर अणुओं का जुड़ना। विसर्जन = इकाई–इकाई। सृजन और विसर्जन के बीच है विभव (बने रहना)। विभव ही मानव को सर्वोपरि है। विभव ही मध्यस्थ है। विभव की ही परंपरा होती है। जैसे मानव शरीर गर्भाशय में रचित होता है और एक दिन विरचित होता है। इन दोनों के बीच में है ''जीना'' – जो विभव है।

सभी परमाणु अंश एक ही स्वरूप के हैं। परमाणु अंश का और विघटन होता नहीं है। भ्रमित मानव ही इसका कल्पना एवं प्रयास करता है। परमाणु अंश में व्यवस्था में होने की प्रवृत्ति है। अकेला परमाणु अंश प्राकृतिक स्वरूप में पाया नहीं जाता। सत्ता में संपृक्तता वश परमाणु अंशों में भी चुम्बकीय बल सम्पन्नता है, जिससे उनमें घूर्णन गति है, घूर्णन गति के साथ हर परमाणु अंश का अपना एक वातावरण है। अंश निश्चित अच्छी दूरी में रह कर वर्तुलात्मक गति करते हुए व्यवस्था को प्रमाणित करते हैं। मध्य में जो परमाणु अंश होते हैं, उनके बीच भी एक निश्चित दूरी रहती है। **इस तरह व्यवस्था को प्रमाणित करने को ही हम 'आचरण' कहते हैं।** अकेले परमाणु अंश (जो किसी परमाणु में भागीदारी नहीं कर रहे हैं) अस्तित्व में नगण्य हैं। अकेले परमाणु अंश की घूर्णन गति अनिश्चित

होती है, जो परमाणु में भागीदारी करते हुए निश्चित हो जाती है।

अनेक प्रजाति के परमाणु उनमें परमाणु अंशों की संख्या भेद के आधार पर हैं।

परमाणु में परिवेशीय अंशों में घूर्णन गति और वर्तुलात्मक गति के साथ कम्पनात्मक गति भी आ गयी। नाभिक और परिवेशीय अंश दो ध्रुव बने रहते हैं, उसके सापेक्ष में कंपन है। वर्तुलात्मक गति कागज पर जो वृत्त बनाते हैं, वैसा नहीं है। नाभिक के चारों ओर गति पथ में आगे पीछे निश्चित सीमा तक झुकना भी होता है – वही कम्पनात्मक गति है। उतना ही झुकता है, जितने में व्यवस्था सुरक्षित रहे। हरेक गति में चाहे घूर्णन गति हो या वर्तुल गति हो दो ध्रुव स्थिर रहते हैं, उनके सापेक्ष में कंपन होता है। धरती जो सूर्य के चारों ओर घूमती है उसमें भी वैसा ही है। चंद्रमा जो धरती के चारों ओर घूमता है उसमें भी वैसा ही है। कम्पनात्मक गति की शुरुआत परमाणु अंश से ही है। फिर परमाणु में कम्पनात्मक गति का निश्चित स्वरूप है, अणु में उससे ज्यादा है, अणु रचित रचना में उससे ज्यादा है, फिर गठनपूर्ण परमाणु में कम्पनात्मक गति की पूर्णता है।

प्रचलित विज्ञान ने विखंडन विधि को अपनाया है। विखंडन विधि से प्रकृति में व्यवस्था की प्रवृत्ति दिखती ही नहीं है। विखंडन विधि आवेश पैदा करके ही होती है। इसलिए विखंडन विधि से हम व्यवस्था को प्रमाणित कर नहीं पायेंगे। मैंने विखंडन विधि से प्रकृति को नहीं देखा, समग्रता विधि से देखा। समग्रता विधि से प्रकृति में व्यवस्था की प्रवृत्ति को देखा। व्यवस्था में होने की प्रवृति की परमाणु अंश से ही शुरूआत है। परमाणु अंशों में व्यवस्था की प्रवृत्ति से ही परमाणु में व्यवस्था और व्यवस्था में प्रवृति आया है। परमाणु व्यवस्था का मूल स्वरूप है और उसमें सभी भूखे, अजीर्ण और तृप्त प्रकार के परमाणुओं में व्यवस्थाओं का मिल कर अणु बनना और अणुओं का मिल कर अणु रचित रचना बनना है। धरती भी एक अणु रचित रचना

है। धरती अपने में एक व्यवस्था है। धरती के व्यवस्था में होने का प्रमाण है इस पर चारों अवस्थाओं का प्रकट होना।

प्रश्न : आप ने जिस पैनेपन से परमाणु के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम स्वरूप को देखा, क्या अध्ययन विधि से हमको भी वैसा दिखेगा?

उत्तर : बिलकुल दिखेगा! **जो मुद्दा आप को समझाया उसकी स्वीकृति की आप में पूरी निरंतरता हो जाती है, तो वह आपको दिख ही गया। दिखने का मतलब ही समझना है। स्वीकारने के बाद आपको व्यवस्था का अनुभव होगा। अनुभव में जैसे मुझे तृप्ति हुई, ''वैसे ही'' तृप्ति आपको होगी।** अनुभव केवल व्यवस्था का ही होता है, और कुछ भी नहीं होता। निश्चित आचरण के स्वरूप को व्यवस्था कहा है। जो मुझको दिखा (समझ में आया) उसी को मैं समझाता हूँ। समझाता हूँ तो आप के समझ में आता है। समझने के बाद, अनुभवमूलक विधि से आपका व्यवस्था में जीना बनता है। व्यवस्था में जीना है तो वह प्रमाण नहीं तो और क्या है? जीने में ही अनुभव व्यक्त होता है। जैसे मैं व्यक्त होता हूँ, उससे अच्छा आप व्यक्त हो ही सकते हैं।

कोई भी वस्तु का हम अध्ययन करते हैं, उसकी दो ही विधियाँ हैं ''शोध'' विधि (अध्ययन) और ''अनुसंधान'' विधि। परंपरा से जो मिलता है, उसको हम शोध करते हैं। परंपरा जो देने में असमर्थ होता है, उसके लिए हम अनुसंधान करते हैं। मुझसे जो आप को सूचना मिलता है, उसको आप शोध करते हो। आपके शोध से आप व्यवस्था के प्रति सुस्पष्ट हो जाते हो। वह आप के जीने में सही निकलता है, तो आप उसको प्रमाण मानते हो।

जड़ से फल (अनुभव में जीना) तक मैंने देखा है, फल से जड़ तक आपको देखना है। इतना ही है। फल से जड़ को पकड़ना (शोध विधि) कोई दूर नहीं है। किन्तु जड़ से फल को पकड़ना

(अनुसन्धान विधि) काफी दूर है। यह पूरा प्रस्ताव मानवीयतापूर्ण आचरण में जीने के अर्थ में ही है। प्राकृतिक रूप में ''होना'' जड़ है, ''रहना'' (मानवीयतापूर्ण आचरण) फल है। फल की स्वीकृति होता है, उससे जिज्ञासा बनती है, फिर जड़ को समझने में देर नहीं लगती है। फल से जड़ की कल्पना करना सुगम है। जड़ से फल को प्राप्त करना (अनुसन्धान विधि या साधना विधि) काफी अनिश्चयता के साथ है। लोकव्यापीकरण के लिए अध्ययन विधि ही सुगम है।

परमाणु का अध्ययन करने के लिए तर्क विधि है, या प्रयोग विधि है, तीसरे साधना विधि (समाधि संयम) है। तर्क विधि से संतुष्ट नहीं होते हैं, तो प्रयोग की आवश्यकता होती है। प्रयोग विधि से परमाणु का अध्ययन करने के लिए विखंडन विधि ही है उससे व्यवस्था का कोई अनुभव होता नहीं है। परमाणु का तर्क सम्मत विधि से अध्ययन करने के लिए यह प्रस्ताव पर्याप्त है। साधना विधि सभी के लिए सुगम नहीं है।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

जीवन एक परमाणु

परमाणु व्यवस्था का मूल रूप है। कम से कम दो परमाणु अंश मिल करके एक परमाणु को बनाते हैं। उसकी तरह अनेक अंशों से मिल कर बने हुए भी परमाणु होते हैं। सभी परमाणु त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करते हैं। समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने का स्वरूप है ''पूरकता और उपयोगिता''। मानव कहाँ तक पूरक हुआ, उपयोगी हुआ इसका स्वयं में परिशीलन करने की आवश्यकता है। परमाणु गठनपूर्ण होने पर जीवन कहलाता है। उससे पहले गठनशील परमाणु है। गठनशील परमाणुओं में रासायनिक भौतिक क्रियाएँ ही होते हैं। जीवन क्रिया गठनपूर्ण परमाणु से ही होता है और दूसरे परमाणुओं से होता नहीं है। भौतिक क्रिया,

रासायनिक क्रिया और जीवन क्रिया ये तीन प्रकार की क्रियाएँ हैं, जो चार अवस्थाओं के रूप में प्रकाशित है। **जीवन क्रिया से ही ज्ञान का अभिव्यक्ति होती है। ज्ञान की अभिव्यक्ति को ही चेतना कहा है।** चेतना के चार स्तर हैं जीव चेतना, मानव चेतना, देव चेतना और दिव्य चेतना। इनमें श्रेष्ठता का क्रम है जीव चेतना से मानव चेतना श्रेष्ठ है, मानव चेतना से देव चेतना श्रेष्ठतर है, देव चेतना से दिव्य चेतना श्रेष्ठतम है। चेतना विकास के अर्थ में ही मध्यस्थ दर्शन लिखा है।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

मध्यस्थ क्रिया का स्वरूप

प्रश्न : सत्ता किस वास्तविकता को व्यक्त करती है?

उत्तर : सत्ता मध्यस्थ वस्तु है। वस्तु का मतलब है जो वास्तविकताओं को व्यक्त करे। पारगामी, पारदर्शी और व्यापक स्वरूप में सत्ता प्रस्तुत है। सत्ता मध्यस्थ है क्योंकि उस पर सम और विषम का प्रभाव नहीं पड़ता है।

परमाणु एक से अधिक अंशों का गठन है। गठनपूर्वक ही परमाणु है। ऐसे परमाणु के मध्य में कुछ अंश रहते हैं और परिवेशों में कुछ अंश होते हैं। जितने अंश चक्कर लगाते हैं, उतने या उससे अधिक अंश मध्य में रहते हैं। मध्य में जो अंश रहते हैं, वे घूर्णन गति करते हैं तथा जो परिवेश में रहते हैं वे घूर्णन के साथ वर्तुलात्मक गति भी करते हैं।

परमाणु का मध्यांश ''मध्यस्थ क्रिया'' करता है। यदि परिवेशीय अंश नाभिक से दूर जाते हैं (विषम क्रिया) या मध्य के पास आते हैं (सम क्रिया), तो उनको मध्यस्थ क्रिया पुनः निश्चित दूरी पर स्थापित कर देता है। इस तरह सम और विषम मध्यस्थ के नियंत्रण में रहते

हैं। मध्यस्थ दर्शन उसी के आधार पर नाम दिया है।

प्रश्न : मध्यस्थ बल क्या है?

उत्तर : सत्ता में भीगे रहने से मध्यांश में जो ताकत रहता है, उसी का नाम है मध्यस्थ बल। मध्यस्थ बल के आधार पर ही चुम्बकीय बल है जिससे मध्यांश द्वारा परिवेशीय अंशों को स्वयं स्फूर्त विधि से नियंत्रित करना बनता है।

इसी आधार पर कहा है ''व्यवस्था का मूल रूप परमाणु है।''

सत्ता मध्यस्थ है अर्थात् सत्ता सम और विषम प्रभावों से मुक्त है। मध्यस्थ क्रिया सम और विषम प्रभावों को नियंत्रित करता है। सत्ता कोई नियंत्रण करता नहीं है, जबकि मध्यस्थ क्रिया नियंत्रण करता है। दोनों में अंतर यही है।

परमाणु के सभी अंग अवयव अपने स्थान के अनुसार काम करते हैं। सभी परमाणु अंश एक जैसे होते हैं। जो परमाणु अंश मध्य में होता है वह मध्यस्थ क्रिया करता है। जो अंश परिवेश में होता है वह परिवेशीय क्रिया करता है। यह स्वयंस्फूर्त विधि से होता है। वैसे ही प्राणकोषा रचना के जिस स्थान पर रहते हैं, उसके अनुसार काम करते हैं। प्राणकोषा जो आँख में होते हैं वे आँख के अनुसार ही काम करते हैं, जीभ में जो प्राणकोषा होते हैं, वे जीभ के अनुसार ही काम करते हैं। इसको मैंने संयम काल में महीनों तक देखा। जब तक मैं संतुष्ट नहीं हो गया, तब तक देखा। इस तरह समझने के बाद ही मैंने दर्शन के रूप में इन्हें व्यक्त किया। मैंने प्रकृति से समझा, वैसे ही आप समझा हुए व्यक्ति से समझ सकते हैं।

प्रश्न : प्रकृति में उद्भव, विभव और प्रलय का क्या स्वरूप है?

उत्तर : उद्भव, विभव और प्रलय केवल भौतिक रासायनिक

17_samvaad_part2_2013_c

संसार के साथ ही है। जीवन और सत्ता नित्य विभव ही है। जीवन दो स्वरूप में हुआ भ्रमित रहने के स्वरूप में और जागृत रहने के स्वरूप में। भ्रमित रहने का स्वरूप है जीव चेतना। जागृत रहने का स्वरूप है मानव चेतना, देव चेतना और दिव्य चेतना। भौतिक रासायनिक संसार में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन है। जीवन में केवल गुणात्मक परिवर्तन है। इस बात को भौतिकवाद बनाम विज्ञान अभी तक पहचाना नहीं है।

प्रश्न : भौतिक रासायनिक संसार के साथ प्राकृतिक रूप में ''प्रलय'' का भाग है, उसको क्या 'विषम क्रिया' कहना ठीक है?

उत्तर : नहीं। विघटन होना 'प्रलय' है। भौतिक रासायनिक वस्तुओं में संगठन विघटन निरंतर बना ही रहता है। विघटन कोई विषम क्रिया नहीं है। उद्‌भव, विभव, प्रलय ''स्वभाव'' से संबंधित है।

प्रश्न : तो सम, विषम और मध्यस्थ क्रिया क्या है?

उत्तर : हरेक जड़ और चैतन्य परमाणु का मध्यांश मध्यस्थ क्रिया करता है। मध्यस्थ का मतलब है सम और विषम से प्रभावित नहीं रहना। विकास क्रम सम है, विकास सम है, जागृति क्रम सम है, जागृति सम है। विषम क्रिया है हमारे अधिकार से भिन्न काम करना। जैसे मानव का जीवों के स्वरूप में काम करना। व्यवस्था सहज सब कुछ सम है। व्यवस्था के विपरीत सब कुछ विषम है। मानव जाति के अलावा विषम क्रिया करने वाला या व्यवस्था के विपरीत करने वाला, अपराध करने वाला कुछ भी नहीं है। यह एक मौलिक बात है। केवल मानव को व्यवस्थित होने की आवश्यकता है। बाकी सब अव्यवस्थाओं को व्यवस्थित या नियंत्रित करने का अधिकार मानव को रहता है। जैसे जंगल बहुत बढ़ गया, उसको नियंत्रित करना। जीवों का अत्याचार बहुत बढ़ गया, उसको नियंत्रित करना। धरती में उत्पात बढ़ गया उसको नियंत्रित करना। इसी नियंत्रण के अर्थ में

मनुष्य का प्रगटन हुआ है। मानव को नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म और सत्य के ज्ञान होने पर ही वह नियंत्रण को प्रगट कर सकता है। इसी ज्ञान का अनुभव होने की आवश्यकता है।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

मध्यस्थ क्रिया

जड़ चैतन्य प्रकृति में पूर्णता की प्रेरणा मध्यस्थ क्रिया के रूप में है। जड़ प्रकृति में भी मध्यस्थ क्रिया है, चैतन्य प्रकृति में भी मध्यस्थ क्रिया है। जड़ प्रकृति में मध्यस्थ क्रिया (मध्यांश) आश्रित अंशों को संतुलित रखता है। चैतन्य प्रकृति (जीवन) में मध्यस्थ क्रिया है आत्मा इसलिए स्वतंत्रता की सम्भावना है। ज्ञानपूर्वक, अर्थात् सह अस्तित्व में अनुभव पूर्वक, मनुष्य विषयों को संवेदनाओं को, ऐषणाओं को नियंत्रित रखता है।

प्रश्न : जड़ चैतन्य प्रकृति में पूर्णता की प्रेरणा कैसे है?

उत्तर : **पूर्णता की प्रेरणा व्यापक से ही है। मध्यतस्थ सत्ता में वस्तुओं को मध्यस्थ क्रिया के लिए प्रेरणा मिलती है। प्रेरक वस्तु सत्ता है।** जड़ चैतन्य वस्तु प्रेरणा पाता है। परमाणु व्यापक वस्तु की प्रेरणा से मध्यस्थ क्रिया करता है। वैसे ही रसायन संसार, वनस्पति संसार और जीव संसार भी मध्यस्थ क्रिया करता है। व्यापक वस्तु के अनुसार प्रेरणा देने वाला जागृत मानव ही है, दूसरा कुछ भी नहीं है।

प्रश्न : अनुभव के पहले जीवन में मध्यस्थ क्रिया का क्या रोल (भूमिका) है?

उत्तर : अनुभव के पहले जीवन में मध्यस्थ क्रिया ज्ञानार्जन या अध्ययन के लिए प्रेरित करता है। ज्ञानार्जन या अध्ययन के लिए कल्पनाशीलता का प्रयोग आवश्यक है।

प्रश्न : जीवन क्रिया में ज्ञान कैसे व्यक्त हो जाता है? जड़ क्रिया में ज्ञान व्यक्त क्यों नहीं होता है?

उत्तर : **चैतन्य परमाणु में घूर्णन और वर्तुलात्मक गति के योगफल में कम्पनात्मक गति मिलती है। जड़ परमाणु में घूर्णन और वर्तुलात्मक गति के योगफल में इतनी कम्पनात्मक गति नहीं मिलती है।** इसलिए जड़ प्रकृति में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन होता है। जैसे भौतिक संसार का रसायन संसार में परिवर्तित होना मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन है। चैतन्य प्रकृति में केवल गुणात्मक परिवर्तन होता है।

जड़ प्रकृति में जितनी कम्पनात्मक गति है, उससे अधिक कम्पनात्मक गति जीवन में है। जीवन में इतनी कम्पनात्मक गति है कि वह ज्ञान स्वरूप में व्यक्त होने योग्य है। जीवन क्रिया में ज्ञान व्यक्त होना ही संचेतना है। जड़ क्रियाकलाप यांत्रिकता है। जीवन शरीर से जो क्रियाकलाप कराता है – वह यांत्रिकता है। जीवन में जड़ शरीर को संचालन करने के रूप में यांत्रिकता है। जीवन में ज्ञान संचेतना स्वरूप में व्यक्त होता है – दृष्टा पद में। जीवन में संचेतना और यांत्रिकता अविभाज्य हैं। संचेतना के प्रमाण के लिए यांत्रिकता है।

प्रश्न : जीवन में कम्पनात्मक, वर्तुलात्मक और घूर्णन गति साथ साथ हैं फिर आप यह कैसे कहते हैं कि कम्पनात्मक गति ही संचेतना का कारण है?

उत्तर : यही तो अनुभव है। अनुभव पूर्वक ही ऐसा कहा जा सकता है। केवल तर्क से ऐसा नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न : आदर्शवाद में भी तो ''अनुभव'' की बात की गयी है।

उत्तर : आदर्शवाद में कहा है ''रहस्य को अनुभव करो।''

आदर्शवाद रहस्य से शुरू होता है और रहस्य में ही अंत होता है। आदर्शवाद में कहा है ''अनुभव को बताया नहीं जा सकता सत्य अव्यक्त है, अनिर्वचनीय है।'' यहाँ कह रहे हैं वस्तु (वास्तविकता) को अनुभव करो। सह अस्तित्व में अनुभव करो। सह अस्तित्व रहस्य नहीं है। सह अस्तित्व हम सभी के सामने व्यक्त है, प्रत्यक्ष रूप में है। **इस मार्ग में पहले सह अस्तित्व स्पष्ट होता है, फिर उसके बाद अनुभव होता है।** अनुभव को बताया जा सकता है।

प्रश्न : सत्यता (सह अस्तित्व) को समझने का मनुष्य के जीने (यथार्थता) से क्या संबंध है?

उत्तर : सत्यता समझ आने के बाद, अर्थात् अनुभव होने के बाद, यथार्थता का अनुमान होता ही है। सत्ता में सम्पृक्तता समझ आने के बाद उसका प्रगटन कैसे किया जाए, अर्थात् उसको जिया कैसे जाए स्वभाविक रूप में समझ आता है। यह अनुमान कल्पनाशीलतापूर्वक ही होता है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

प्रभाव, कार्य ऊर्जा, गुण

सत्ता का प्रभाव सर्वत्र बना रहता है, सत्ता विकृत नहीं होता। उसी तरह प्रत्येक वस्तु का प्रभाव है। किसी वस्तु का प्रभाव जितनी दूर तक है, उससे वह वस्तु विकृत नहीं होती। वस्तु का प्रभाव नहीं हो तो वस्तुओं के बीच दूरी ही नहीं होगी। इकाई का प्रभाव क्षेत्र इकाई (के सीमा) से अधिक होता ही है। इसी से इकाईयों के बीच में दूरी बना रहता है। दो इकाईयों के प्रभाव क्षेत्र से अधिक दूरी उनके बीच बनी रहती है। चाहे दो परमाणु अंशों की परस्परता हो या दो धरतियों की परस्परता हो। इसी आधार पर इकाईयाँ एक दूसरे को पहचानती हैं और काम करती हैं।

जड़ वस्तु जितना लंबा चौड़ा होता है उसी जगह में काम करता है। चैतन्य वस्तु जितना लंबा चौड़ा होता है, उससे अधिक जगह में काम करता है। इकाई का प्रभाव क्षेत्र उसके कार्य क्षेत्र (सीमा) से ज्यादा होता है इसीलिए इकाईयों में परस्पर दूरी होती है।

संपृक्तता से इकाईयों में ऊर्जा सम्पन्नता, ऊर्जा सम्पन्नता से इकाईयों में चुम्बकीय बल सम्पन्नता, चुम्बकीय बल सम्पन्नता से कार्य ऊर्जा और कार्य ऊर्जा ही प्रभाव है। प्रभाव के आधार पर इकाईयों में पहचान और निर्वाह है। इकाई की पहचान उसके प्रभाव या वातावरण के साथ ही है। इकाई अपने वातावरण (प्रभाव) के साथ ही सम्पूर्ण है।

प्रभाव = गुण। वस्तु का प्रभाव = वस्तु का गुण। वस्तु का गुण = वस्तु का परस्परता में सम, विषम या मध्यस्थ प्रभाव। जड़ प्रकृति में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन होता है। मतलब जड़ वस्तु की मात्रा और उसके गठन में परिवर्तन होने के साथ साथ उसके प्रभाव (गुणों) में परिवर्तन होता है। चैतन्य प्रकृति (जीवन) में मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता, केवल गुणात्मक परिवर्तन होता है, या केवल उसके प्रभाव में परिवर्तन होता है। भ्रमित मानव का एक प्रकार का प्रभाव होता है। जागृत मानव का दूसरे प्रकार का प्रभाव होता है।

जीवन जो ज्ञान को व्यक्त करता है, वह एक प्रभाव है। ज्ञान या अनुभव को व्यक्त करने से जीवन का कोई व्यय होता ही नहीं है। शरीर में जो व्यय होता है, वह अपने गति से होता है। ज्ञान को व्यक्त करने का स्वरूप है अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा और प्रकाशन। अभिव्यक्ति और सम्प्रेषणा में शरीर का कोई व्यय/क्षति होता ही नहीं है। प्रकाशन में भौतिक रासायनिक वस्तु का भी व्यय होता। **(मानव में) ज्ञान प्रभाव है। प्रभाव से ही भाव, भाव से ही मूल्य, मूल्य से ही व्यवहार होता है।**

जीवन में निहित आशा, विचार, इच्छा, संकल्प, अनुभव के प्रभावों का मूल्यांकन करने वाला दिन आता है, तब ''जीना'' होता है। अभी शरीर को जीवन मानते हुए, हम मरने के लिए जीते हैं। जीवन को जीवन मानते हुए, हम जीने के लिए जीते हैं। शरीर एक भौतिक रासायनिक रचना है, उसमें परिवर्तन भावी है। उसको स्थिर मान कर जीव चेतना में शुरू करते हैं, इसलिए पराभवित होते हैं।

इकाईयाँ एक दूसरे के पास में आते हैं, फिर भी उनके बीच दूरी बनी रहती है। इकाईयाँ ठोस, तरल और विरल के रूप में प्रगट होती है।

परमाणु से अणु और अणु से रचना है। पहले वह रचना भौतिक क्रिया स्वरूप में ठोस, तरल, विरल रूप में है। भौतिक क्रिया में रचना तत्व का प्रगटन है। रचनातत्व में रचना करने की प्रवृत्ति रहती है। रचना तत्व से जितने भी खनिजों का प्रगटन होता है, वे तैयार हो गए। यौगिक विधि से रसायन तंत्र का प्रगटन होता है। जल पहला रसायन है। रसायन तंत्र में 'पुष्टि तत्व' का प्रगटन है और 'रचना तत्व' पहले से रहा। पुष्टि तत्व में परंपरा बनाने वाली प्रवृत्ति होता है। रचना तत्व और पुष्टि तत्व के संयोग से प्राणकोषा बन गए, जिसमें सांस लेने का गुण है। प्राणकोषा में रचना विधि स्वयं स्फूर्त आयी। जिससे पहली रचना है काई। काई भी अपने जैसा दूसरा बनाने का गुण (बीज वृक्ष विधि) गवाहित होता है। काईयों की कई प्रजाति होने के बाद, फिर प्राण सूत्रों में खुशहाली के आधार पर उत्तरोत्तर श्रेष्ठ वनस्पति रचना, स्वेदज शरीर रचना, जीव शरीर रचना, मानव शरीर रचना का स्वयं स्फूर्त प्रगटन है। लिंग विधि (स्त्रीलिंग/पुर्लिंग) की शुरूआत वनस्पति संसार से है। वनस्पति संसार में पुर्लिंग प्राणकोषा सर्वाधिक होता है, पिंडज संसार में उससे कम होता है और फिर मानव में स्त्रीलिंग और पुर्लिंग समान होता है। पशुओं में नर में बहु यौन प्रवृत्ति रहती है, मादा में संयत प्रवृत्ति रहती है। मानव में नर नारी दोनों में यौन चेतना एक सा होता है। यह

समझ में आने से पूरा प्रकृति आपको समझ में आता है या नहीं, यह आपको सोचना है।

साम्य ऊर्जा या सत्ता में भीगे रहने के फलस्वरूप सभी इकाईयों में ऊर्जा सम्पन्नता है। ऊर्जा सम्पन्नता के आधार पर चुम्बकीय बल सम्पन्नता है। ऊर्जा नहीं हो तो चुम्बकीयता भी न हो। चुम्बकीय बल सम्पन्नता के आधार पर ही क्रियाशीलता है। क्रियाशीलता के फलन में कार्य ऊर्जा है। कार्य ऊर्जा का ही प्रभाव क्षेत्र होता है। इकाईयों की परस्परता में उस प्रभाव क्षेत्र से अधिक दूरी होती है। इसीलिये इकाईयाँ शून्याकर्षण में हैं। इकाईयाँ एक दूसरे के प्रभाव क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करती, उससे अधिक दूरी बना कर स्वतन्त्र रहते हैं।

प्रश्न : कार्य ऊर्जा का क्या स्वरूप है?

उत्तर : जड़ प्रकृति में कार्य ऊर्जा का स्वरूप है ध्वनि, ताप और विद्युत। इसके साथ इकाईयों में परस्पर चुम्बकीय बल के रूप में भी कार्य ऊर्जा है। इन चार प्रकार की ऊर्जा का ही इकाई के चारों ओर वातावरण बना रहता है। मानव के चारों ओर भी उसका वातावरण बना रहता है। आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और अनुभव प्रमाण इन पाँच प्रकार से मनुष्य में ऊर्जा सम्पन्नता का प्रभाव रहता है।

प्रश्न : विद्युत तैयार होने की प्रक्रिया में क्या होता है?

उत्तर : इकाई के चुम्बकीय प्रभाव क्षेत्र का विखंडन होता है जो विद्युत में परिणित होता है। विद्युत भी एक प्रभाव ही है। विद्युत कोई कण नहीं है।

प्रश्न : प्रकाश क्या है?

उत्तर : प्रकाश भी इकाई का प्रभाव ही है। प्रकाश कोई कण

या तरंग नहीं है। प्रकाश में कोई गति नहीं होता है। ताप परम बिम्ब के प्रतिबिम्ब को प्रकाश कहा है। हर वस्तु प्रकाशमान है।

प्रश्न : चैतन्य शक्तियों का प्रभाव कितनी दूर तक रहता है?

उत्तर : अनुभव का प्रभाव सम्प्रेषणा के रूप में दूर दूर तक जाता है। सम्प्रेषणा का मतलब है पूर्णता के अर्थ में व्यक्त होना। मानव की जागृति का प्रभाव असीम दूरी तक जाता ही है। अनुभव के प्रभाव क्षेत्र में तो आप (अभी)समझ ही रहे हैं। शब्द के प्रभाव से उससे इंगित अर्थ को अस्तित्व में आप समझ रहे हो। शब्द के अर्थ में सत्य को समझ रहे हो।

प्रश्न : इकाईयों के बीच जो परस्पर प्रभाव है, उसमें क्या कोई वस्तु एक से दूसरे तक जाता है?

उत्तर : नहीं। जड़ इकाईयों के बीच चुम्बकीय धारा कोई वस्तु नहीं है, वह प्रभाव ही है। उसी तरह आप जो शब्द से अर्थ को समझते हो, उसमें मुझसे आप तक कोई वस्तु जाता नहीं है, वह प्रभाव ही है।

प्रश्न : जड़ और चैतन्य शक्तियों में क्या तुलना है?

उत्तर : जड़ प्रकृति में चुम्बकीयता है। चैतन्य प्रकृति में चुम्बकीयता (मन में) आशा के स्वरूप में काम करता है।

जड़ प्रकृति में चुम्बकीय बल के आधार पर भार बंधन और अणु बंधन होता है, वही गुरुत्वाकर्षण के रूप में स्पष्ट होता है। जड़ इकाईयों के प्रभाव क्षेत्र जब एक दूसरे को प्रतिच्छेद करते हैं तो भार बंधन और अणु बंधन का प्रकाशन होता है। चैतन्य प्रकृति में गुरुत्वाकर्षण का स्वरूप है। वृत्ति में न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि के विचारों का प्रिय, हित, लाभ दृष्टि के विचारों को आकर्षित करना और स्वयं में विलय करना।

जड़ प्रकृति में सामान्य हस्तक्षेप 'होने' और 'रहने देने' के स्वरूप में है। जैसे एक झाड़ है, उसके नीचे एक पौधा है। झाड़ पौधे को रहने देता या नहीं रहने देता है। यह रहने देना या नहीं रहने देना सामान्य हस्तक्षेप है। जैसे वट वृक्ष के नीचे कम से कम पौधा होता है। आम के वृक्ष के नीचे अधिक से अधिक पौधा होता है। चैतन्य प्रकृति में ये सामान्य हस्तक्षेप समझने समझाने के रूप में है (चित्त में)।

चैतन्य प्रकृति में सबल हस्तक्षेप बुद्धि के रूप में है। सत्य बोध हुआ है तो सबल हस्तक्षेप है। सबल हस्तक्षेप जड़ प्रकृति में नहीं होता। सबल हस्तक्षेप का प्रदर्शन मानव ही करता है समझदारी को एक से दूसरे में अंतरित करने के रूप में।

मध्यस्थ बल जड़ प्रकृति में भी रहता है, लेकिन चैतन्य प्रकृति में मध्यस्थ बल सर्वाधिक रहता है। मध्यस्थ बल सम और विषम से मुक्त है। इसका चैतन्य प्रकृति में विषम से मुक्ति का अर्थ है भ्रम से मुक्ति, अपराध से मुक्ति और भय से मुक्ति।

प्रचलित विज्ञान में जड़ प्रकृति के अध्ययन में पहले चार बलों (विद्युत चुम्बकीय बल, गुरुत्वाकर्षण बल, सामान्य हस्तक्षेप और सबल हस्तक्षेप) का नाम लिया जाता है। इन प्रचलित नामों की मैंने परिभाषा दी है। मध्यस्थ बल का प्रचलित विज्ञान में नाम भी नहीं है।

प्रचलित विज्ञान ने 'बोध' नाम की कोई चीज नहीं पहचानी। रासायनिक भौतिक वस्तुओं का एक दूसरे पर प्रभाव होता है, यह पहचाना है। प्रचलित विज्ञान ने चैतन्य वस्तु (जीवन) को नहीं पहचाना है। बोध को यहाँ (मध्यस्थ दर्शन में) चैतन्य वस्तु (जीवन) में पहचाना है। इससे किस विज्ञानी को तकलीफ है?

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

सम, विषम, मध्यस्थ

सम क्रिया =बनाना। विषम क्रिया = बिगाड़ना। मध्यस्थ क्रिया =बनाए रखना। मानव मूलतः मध्यस्थ को ही चाहता है। बनाए रखने के लिए हम बनाते हैं। जैसे घर को बनाए रखने के लिए हम घर को बनाते हैं। धान को बनाए रखने के लिए हम धान को उगाते हैं। गाय को बनाए रखने के लिए हम गाय को पालते हैं। मध्यस्थ क्रिया के लिए सम क्रिया का उपयोग होता है। उसी तरह अध्ययन रुपी सम क्रिया से समाधान (मध्यस्थ) को पाने के लिए प्रयत्न होता है। मध्यस्थ प्रतिष्ठा होने पर समाधान की निरंतरता हो जाती है। विषम क्रिया की सार्थकता का स्वरूप है अनावश्यकता का त्याग।

(अक्टूबर 2010, बांदा, उ.प्र.)

आचरण ही नियम है

आचरण ही नियम है।

दो अंश का परमाणु भी आचरण करता है।

अणु भी आचरण करता है।

अणु रचित रचनायें भी आचरण करते हैं।

प्राण कोषा भी आचरण करता है।

प्राण कोषा से रचित रचना भी आचरण करता है।

गठनपूर्ण (तृप्त) परमाणु (जीवन) भी आचरण करता है।

जीव (जीव शरीर और जीवन का संयुक्त स्वरूप) वंश अनुषंगीयता विधि से आचरण करता है।

मानव (मानव शरीर और जीवन का संयुक्त स्वरूप)

संस्कारानुषंगीयता विधि से आचरण करता है।

जीवन जागृत होकर मानव परम्परा में मानवीयतापूर्ण आचरण करता है।

सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व में इतना ही है।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

नियम, नियंत्रण, संतुलन

आचरण ही नियम है। पदार्थ अवस्था में संगठन–विघटन (स्वभाव) के स्वरूप में आचरण है, वही पदार्थ अवस्था का नियम है। प्राण अवस्था में सारक–मारकता (स्वभाव) के स्वरूप में आचरण है, वही प्राण अवस्था का नियम है। जीव अवस्था में क्रूर–अक्रूर (स्वभाव) के स्वरूप में आचरण है, जो जीव अवस्था का नियम है। ज्ञान अवस्था में जागृति पूर्वक ही आचरण की पहचान सम्भव है। ज्ञान अवस्था में न्याय ही नियम है।

आचरण की निरंतरता ही नियंत्रण है। एक एक के रूप में आचरण या नियम को पहचाना जाता है। परम्परा के रूप में नियंत्रण पहचान में आता है। पदार्थ अवस्था में परम्परा या नियंत्रण का स्वरूप है परिणाम अनुषंगीयता। प्राण अवस्था में परम्परा या नियंत्रण का स्वरूप है बीज अनुषंगीयता। जीव अवस्था में परम्परा या नियंत्रण का स्वरूप है वंश अनुषंगीयता। ज्ञान अवस्था में परम्परा का स्वरूप जागृति के बाद ही पहचान में आता है। ज्ञान अवस्था में परम्परा या नियंत्रण का स्वरूप है समाधान। समाधान परम्परा या संस्कार अनुषंगीयता से ही ज्ञान अवस्था का नियंत्रण प्रमाणित होता है। समाधान ही सुख है, जो मानव धर्म है। सुखी मानव परम्परा ही स्वयंस्फूर्त नियंत्रित होती है।

उपयोगिता और पूरकता ही संतुलन है। पदार्थ अवस्था

प्राण अवस्था के लिए पूरक है। प्राण अवस्था पदार्थ अवस्था के लिए उपयोगी है। प्राण अवस्था जीव अवस्था के लिए पूरक है। जीव अवस्था प्राण अवस्था के लिए उपयोगी है। इस तरह आगे और पिछली अवस्था के साथ पूरकता और उपयोगिता के साथ संतुलन प्रमाणित होता है। मानव (ज्ञान अवस्था) का संतुलन जागृति के बिना प्रमाणित नहीं होता। जागृति के बाद ज्ञान अवस्था संतुलन (पूरकता और उपयोगिता) को व्यवस्था में जीने के स्वरूप में प्रमाणित करती है। यही सत्य (सह अस्तित्व) का परम प्रमाण है।

इस तरह न्याय, धर्म और सत्य ही मानव के लिए क्रमशः नियम, नियंत्रण और संतुलन का स्वरूप है।

(अगस्त 2006)

मानव में नियंत्रण

व्यापक में प्रकृति डूबा हुआ, भीगा हुआ और घिरा हुआ है। भीगा हुआ से ऊर्जा सम्पन्नता है। डूबा हुआ से क्रियाशीलता है। घिरा हुआ से नियंत्रण है। भीगा हुआ के साथ डूबा हुआ और घिरा हुआ बना ही है।

प्रश्न : व्यापक से इकाई घिरे होने से वह नियंत्रित कैसे है?

उत्तर : घिरा होना ही नियंत्रण है। व्यापक से इकाई घिरा न हो तो उसका इकाईत्व कैसे पहचान में आएगा? नियंत्रण का मतलब है निश्चित आचरण की निरंतरता।

प्रश्न : जड़ प्रकृति में नियंत्रण कैसे है?

उत्तर : हर जड़ इकाई व्यापक वस्तु से घिरी है, इसलिए नियंत्रित है। जड़ वस्तु में अनियंत्रित करने वाली कोई बात नहीं है।

प्रश्न : मनुष्य भी तो व्यापक में घिरा है, फिर वह नियंत्रित

17_samvaad_part2_2013_c

क्यों नहीं है?

उत्तर : मनुष्य में "कल्पनाशीलता" है "कर्मस्वतंत्रता" है। मनुष्य नियंत्रण चाहता है। पर अपनी मनमानी के अनुसार नियंत्रण चाहता है, उसमें वह असफल हो गया है। पूरा मानव जाति इसमें असफल हो गया है। असफल होने के बाद हम पुनर्विचार कर रहे हैं।

अनियंत्रित होने के लिए मनुष्य ने प्रयत्न किया, पर हो नहीं पाया। इसके आधार पर पता चलता है, नियंत्रित रहना जरूरी है। मनुष्य के लिए क्या नियंत्रित रहना जरूरी है? इसका शोध करने पर पता चलता है संवेदनाएं नियंत्रित रहना जरूरी है। संवेदनाएं नियंत्रित कैसे रहेंगी? इसका शोध करते हैं तो पता लगता है समझपूर्वक संवेदनाएं नियंत्रित रहेंगी। **सत्ता में हम घिरे हैं यह समझ में आने पर संवेदनाएं नियंत्रित रहती हैं। सत्ता के बिना चेतना नहीं है। चेतना के बिना मानव चेतना नहीं है। मानव चेतना के बिना संवेदनाएं नियंत्रित नहीं है।**

प्रश्न : मनुष्य भी तो व्यापक में सदा डूबा भीगा घिरा रहता है, फिर अध्ययन पूर्वक अनुभव के बाद उसमें तात्विक रूप से ऐसा क्या हो जाता है कि वह निश्चित आचरण को प्रमाणित करने लगता है?

उत्तर : अध्ययन पूर्वक अनुभव करने से जीवन की प्रवृत्ति बदल जाती है। यही गुणात्मक विकास है। मनुष्य में तात्विकता उसकी प्रवृत्ति भी है। प्रवृत्ति बदलती है तो आचरण परिवर्तित हो जाता है। **कल्पनाशीलता प्रवृत्ति के रूप में है। कल्पनाशीलता का तृप्ति बिंदु ज्ञानशीलता या समझ है। ज्ञानपूर्वक संवेदनाएं नियंत्रित हो जाती हैं। संवेदाएं नियंत्रित होने पर मनुष्य द्वारा निश्चित आचरण पूर्वक व्यवस्था में भागीदारी करना बनता है।**

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

प्रकृति में नियंत्रण

साम्य ऊर्जा (सत्ता) में ही हम (सारी प्रकृति) नियंत्रित रहते हैं। सत्ता में घिरे रहने से सम्पूर्ण प्रकृति नियंत्रित है। सत्ता इकाईयों को नियंत्रित ''करने वाला'' नहीं है। सत्ता में इकाईयाँ नियंत्रित हैं। इकाई के नियंत्रित रहने का ''कारण'' सत्ता है। सत्ता में इकाईयाँ डूबी, भीगी और घिरी हैं। **घिरे रहने का प्रभाव है नियंत्रण। डूबे रहने का प्रभाव है इकाई की कार्य सीमा। भीगे रहने का प्रभाव है ऊर्जा सम्पन्नता।**

सत्ता में संपृक्तता वश सम्पूर्ण प्रकृति में व्यवस्था में होने की मूल प्रवृत्ति है। ऊर्जा सम्पन्नता के आधार पर ही जड़ प्रकृति में व्यवस्था में होने की प्रवृत्ति है। ज्ञान सम्पन्नता के आधार पर ही चैतन्य प्रकृति में व्यवस्था में होने की प्रवृत्ति है। चैतन्य प्रकृति में मानव भी है। मानव में ज्ञान सम्पन्नता का आरंभिक स्वरूप है कल्पनाशीलता। कल्पनाशीलता के आधार पर मानव ने अभी तक जितना भी व्यवस्था के लिए सोचा और किया वह जीव चेतना के अंतर्गत ही रहा। जीव चेतना में मानव का व्यवस्था में जीना बना नहीं। मानव के व्यवस्था में जीने के लिए समझदारी का परंपरा आवश्यक रहा। तभी मानव एक दूसरे को समझा पायेंगे और व्यवस्था में जी पायेंगे। दूसरा कोई रास्ता भी नहीं है।

(दिसम्बर 2008)

व्यवस्था में होने की मूल प्रवृत्ति

किसी भी चुम्बकीय पदार्थ के दो ध्रुव बनते हैं। धरती के भी दो ध्रुव हैं क्योंकि धरती में भी चुम्बकीयता को वहन करने वाले पदार्थ हैं। धरती के दो ध्रुवों के बीच, धरती के मध्य में एक चुम्बकीय धार बना रहता है। इसके साथ विकिरणीय धातुओं के प्रभाव के फलस्वरूप धरती ठोस होने और ठोस बने रहने का कार्यकलाप होता है। धरती

के मध्य चुम्बकीय धार का प्रभाव उसकी घूर्णन गति से विखंडित होने से धरती की सतह पर विद्युत धारा दक्षिण से उत्तर की ओर दौड़ता है। उसी आधार पर हमें कुतुबनुमा में चुम्बकीय सुई उत्तर दिशा को दिखाती है।

हम धरती पर विद्युत का जितना भी उत्पादन करते हैं, उसका स्त्रोत धरती की वस्तु ही है। विद्युत जो प्रवाहित होता है, अंत में वह धरती में ही वापस जा कर समाता है। प्रवाहित होने के क्रम में ध्वनि, ताप आदि में परिवर्तित होते हुए यंत्रों को चलाता है।

धरती अपनी घूर्णन गति के आधार पर अपना एक वातावरण बना कर रखा है। प्रत्येक इकाई अपने वातावरण सहित अन्य इकाईयों से निश्चित दूरी को बना कर कार्य करती है। इकाईत्व का पहचान उसी कारण हो पाता है। जैसे सूर्य और धरती हैं। सूर्य अपने वातावरण सहित है। धरती अपने वातावरण सहित है। इन दोनों के बीच में शून्य है। धरती सूर्य के या सूर्य धरती के वातावरण की सीमा में नहीं है। इनके बीच दूरी इनके वातावरण की सीमा में बहुत ज्यादा है। धरती और सूर्य शून्य आकर्षण में रहते हैं। ये दोनों परस्पर एक व्यवस्था में हैं। यह एक अद्‌भुत बात है। परमाणु अंश मिलकर जो परमाणु की व्यवस्था बनाते हैं, उनमें भी वैसा ही है। हर वस्तु में व्यवस्था को प्रमाणित करने की प्रवृत्ति है यह इसका प्रमाण है।

प्रत्येक एक अपने वातावरण सहित सम्पूर्ण है। वातावरण सहित सम्पूर्ण होने का मतलब है निश्चित आचरण करना। मूल वस्तु (सह अस्तित्व) को परिशीलन करने पर मैंने पाया सत्ता में संपृक्त होने से प्रत्येक एक ''सम्पूर्णता'' और ''पूर्णता'' में गर्भित है। गठन पूर्णता के पूर्व (जड़ प्रकृति) ''सम्पूर्णता'' को व्यक्त करते हैं। गठन पूर्णता के बाद (चैतन्य प्रकृति या जीवन) ''पूर्णता'' को व्यक्त करते हैं। जड़ चैतन्य प्रकृति पूर्ण (सत्ता) में गर्भित होकर पूर्णता (गठन पूर्णता, क्रिया पूर्णता, आचरण पूर्णता) के लिए काम कर रही है। मनुष्येतर प्रकृति

सम्पूर्णता के साथ ''त्व सहित व्यवस्था'' है। मानव प्रकृति पूर्णता के साथ ''त्व सहित व्यवस्था'' है। इसके आधार पर सारी बात व्यवस्था के लिए सूत्र बद्ध हो जाती है। सूत्र बद्ध होने से अध्ययन सुगम हो जाता है। इन चार पाँच मूल सूत्रों के आधार पर ही मैं अपनी सारी बात करता हूँ। मानव यदि इसका अध्ययन कर पाता है तो उसमें स्वानुशासन स्वरूपी स्वयंस्फूर्त व्यवस्था की प्रवृत्ति उदय होगी। स्वानुशासन स्वरूप ही स्वतंत्रता है। बाकी सब आरोप है या तो हम किसी पर प्रभाव डालने में व्यस्त रहते हैं या किसी से प्रभावित होने में व्यस्त रहते हैं।

अध्ययन के लिए प्रकृति के व्यवस्था में होने की मूल प्रवृत्ति के सत्य को ''स्वीकारना'' होगा। फिर उसको सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तर पर ''जाँचना'' होगा। उस जाँच में संतुष्टि होने की जगह मिलती है। सबसे महत्वपूर्ण है स्वयं में इसको जाँचना। स्वयं में जाँचने का प्रवृत्ति आप में आ गया तो सब पकड़ में आ जाएगा।

(दिसम्बर 2008)

चुम्बकीयता

प्रश्न : चुम्बकीयता क्या है?

उत्तर : रासायनिक भौतिक संसार तक ही चुम्बकीयता की बात है। हर जड़ इकाई में आकर्षण और विकर्षण के सम्मिलित स्वरूप को चुम्बकीयता कहा है। आकर्षण विकर्षण के आधार पर ही संगठन विघटन होता है। भौतिक रासायनिक संसार में व्यवस्था के अर्थ में ही आकर्षण और विकर्षण है।

भ्रमित चैतन्य में वही चुम्बकीयता भय (विकर्षण) और प्रलोभन (आकर्षण) के स्वरूप में कार्य कर रहा है।

व्यापक (मूल ऊर्जा) में भीगे रहने के आधार पर रासायनिक

भौतिक वस्तु द्वारा चुम्बकीयता की अभिव्यक्ति है। मूल ऊर्जा सम्पन्नतावश जड़ प्रकृति में जो चेष्टा होती है, उसी से श्रम, गति, परिणाम होता है। श्रम, गति, परिणाम होने से पुनः कार्य ऊर्जा प्रगट होती है। कार्य ऊर्जा का आंकलन और गणना प्रचलित विज्ञान ने भी किया है। सम्पूर्ण प्रकृति का प्रगटन श्रम, गति, परिणाम के आधार पर है। परिणाम का अमरत्व, श्रम का विश्राम और गति का गंतव्य ही विकास और जागृति का आधार है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

ध्वनि, ताप, विद्युत

हर इकाई अपने प्रभाव क्षेत्र को बना कर रखती है। दो पदार्थों के प्रभाव क्षेत्र जब पास में आते हैं तो उनमें संघर्ष/घर्षण से ध्वनि होता है। उससे उनके बीच वायु के कण अनुप्राणित हो जाते हैं, जिससे ध्वनि तरंग होती है।

अणु, परमाणु सभी वस्तुएं सक्रिय हैं। क्रिया के फलस्वरूप ताप होता है। ताप विहीन इकाई नहीं है। अवस्था के अनुसार इकाई के स्वस्थता में रहने की एक ताप अवधि है, उस ताप को वह इकाई बनाए रखता है। ताप स्वस्थता के अर्थ में है।

जड़ प्रकृति में एक सीमा तक ताप को सहने की बात रहती है, उसके बाद उसमें विकार पैदा होता है। चैतन्य प्रकृति (जीव और मानव) में ताप की अनुकूलता के लिए प्रयास होता है।

जड़ वस्तु में अणुओं में संकोचन और प्रसारण होना पाया जाता है। उसी के आधार पर उनमें विद्युत ग्राहिता होती है। विद्युत प्रवाहित होने की स्थिति में यह संकोचन और प्रसारण बढ़ जाता है। हर प्राणकोषा में संकोचन प्रसारण पाया जाता है, इसलिए हर प्राण अवस्था की रचना विद्युतग्राही है। चुम्बकीयतावश विद्युत का प्रसव

है। चुम्बकीयता के मूल में साम्य ऊर्जा में संपृक्तता है।

(दिसम्बर 2008)

ध्वनि, ताप, विद्युत का मूल स्वरूप परमाणु स्तर पर है

परमाणु में गति के स्वरूप को हमने समझा। गति के फलस्वरूप ध्वनि भी होता है, ताप भी होता है, विद्युत भी होता है। ताप, ध्वनि और विद्युत का मूल स्वरूप परमाणु के स्तर पर है।

सत्ता में संपृक्त होने से परमाणु अंश चुम्बकीय बल संपन्न है। परिवेशीय अंशों और नाभिक के बीच में चुम्बकीय धार बनती है, जिसके नाभिकीय घूर्णन गति द्वारा विखंडन पूर्वक विद्युत पैदा होती है। अकेले परमाणु अंश में विद्युत की पहचान नहीं है।

परमाणु अंशों के वातावरण में परस्पर घर्षण के कारण ध्वनि है। दूसरे वस्तु के वातावरण के साथ घर्षण हुए बिना ध्वनि की पहचान नहीं है।

उसी तरह दो वस्तुएं व्यवस्था में साथ रहते हैं तो ताप पैदा होता ही है। जैसे, जीभ और दांत के बीच घर्षण से ताप पैदा होता ही है। वह इसकी स्वभाव गति है। व्यवस्था में कार्य करते तक स्वभाव गति है। अव्यवस्था होने पर ताप बढ़ गया या कम हो गया।

ध्वनि, ताप और विद्युत परस्परता में ही व्यक्त होते हैं, इसीलिए इनको सापेक्ष शक्तियाँ या कार्य ऊर्जा भी कहा है। एक इकाई द्वरा अपने गुणों को व्यक्त करने के लिए दूसरी इकाई की आवश्यकता है ही।

ताप परिवर्तित होता है। जैसे चूल्हे में हाथ डालने पर हाथ जल जाता है, थोड़ा दूर रखने पर गर्म लगता है और दूर जाने पर उसका प्रभाव समाप्त हो जाता है।

आवेश को पचाने की शक्ति स्वभाव गति में ही होती है। परमाणु में ध्वनि, ताप और विद्युत को (एक सीमा तक) पचाने का प्रावधान रहता है। आवेशित इकाई में ध्वनि, ताप और विद्युत स्वभाव गति से अधिक होता है। उसके पास में दूसरी इकाई जो पहले अपने स्वभाव गति में थी उस आवेश को अपने में पचाती है, जिससे उसकी गति पहले से बढ़ जाती है। परमाणु में होने वाली मध्यस्थ क्रिया इस आवेश (बढ़ी हुई गति) को सामान्य बनाती है।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

सम्पूर्णता और पूर्णता

सम्पूर्णता और पूर्णता प्रसिद्ध है।

भौतिक–रासायनिक संसार (जड़ प्रकृति) "सम्पूर्णता" के अर्थ में क्रियाशील है। हर भौतिक–रासायनिक इकाई अपने वातावरण सहित सम्पूर्ण है। फलस्वरूप त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदार है। यह एक सिद्धांत है।

चैतन्य संसार (जीवन) "पूर्णता" के अर्थ में क्रियाशील है। जीव अवस्था में जीवन गठनपूर्णता सहित वंश अनुषंगीयता विधि से शरीर रचना की व्यवस्था के अनुसार क्रियाशील है। ज्ञान अवस्था (मानव) में जीवन क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता के अर्थ में क्रियाशील है।

जड़ प्रकृति में "सम्पूर्णता" की बात है। चैतन्य प्रकृति में "पूर्णता" की बात है।

जड़ प्रकृति (भौतिक–रासायनिक संसार) जीव शरीर और मानव शरीर के स्वरूप में भी है। इस तरह भौतिक–रासायनिक संसार गठनपूर्णता का प्रमाण (जीने में) प्रस्तुत करता है। जीवन जड़ प्रकृति को उपयोग करते हुए अपने होने के प्रमाण को प्रस्तुत करता

है।

जो "है" उसी का अध्ययन है। "है" से वर्तमान इंगित है। "हुआ था", "हो जायेगा", "हो सकता है" का अध्ययन नहीं है। "है" के अनुसार ही "प्रवृत्ति" पहचानी जाती है। जड़ प्रकृति है और चैतन्य प्रकृति है। जड़ प्रकृति में सम्पूर्णता की प्रवृत्ति है। चैतन्य प्रकृति में पूर्णता की प्रवृत्ति है। अस्तित्व में प्रवृत्ति इतना ही है।

जड़ प्रकृति में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन है। मानव में ही गुणात्मक परिवर्तन पूर्वक क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता को प्रकाशित करने का अवसर है। यह अवसर कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता के रूप में है।

(जनवरी 2009 अमरकंटक)

सम्पूर्णता और पूर्णता

पूर्ण में समाहित रहने के कारण प्रकृति में पूर्णता की तृषा है। सत्ता को पूर्ण कहा है। पूर्ण से आशय है न घटना, न बढ़ना। पूर्ण में समाहित होने से प्रकृति में परिवर्तनशील होने (पूर्णता) और व्यस्वथा में होने (सम्पूर्णता) की प्रवृत्ति है। व्यवस्था (परंपरा के स्वरूप में रहना) भी निरंतरता के अर्थ में है।

सम्पूर्णता के लिए प्रवृत्ति जड़ प्रकृति में है। पूर्णता के लिए प्रवृत्ति जीवन (चैतन्य प्रकृति) में है।

पूर्णता का स्वरूप है गठन पूर्णता, क्रिया पूर्णता, आचरण पूर्णता। पूर्णता का मतलब ''ज्यादा कम से मुक्त''।

गठन पूर्णता = निश्चित गठन = जो परमाणु अंशों के घटने बढ़ने या ज्यादा कम होने से मुक्त है।

क्रिया पूर्णता और आचरण पूर्णता में समाधान न ज्यादा है, न

कम है। समृद्धि न ज्यादा है, न कम है। अभय (विश्वास) न ज्यादा है, न कम है। सह अस्तित्व (सत्य) न ज्यादा है, न कम है।

क्रिया पूर्णता और आचरण पूर्णता जो शेष है उसके लिए मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन का प्रस्ताव है। हम सत्ता में भीगे हैं, उसके प्रति जागृत होना, उसका दृष्टा होना, उसको प्रमाणित करना अभी शेष है। जीवन ही है जो स्वयं को पहचानता है, और सर्वस्व को पहचानता है। अभी भ्रमित स्थिति में जीवन स्वयं को शरीर स्वरूप में पहचाना हुआ है जिसको ''जीव चेतना'' कहा है। स्वयं को पहचानना और सर्वस्व को पहचानना ही तो कुल मिला करके अध्ययन है, जिसके फलस्वरूप व्यवस्था को पहचानना और निर्वाह करना बनता है।

स्थितिपूर्ण सत्ता में स्थितिशील प्रकृति संपृक्त होने के कारण हरेक वस्तु स्वयं में व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता है। मानव में भी यह होने के लिए अध्ययन है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

सह अस्तित्व का प्रतिरूप

व्यवस्था का साक्षात्कार नहीं होगा तो व्यवस्था में हम जियेंगे कैसे? व्यवस्था के अर्थ में यदि अस्तित्व को समझते हैं तो व्यवस्था के अर्थ में जीना बनता है। व्यवस्था के अर्थ में ही जड़ और चैतन्य है। वह व्यवस्था सह अस्तित्व ही है। अनुभव होने के बाद मानव सह अस्तित्व के प्रतिरूप में कार्य करता है। सह अस्तित्व के प्रतिरूप का मतलब है चारों अवस्थाओं के साथ संतुलित स्वरूप में जीना। मनुष्येत्तर प्रकृति पहले से ही संतुलित है। मानव का संतुलित होना अनुभवमूलक विधि से ही संभव है।

प्रकृति का क्रियाकलाप स्वयं स्फूर्त है। प्रकृति को कोई पैदा करके ''ऐसा करो! वैसा करो!'' निर्देश करता हो ऐसा नहीं है। मनुष्य

भी जागृत होने पर स्वयं स्फूर्त हो जाता है।

एक परमाणु अंश से परस्परता में पहचान शुरू होती है। पहचान के आधार पर ही निर्वाह करना होता है। **निर्वाह करना = आचरण करना। परमाणु से ही स्वयं स्फूर्त निश्चित आचरण की शुरूआत होती है।** दो अंश का परमाणु एक निश्चित आचरण करता है। बीस अंश का परमाणु एक दूसरा निश्चित आचरण करता है। गठन में जितने परमाणु हैं, उसके अनुसार परमाणु की प्रजातियाँ हैं। जितने प्रजाति के परमाणु हैं, उतनी तरह के आचरण हैं। एक प्रजाति के सभी परमाणु एक ही तरह का आचरण करते हैं।

प्रश्न : ऐसा होने का क्या कारण है? परमाणु का आचरण क्यों निश्चित है?

आगे वनस्पतियों और जीवों के आचरण निश्चित होने का क्या कारण है?

उत्तर : कारण है व्यवस्था! दूसरा, सह अस्तित्व अपने प्रतिरूप को प्रस्तुत करने के लिए निरंतर प्रगटनशील है।

सह अस्तित्व समझ में आये बिना यह क्यों और कैसे होता है, समझ में आ नहीं सकता। कल्पनाशीलता के अलावा इसको समझने के लिए मनुष्य के पास और कोई औजार नहीं है।

प्रश्न : "सह अस्तित्व का प्रतिरूप" से क्या आशय है?

उत्तर : पदार्थ अवस्था में सह अस्तित्व का प्रतिरूप प्रस्तुत होने की शुरुआत है। ज्ञान अवस्था में सह अस्तित्व के प्रतिरूप की परिपूर्णता है। सह अस्तित्व अपने प्रतिरूप को प्रस्तुत करने के लिए नित्य प्रगटनशील है। पदार्थ अवस्था मात्र से सह अस्तित्व का सम्पूर्ण प्रतिरूप प्रगट नहीं होता। जीव अवस्था के शरीरों की रचना और जीवन का प्रगटन इसी क्रम में हुआ। जीवन का प्रगटन जागृत होने के लिए और जागृति को प्रमाणित करने के लिए हुआ। सह

अस्तित्व का प्रगटन क्रम पूर्णता की ओर प्रगति है। गठन पूर्णता के बाद क्रिया पूर्णता का पड़ाव, क्रिया पूर्णता के बाद आचरण पूर्णता का पड़ाव है। सह अस्तित्व का प्रमाण क्रिया पूर्णता और आचरण पूर्णता में ही होता है। "सह अस्तित्व यही है।" ऐसा प्रमाणित करने वाला ज्ञान अवस्था का मानव ही है। पूर्णता का प्रमाण भ्रम से मुक्ति है।

स्थितिपूर्ण सत्ता में संपृक्त स्थितिशील प्रकृति पूर्णता की ओर प्रगटनशील है। **प्रकृति द्वारा व्यापकता के अनुकरण का प्रमाण विविधता से मुक्ति पाना है।** व्यापकता में कोई विविधता नहीं है। सबके साथ समान रूप से पारगामी है, सबके साथ समान रूप से पारदर्शी है और व्यापक है ही। पदार्थ अवस्था में जातीय विविधता दिखती है। प्राण अवस्था में भी जातीय विविधता है। जीव अवस्था में भी जातीय विविधता है। ज्ञान अवस्था या मानव में जातीय विविधता नहीं है। मानव जाति एक है। मानव जाति में जागृति पूर्वक सह अस्तित्व पूरा व्यक्त होता है। इसको "सम्पूर्णता" नाम दिया। मानव जाति एक होना, मानव धर्म एक होना, हर व्यक्ति और हर परिवार का व्यस्वथा में भागीदार होना। सर्व मानव के लिए ज्ञान यही है। इस तरह सम्पूर्णता में प्रमाण है। सम्पूर्णता सह अस्तित्व ही है।

स्वयंस्फूर्त प्रगटन ही सृष्टि है। ऊर्जा सम्पन्नता पूर्वक स्वयंस्फूर्त प्रगटन है। ऊर्जा सम्पन्नता का स्त्रोत व्यापक वस्तु है। सह अस्तित्व का प्रतिरूप ज्ञान अवस्था में ही पूरा प्रमाणित होता है और दूसरे कहीं होता नहीं है। पूरा प्रमाणित करना ज्ञान अवस्था में ही होता है। उसके आंशिकता में ही बाकी सारी अवस्थाएं कार्य कर रही है।

(अप्रैल 2012, अमरकंटक)

कालवादी ज्ञान

क्रिया की अवधि का नाम है काल। जैसे सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक धरती की घूर्णन क्रिया की अवधि को "एक दिन" कहते हैं। क्रिया की अवधि का विभाजन करने का अधिकार मानव के पास

आया, कल्पनाशीलता की बदौलत। जैसे – एक दिन के 24 विभाजन करके 24 घंटे, 1 घंटे के 60 विभाजन करके 60 मिनट, आदि। मानव ने इस विभाजित अवधि में क्रिया को पहचानने का प्रयास किया। ''काल की अवधि में क्रिया हो रही है'' ऐसा मान लेते हैं। जबकि क्रिया विभाजित होती नहीं है। क्रिया निरंतर बनी रहती है। ''काल के अनुसार क्रिया होती है'' मानव ने ऐसा उल्टा सोच लिया। यहीं से बेवकूफी की शुरुआत है। काल की अवधि में क्रिया की गणना करने का प्रयास करना बुद्धूपन हुआ कि नहीं? यही ''बुद्धिमत्ता'' सारे अनर्थ करने का आधार बना है।

काल की गणना मानव की कल्पनाशीलता द्वारा है। अस्तित्व में ''काल'' शब्द से इंगित कोई वस्तु नहीं है। हम यह गणना नहीं कर सकते हैं पदार्थ कब हुआ था? हम यह गणना नहीं कर सकते हैं जीव कब हुआ था? हम यदि ऐसी कोई गणना करते हैं तो वह हमारी 'इच्छा' या 'कल्पना' के अनुसार ही होगा, 'अनुभव' के आधार पर नहीं होगा। अस्तित्व धर्म के आधार पर काल की गणना नहीं है। पुष्टि धर्म के आधार पर काल की गणना नहीं है। वंश अनुरूप जीने की आशा धर्म के आधार पर काल की गणना नहीं है। हम यही कह सकते हैं मानव से पहले जीव संसार था, जीव संसार के पहले वनस्पति संसार था, वनस्पति संसार के पहले पदार्थ संसार था इतनी हम गणना कर सकते हैं।

(नवम्बर 2009, अछोटी)

काल

मानव ने किसी आवर्तनशील क्रिया के आधार पर काल का गणना शुरू किया। जैसे धरती के अपनी धुरी पर सूर्योदय से सूर्योदय तक घूर्णन करना एक आवर्तनशील क्रिया है। सूर्योदय से सूर्योदय तक की धरती की क्रिया की अवधि को "एक दिन" कहा। उसके आधार पर कितने समय में पेड़ बड़ा होता है, यह मकान कितना

पुराना है यह सब गणना करना शुरू किया। काल की गणना मूलतः धरती की क्रिया की गणना ही है। उसमें कोई तकलीफ भी नहीं है।

फ़िर मानव ने विखंडन विधि से गणित करना शुरू किया। जैसे धरती को भाग विभाग करके पहचानना, किसी बड़ी राशि को दस 50 भागों में बांटना आदि। इतने तक में कोई तकलीफ नहीं थी। उसी विखंडन विधि से गणित करने के क्रम में एक दिन के 24 भाग करके "एक घंटा" को गणना किया। एक घंटे के 60 भाग करके "एक मिनट" का गणना किया। एक मिनट के 60 भाग करके "एक सेकंड" का गणना किया। उसके भी भाग विभाग करते चले गए, अंत में शून्यवत् संख्या में काल को ले गए। "काल है ही नहीं" कह दिया। जबकि जिस आधार पर समय को पहचाना था वह क्रिया (धरती का अपनी धुरी पर घूमना) निरंतर चल ही रहा है। धरती अनादि काल से सूर्योदय से सूर्योदय तक क्रिया कर ही रहा है, अभी भी कर रहा है, आगे भी करता रहेगा। आवर्तनशील क्रिया का आधार छोड़ कर जो वास्तविकता देखने गए तो "अपनी चाहत के अनुसार" विज्ञानियों ने निष्कर्ष निकाल लिए। काल को शून्यवत् करके विज्ञानी अस्तित्व को भुलावा दे दिए। वस्तु को छोड़ दिए, गणित को पकड़ लिए। गणित लिखने में आता है, गणना करने में आता है वस्तु उससे कुछ मिलता नहीं है।

(1) वस्तु को छोड़ कर जो भी पहचानने गए वह निराधार हुआ कि नहीं?

(2) इस निराधार सोच, कार्यकलाप को करने वाला मानव "आवारा पशु" जैसे हुआ कि नहीं?

(3) वर्तमान को शून्य करके विज्ञानी संसार को "सच" बोला कि "झूठ" बोला?

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

2.2 जीवन

जीवन, मेधस, जीवनी क्रम, जागृति क्रम

नियति विधि से अस्तित्व में गठनपूर्णता घटित हुआ। जीवन एक गठनपूर्ण परमाणु है जिसमें मध्य में एक परमाणु अंश और चार परिवेशों में 2, 8, 18, 32 परमाणु अंश होते हैं। इस तरह जीवन 61 परमाणु अंशों का निश्चित गठन है। गठनपूर्ण परमाणु (जीवन) में अपने में और अंशों को समाने तथा अपने में से अंशों को बहिर्गत करने की बात नहीं रहती। इसी को "परिणाम का अमरत्व" कहा है।

जीवन परमाणु अणुबंधन और भारबंधन से मुक्त, तथा आशाबंधन से युक्त होता है। जीवन परमाणु जीने की आशा से संपन्न होता है। आशाबंधन से युक्त होने का मतलब हर जीवन अपने जीने की आशा के अनुरूप एक कार्य गति पथ बनाने योग्य होता है। कार्य गति पथ अपने आप में एक आकार होता है जैसे बकरी का आकार, बाघ का आकार, मानव का आकार। सभी जीवन परमाणुओं का कार्य गति पथ एक जैसा नहीं होता। गठनपूर्णता होते ही जीवन एक कार्य गति पथ सहित ही होता है। हर जीवन एक कार्य गति पथ के साथ ही होता है।

नियति क्रम विधि से ही विविध जीवों की शरीर रचनाओं का प्रगटन हुआ। जिस आकार की शरीर रचना है, उसी कार्य गति पथ वाला जीवन उस शरीर रचना को जीवंत बनाने में प्रवृत्त होता है। जीवन में तदाकार तद्रूप होने की व्यवस्था है । जिस जीव के गर्भ में रचित शरीर को जीवन चलाना शुरू करता है, उस जीव को चलाने वाले जीवन के कार्यक्रम को तदाकार तद्रूपता में स्वीकार लेता है। इसी आधार पर बाघ का बच्चा बाघ जैसा ही आचरण करता है, बिल्ली का बच्चा बिल्ली जैसा ही आचरण करता है।

प्रश्न : क्या जीवन का कार्य गति पथ बदलता भी है?

उत्तर : सामान्यतः वही कार्य गति पथ ही रहता है। जैसे बाघ के आकार के कार्य गति पथ वाले जीवन बारम्बार बाघ का शरीर ही चलाता है। गुणात्मक परिवर्तन विधि से कार्य गति पथ का बदलना होता है। जैसे बाघ का मानव से संसर्ग होने पर, बाघ शरीर को चलाने वाला जीवन यदि शरीर छोड़ते समय मानव आकार को स्वीकार ले, तब उस जीवन में इस गुणात्मक परिवर्तन की आवश्यकता बन जाती है। मरते समय जीवन सुरूप कुरूप, सुख दुःख को स्वीकारते हुए शरीर छोड़ता है। मरते समय यदि जीवन में मानवाकार की स्वीकृति बनती है, तो उसका कार्य गति पथ बदल जाता है।

प्रश्न : क्या जीवन की मनोगति अलग अलग जीवों में अलग अलग है?

उत्तर : जीवन में अपने स्वत्व के रूप में मनोगति एक ही है। शरीर रचना के अनुसार उसके व्यक्त होने में अन्तर हो जाता है।

जीवों में जीवन वंश अनुषंगीयता विधि से व्यक्त होने में अन्तर हो जाता है।

जीवों में जीवन वंश अनुषंगीयता विधि से व्यक्त होता है। जीवन द्वारा जीव शरीर को जीवंत बनाने पर संवेदनाएं प्रगट होती हैं। जीव शरीर में जो संवेदनाएं प्रगट होती हैं, वे चार विषयों (आहार, निद्रा, भय, मैथुन) की सीमा में समीक्षित हो जाती हैं। जीव संसार में जीवन वंश के अनुसार, उस शरीर की आवश्यकता के अनुसार काम करता है।

नियति क्रम विधि से (प्राण सूत्रों में निहित रचना विधि के उत्तरोत्तर विकास से) मानव शरीर का प्रगटन हुआ। मानव शरीर के साथ जीवन में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता प्रगट होने की बात आ गयी। मानव शरीर में समृद्धिपूर्ण मेधस होने से जीवन अपनी कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता को प्रगट करने योग्य हुआ। ज्ञान का

शुरुआत कल्पनाशीलता है। उससे पहले जीवों में चार विषयों का ज्ञान प्रमाणित हो चुका। मानव में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता वश संवेदनाओं को राजी रखने के लिए काम करने की बात शुरू हुई।

मानव शरीर रचना के आधार पर ही जीवन अपनी कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता को व्यक्त करता है। मानव शरीर रचना से पूर्व जीव शरीरों द्वारा जीवन कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता को व्यक्त नहीं करता। जीवों में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता को व्यक्त करने का कोई प्रावधान भी नहीं है। यह मूल बात है, इसको आपको पहचानने की ज़रूरत है।

प्रश्न : क्या जीव शरीरों को चलाने वाले जीवनों में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता को प्रगट करने की "चाहत" रहती है?

उत्तर : नहीं। "चाहत" की शुरुआत मानव (जीवन) से ही है। बकरी के शरीर को चलाने वाले जीवन में बकरी के शरीर को चलाने से अधिक की बात नहीं होती, न उससे कम की बात होती है। वंश अनुषंगीयता विधि से जीव शरीर को चलाते जीवन में वंश अनुरूप कार्यकलाप करने से भिन्न करने की कोई व्यवस्था ही नहीं है।

भौतिकवाद जीव संसार और मानव संसार को जोड़ना चाहता है। भौतिकवाद (प्रचलित विज्ञान) मानव को जीव ही मानता है। जबकि वास्तविकता उससे भिन्न है।

जीवन जिस जीव शरीर को चलाता है, वह जीव शरीर भी सप्त धातुओं से तैयार होता है, तथा उनमें समृद्ध मेधस रहता है। मानव में मेधस समृद्धि पूर्ण होता है तथा समृद्धि पूर्ण मेधस के अनुरूप बाकी सभी इन्द्रियाँ भी विकसित हैं। "समृद्धि पूर्ण" मेधस इसलिए नाम दिया क्योंकि इसके द्वारा जीवन में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता प्रगट हो सकती है। मानव से पहले जीवों में कल्पनाशीलता और

कर्मस्वतंत्रता प्रगट होने का कोई प्रावधान ही नहीं है। इसके प्रमाण में कोई जीव जानवर अपना फसल बोता नहीं है, अपना यान वाहन तैयार करता नहीं है, अपने आहार को तैयार करता नहीं है। मानव जबकि यह सब करता है अपनी कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता के आधार पर। इसको चाहे आप नकार लो, चाहे सकार लो! फ़िर भी ऐसा ही है।

नकारने और सकारने की बात मानव के पास कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता के आधार पर ही है। मानव में कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता के प्रगट होने के साथ उसकी तृप्ति की तलाश या अन्वेषण भी शुरू हो जाती है। इन प्रयासों के फलन में सुखी होने और दुखी होने के परीक्षण करने की भी बात आ गयी। सुखी होना और दुखी होना यह मानव के साथ ही बना है।

सुख और दुःख को जीव जानवरों के साथ जोड़कर हम कभी पार नहीं पायेंगे! जीवों में सुख दुःख की पहचान नहीं होती। जीव केवल वंश अनुषंगीयता पूर्वक विषयों की सीमा में जीते हैं।

मानव इतिहास में अभी तक मानव कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता सहित पहले "वंश" के अनुसार जिया। उसके बाद "कर्म" के अनुसार जिया। उसके बाद कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता के तृप्ति बिन्दु के आधार पर जीता है। ये तीन सीढ़ियाँ हैं। दो सीढ़ियाँ मानव पार कर चुका है। तीसरी सीढ़ी तृप्ति बिन्दु के आधार पर जीने के लिए यह (मध्यस्थ दर्शन) प्रस्ताव अध्ययन के लिए प्रस्तुत है। ज्ञान (सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान) पूर्वक जीने में ही सुखपूर्वक या तृप्तिपूर्वक जीने की बात बनती है। इस तरह ज्ञानपूर्वक (अनुभव के बाद) मानव की 4 विषयों में प्रसक्ति 5 संवेदनाओं में विलय हो जाती है और पाँचों संवेदनाएं (संवेदनशीलता) संज्ञानीयता में नियंत्रित हो जाती है।

संज्ञानीयता पूर्वक संवेदनाएं नियंत्रित हो जाती हैं, यही मानव

चेतना है। यह एक सिद्धांत है।

सुख का प्रमाण ज्ञान के अनुसार मानव के जीने में ही आता है। ऐसे जीने का प्रारूप है समाधान समृद्धि पूर्वक जीना। यही कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता का तृप्ति बिन्दु है ।

कल्पनाशीलता का तृप्ति बिन्दु है समाधान।

कर्मस्वतंत्रता का तृप्ति बिन्दु है समृद्धि।

उसका प्रमाण मैंने स्वयं को घोषित किया है। वह यदि आप अध्ययनपूर्वक पा लेते हो तो वह एक से दूसरे व्यक्ति में अंतरित हुआ।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

चयन आस्वादन

भ्रम में जीते हुए तक शरीर संवेदनाओं के आस्वादनपूर्वक चयन करते हैं।

जागृतिपूर्वक अनुभवमूलक विधि से मूल्यों के आस्वादनपूर्वक चयन करते हैं।

(दिसम्बर 2008)

जीवन, मेधस और स्मृति

जीवन एक गठनपूर्ण परमाणु है। उसमें 61 क्रियाकलाप हैं जो परावर्तन और प्रत्यावर्तन विधि से 122 आचरण हैं। जीवन का गति मनोवेग के बराबर है। मनोगति अक्षय गति है जो गणित से परे है। मनोगति से चलता जीवन प्राण कोशिकाओं के मध्य से चलता रहता है। उसकी गति से बनने वाला जो वातावरण है, वह एक तरंग को पैदा करता है। मन मेधस पर कैसा संकेत देना है, वैसा तरंग

पैदा होता है। मेधस में स्नायु तंत्र का गुच्छा रसायन जल में तैरता रहता है। रसायन जल में जीवन तरंग प्रसारित करता है। उन तरंगों को स्नायु पढ़ लेते हैं। मेधस तंत्र में जो सूक्ष्म तंतुएं या स्नायु बनी हैं, उनमें यह अभ्यास है। स्नायु पुनः जो रसायन जल में तरंग पैदा करते हैं, उनको जीवन पढ़ लेता है। स्नायु तंत्र के आधार पर मांस पेशियाँ काम करते हैं। मांस पेशियों और स्नायु तंत्र के अनुसार हड्डियाँ काम करती हैं।

हर कार्य को समझने / सीखने का तंत्र जीवन ही है, तथा उस सीख / समझ को शरीर द्वारा गतिशील बनाने का स्त्रोत भी जीवन ही है। मानव गतिशील होने का आधार जीवन ही है।

स्मरण शक्ति जीवन में होता है, मेधस में नहीं होता। अभी के प्रचलित विज्ञान की जबरदस्ती है कि स्मरण मेधस में रखा है। मेधस में जीवन के संकेतों को ग्रहण करना और जीवन के लिए संकेतों को प्रसारित करना यही काम चलता रहता है। स्मरण जीवन का काम है। जीवन में कल्पनाशीलता है। कल्पनाशीलता से जीवन बहुत सारी चीजों को कल्पित करता है, बहुत सारी चीजों को शरीर द्वारा क्रियान्वयन करता है। जो क्रियान्वयन करता है, उसका आंकलन करता है वही स्मरण है। कई बातों को सकारा रहता है, कई बातों को नकारा रहता है यही स्मरण है। चित्त में चित्रण के रूप में सारी स्मृतियाँ बनी हैं। **विचार याद आना यह भी स्मृति का काम है। विश्लेषण वृत्ति की क्रिया है उसका स्मृति चित्त में है। चयन मन की क्रिया है उसकी स्मृति चित्त ही बनाए रखता है। मन जो आस्वादन करता है, उसका स्मृति चित्त में ही बना रहता है। वृत्ति जो तुलन करता है, उसकी स्मृति चित्त ही बना कर रखता है। उसके बाद आत्मा जब अनुभव करता है उसकी स्मृति भी चित्त में बनी रहती है। अनुभव का भी स्मरण चित्त में रहता है। आत्मा और बुद्धि क्रिया के रूप में कार्यरत रहते हैं। स्मरण भी एक क्रिया ही है।**

स्मृतियाँ मानव परम्परा में अति आवश्यकीय भाग है। समझदारी को व्यक्त करने के लिए स्मृति चाहिए। ईमानदारी को व्यक्त करने के लिए स्मृति चाहिए। जिम्मेदारी को व्यक्त करने के लिए स्मृति चाहिए। भागीदारी को व्यक्त करने के लिए स्मृति चाहिए।

प्रश्नः इससे पहले कौनसी शरीर यात्राएं रही, इसकी कोई स्मृति क्यों नहीं रहती?

उत्तरः इस शरीर यात्रा से पहले कौनसी शरीर यात्राएं की थी इसका कोई मतलब भी नहीं है। उससे कोई प्रयोजन भी नहीं है। शरीर यात्रा करना जीवन क्रिया है। हर जीव शरीर और मानव शरीर में जो जीवन अब काम कर रहा है, वह पहले बहुत सारे शरीर यात्रा कर चुका है। किस शरीर को चलाया? इसका कोई मतलब नहीं है। शरीर को चलाने वाले जीवन का ज्ञान हो गया। जीवन शरीर को चलाता है, यह पता चल गया।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

शरीर यात्रा

शरीर को जीवन मान कर जब जीते हैं तो यह सोच बुढापे में जा कर गलत हो ही जाती है। बचपन में अभिभावकों के संरक्षण में बच्चे कुछ करते हैं, फ़िर युवावस्था में कुछ करते हैं, प्रौढ़ावस्था में अपना जलवा दिखाते हैं और बुढ़ापे में चारों खाने चित पड़ जाते हैं। वैसे ही जैसे अखाड़े में पहलवान चारों खाने चित गिर जाता है!

प्रश्न : बुढापे में चारों खाने चित होने के स्थान पर होना क्या चाहिए?

उत्तर : संबंधों का निर्वाह होना चाहिए। माँ–बाप को अपने घर पर ही मरना चाहिए अस्पताल में नहीं! अस्पताल में उनके मरने का इंतज़ार करने के लिए उन्हीं के बच्चे ले जाते हैं। अपने घर में

अपने विश्वसनीय जनों के सान्निध्य में शरीर त्याग करना ज्यादा अच्छा है। क्या ठीक होगा? आप ही सोच कर तय करो।

जब तक मरणासन्न वृद्ध की साँस चलती है, आस रखो। उसकी जो सेवा की आवश्यकता है, वह कर दो। जैसे बच्चे निस्सहाय होते हैं, उनकी सेवा करके उनके माता पिता उनको बड़े बनाते हैं... ठीक उसी तरह बुजुर्गों की आख़िरी साँसों के समय में उनकी अपेक्षाओं को पहचान कर उनकी सेवा करते रहने में क्या तकलीफ है? यह आपको करना नहीं है तो यह आपकी कायरता है। विवेक पूर्वक सोचा जाए तो उसके अलावा बचने की कोई जगह नहीं है। चाहे यह देश हो या कोई और देश हो!

चिंतन अभ्यास शरीर यात्रा पर्यंत चलता रहता है। यह अपने घर परिवार के लोगों के बीच आश्वस्ति पूर्वक होता है। जैसे आपके सामने मैंने यह पूरा चिंतन व्यक्त किया। आपके सामने इस चिंतन को बनाए रखने में मुझे विश्वास होगा या नहीं?

जीवन मूलक विधि से सोचते हैं तो हम "अच्छी तरह जीने" की जगह में पहुँचते हैं। शरीर की अपनी मर्यादा है। उससे समाधान यही है "आयु के अनुसार काम"। जैसे कोई बच्चा पैदा होते ही तो पायलट का काम करना नहीं शुरू कर देता। किसी आयु में ही कर पाता है। आयु शरीर की ही होती है। आयु के अनुसार शरीर काम करने योग्य होता है। **जीवन की कोई आयु नहीं होती। जीवन में केवल जागृति या भ्रम ही होता है।**

जागृति के लिए मानव सदा से ही प्रयास रत रहा है। पहले भी था, आज भी है, आगे भी रहेगा। प्रयास तो रहा है विधिवत् हो या विधि को छोड़ कर हो। "मध्यस्थ दर्शन का अध्ययन" विधिवत् प्रयास के लिए एक प्रस्ताव है।

हर अभिभावक अपने में जो त्रुटियाँ मानता हैं, वे अपने बच्चों

में न हों यह सोचता है। यह इस बात की गवाही है मानव स्वयं जागृत न हो, तो भी उसकी आगे परम्परा से जागृति की अपेक्षा रहती है।

जीवन के "सार ज्ञान" को संसार में आबंटित करके शरीर की यात्रा को पूरा करना हर व्यक्ति चाहता है। जिसको भी वह "सार" माना रहता है। इसी से मानव जाति एक पीढ़ी से दूसरा पीढ़ी समृद्ध होता आया है। इसी विधि से मानव पहले जीव चेतना में चार विषयों की सीमा से पाँच संवेदनाओं की सीमा में आया। अब पाँच संवेदना से मानव चेतना का रास्ता (अध्ययन विधि) बन गया है। मानव चेतना में संज्ञानीयता पूर्वक संवेदनाएं नियंत्रित होती हैं। इस प्रस्ताव की मानव परम्परा से जुड़ाव केवल संवेदनाओं के भाग में है। संवेदनाओं के भाग में हम जुड़े हैं संवेदनाएं नियंत्रित होने की जगह के लिए। और कुछ भी नहीं है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

सुख, दुःख एवं शरीर यात्रा

अनुभव के लिए स्वीकृति ज्यादा है, प्रश्न कम है। प्रमाणित होने के लिए अनुभव है और सभी प्रश्नों का उत्तर है।

वास्तविकता = वस्तु जैसा है, मतलब त्व सहित व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी।

प्रश्न : दुःख क्या कोई वास्तविकता है?

उत्तर : दुःख वास्तविकता यदि होती तो उसको सभी मानव सभी समय समाप्त करने के लिए कोशिश क्यों करते हैं? समस्या = दुःख। समस्या या दुःख कभी भी मानव को स्वीकृत नहीं है। समस्या और दुःख में सकारात्मक भाग ही नहीं है। जीव चेतना में जीता हुआ भ्रमित मानव भी समस्या और दुःख को नकारता है। दुःख को भला

कौन भोगना / मोल लेना चाहता है?

प्रश्न : तो ''दुःख'' शब्द से क्या इंगित है?

उत्तर : पीड़ा। व्यवस्था का विरोध ही पीड़ा है, दुःख है, समस्या है। व्यवस्था का स्वरूप सह अस्तित्व है। व्यवस्था के विपरीत जो भी मनुष्य प्रयत्न करता है, सोचता है वह दुःख है।

आदर्शवाद ने कहा सुख और दुःख को बताया नहीं जा सकता। जबकि यहाँ कह रहे हैं व्यवस्था में जीना सुख है, समाधान है। अव्यवस्था में जीना दुःख है, समस्या है। मानव जब व्यवस्था में जीता है तो तीनों प्रमाण होते हैं अनुभव प्रमाण, व्यवहार प्रमाण और प्रयोग प्रमाण। इन तीनों प्रमाण के साथ सुखी नहीं होगा तो और क्या होगा?

प्रश्न : वियोग होने पर दुःख तो होता है न?

उत्तर : वियोग होता कहाँ है? वियोग का मतलब है नासमझी। शरीर सदा के लिए बनता ही नहीं है। एक आयु के बाद शरीर विरचित होता ही है, जैसे पत्ता पक कर गिर ही जाता है, झाड़ एक दिन मर ही जाता है, जीव जानवर मर ही जाते हैं वैसे ही मानव शरीर भी मरता है। यह एक साधारण बात है।

प्रश्न : लेकिन मृत्यु से होने वाले वियोग पर शोक तो होगा ही न?

उत्तर : परंपरा यदि बनता है तो वियोग होगा ही नहीं। मेरी बात आपको स्वीकार हो जाती है, तो फिर हमारा वियोग कहाँ हुआ? जीवन मूलक विधि से वियोग नहीं है। जीवन जीवन से प्रभावित होकर रहता है, यह परंपरा है। शरीर का वियोग होता है। जीवन शरीर को छोड़ देता है, जब वह उसके काम का नहीं रहता, या उसके अनुसार काम नहीं करता। परंपरा विधि से वियोग होता नहीं

है। शरीर यात्रा में जो उद्देश्य अपूर्ण रह गया, उसकी पूर्ति करना आगे की पीढ़ी का काम है। मानव परंपरा जीवन उद्देश्य की आपूर्ति के लिए है। अभी जीवन उद्देश्य को पहचाने बिना हम दौड़ रहे हैं, इसीलिये दुःख है, शोक है, समस्या है। जीवन उद्देश्य (सुख, शान्ति, संतोष, आनंद) और मानव लक्ष्य (समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व) को पहचानने के लिए अभी तक इतिहास में कौन गया? क्या ऐसा इतिहास में आपने कहीं पढ़ा है? कौन से समुदाय की परंपरा ने इसको अपनाया है?

जीवन उद्देश्य और मानव लक्ष्य परंपरा में स्वीकार होने पर उसी की आपूर्ति के लिए सभी काम करते हैं, फिर उसमें वियोग हुआ या निरंतरता हुई? इस निरंतरता का स्वरूप है अनुभव प्रमाण, व्यवहार प्रमाण, प्रयोग प्रमाण। इसकी आपूर्ति के लिए ही जीना, आगे पीढ़ी के लिए हस्तांतरित करना और शरीर को छोड़ देना। इसमें वियोग क्या हुआ? मानव परंपरा में शरीर पुनः बनता ही रहता है। पुनः शरीर ग्रहण करेंगे, यही काम करेंगे। कहाँ वियोग? किसका वियोग? इसमें रोने धोने की जगह कहाँ है? दूसरे के शरीर शांत होने पर संवेदनाएं तो होती हैं यदि और जीते रहते तो लक्ष्य के लिए और काम कर सकते थे, इस अर्थ में शोक व्यक्त करना ठीक है। यह सबसे मासूमियत का भाग है।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

देखना और समझना

प्रश्न : मरने के बाद क्या जीवन ''देख'' पाता है?

उत्तर : मरने पर जीवन शरीर को छोड़ देता है। जीवन उस स्थिति में देख और सुन सकता है, किन्तु उस स्थिति में मानव परंपरा में वह प्रमाणित नहीं हो सकता है।

प्रश्न : शरीर छोड़ी हुई स्थिति में क्या जीवन ''समझ'' पाता

है?

उत्तर : नहीं। शरीर को छोड़ने के समय तक जीवन जितना समझा रहता है, उतना ही समझ उसमें शरीर छोड़ी हुई स्थिति में रहता है। जीवन और मानव शरीर के सह अस्तित्व में ही समझ का प्रमाण होता है। मानव परंपरा में उपकार विधि से ही समझा जा सकता है।

जीवन ''समझ'' को दो विधियों से हासिल कर सकता है। (1) शोध, (2) अनुसंधान। परंपरा से जो मिलता है, उसको जाँचना (अध्ययन विधि) शोध है। परंपरा से जो नहीं मिलता है, उसके लिए अनुसंधान है।

पूर्णता के अर्थ में वेदना

जीव चेतना में मानव (जीवन) शरीर को जीवन मानता है। जीवन अपनी आवश्यकताओं को शरीर से पूरा करने की कोशिश करता है, जो पूरा होता नहीं है, इसलिए अतृप्त रहता है। शरीर में होने वाली संवेदनाओं का नियंत्रण हो सकता है, लेकिन उनको चुप नहीं कराया जा सकता। संवेदनाओं का चुप होना समाधि की अवस्था में होता है, जब आशा, विचार, इच्छा चुप हो जाती है। मानव परंपरा को संवेदनाओं के नियंत्रण की जरूरत है, न कि संवेदनाओं को चुप करने की।

समाधान या पूर्णता के अर्थ में वेदना ही संवेदना है। वेदना के निराकरण में विचार प्रवृत्ति के बदलते बदलते सच्चाई के पास पहुँच ही जाते हैं। नियति विधि से मानव संवेदना जो प्रकट हुई, उसमें तृप्त होने की अपेक्षा है। आदर्शवादियों ने संवेदनाओं को चुप कराने के लिए कोशिश किया वह सफल नहीं हुआ। भौतिकवादियों ने संवेदनाओं को राजी रखने के लिए कोशिश किया – वह सफल नहीं हुए फलस्वरूप उससे धरती ही बीमार हो गयी।

आत्मा में अनुभव की प्यास है, इसीलिए संवेदना होती है। इतनी ही बात है। संवेदनाएं होने के आधार पर ही जिज्ञासाएं बनते हैं। जितनी सीमा में मनुष्य जीता है या अभ्यास करता है, उससे अधिक का विचार करता है, बात करता है। अध्ययन पूर्वक आत्मा की प्यास बुझती है। अनुभव होता है, जो जीने में प्रमाणित होने पर आत्मा की प्यास बुझी यह माना जाता है।

प्रश्न : अनुभवपूर्वक जो आत्मा की प्यास बुझती है, क्या उससे आत्मा का कार्य रूप पहले से बदल जाता है?

उत्तर : नहीं। आत्मा का कार्य रूप नहीं बदलता। आत्मा की प्यास बुझने पर जीवन में कार्य करने की प्रवृत्तियाँ बदल जाती हैं। इस तरह जीवन की दसों क्रियाएँ प्रमाणित होती हैं। अभी साढ़े चार क्रिया में मानव जी रहा है, इसीलिए उसमें अनुभव का प्यास बना है। साढ़े चार क्रिया में जीने में तृप्ति नहीं है। साढ़े चार क्रिया में शरीर मूलक विधि से जीते हुए तृप्ति के बारे में जो भी सोचा वह गलत हो गया, सभी अपराधों को वैध मान लिया गया।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

2.3 मानवीय आचरण एवं व्यवस्था

न्याय

न्याय का अर्थ है संबंध (की पहचान), मूल्य (निर्वाह), मूल्यांकन और उभय तृप्ति।

दो समझदार (अनुभव संपन्न) व्यक्तियों के बीच ही न्याय प्रमाणित होता है।

दो भ्रमित व्यक्तियों के बीच न्याय प्रमाणित होने की कोई सम्भावना ही नहीं है।

एक व्यक्ति समझदार हो, दूसरा समझदार नहीं हो, उस स्थिति में समझदार व्यक्ति अपने में तृप्ति पूर्वक न्याय करता है। लेकिन दूसरा व्यक्ति (जो समझदार नहीं है) वह प्रामाणिकता के अभाव में न्याय नहीं कर पाता है और अपने में अतृप्त ही रहता है। इसलिए इस स्थिति में उभय तृप्ति नहीं होगी।

समझदार व्यक्ति के साथ भ्रमित व्यक्ति के संबंध में भ्रमित व्यक्ति को समझाकर तृप्त होने का मार्ग बनता है। समझदार व्यक्ति भ्रमित व्यक्ति की समझदारी के लिए मार्गदर्शन हेतु प्रेरणा का स्त्रोत बन जाता है।

समझदार व्यक्ति द्वारा न्याय करना कोई अहसान नहीं है। समझदार व्यक्ति अपनी संतुष्टि को प्रमाणित करते हुए, "स्वाभाविक" रूप में न्याय करता है, विश्वास मूल्य को प्रमाणित करता है। समझदार व्यक्ति के साथ भ्रमित व्यक्ति भी कोई अविश्वास का काम नहीं कर पाता है। जैसे मेरे साथ कोई व्यक्ति चाहे आगंतुक विधि से क्यों न हो अविश्वास नहीं कर पाता है। मेरे न्याय करते हुए, उस प्रभाव में, आप कोई अविश्वास का काम कर ही नहीं सकते। अविश्वास का आप कोई प्रस्ताव ही नहीं रख सकते।

पशु मानव या राक्षस मानव एक मानवीयता संपन्न मानव के सम्मुख अपनी पशुता और राक्षसीयता को व्यक्त नहीं कर पाता है। मानवीयता संपन्न मानव का यह प्रभाव सामयिक रहता है। क्योंकि इस सान्निध्य से बाहर आने पर पशु मानव और राक्षस मानव प्रवृत्तियाँ (दीनता, हीनता, क्रूरता) वापस हो सकता है। किंतु जो क्षण उसने जागृत मानव के सान्निध्य में बिताये उसके स्मरण में वह नयी परिस्थितियों को जाँचने लगता है। जाँचने पर जो उसको ज्यादा मूल्यवान लगता है, उसमें वह संलग्न हो जाता है। उसके परिवार में न्यायपूर्वक जीने की "चाहत" पहले से ही बनी रहती है। अड़ोस पड़ोस में न्यायपूर्वक जीने की "चाहत" रहती ही है। **शनैः शनैः**

अध्ययन पूर्वक वह व्यक्ति मानवीयता संपन्न होने तक पहुँचता ही है।

मानवीयता संपन्न होने पर मानव अपने में सिमट नहीं पाता है। मानवत्व प्रगट होना ही होता है। गलतियों और अपराध प्रवृत्ति के साथ मानव सिमट जाता है। न्याय के साथ मानव का विस्तार बढ़ता जाता है। जीवन अपनी स्वीकृतियों के आधार पर ही अपने विस्तार का निर्धारण करता है। आप और मैं यदि न्याय को प्रमाणित कर पाते हैं, तो वह तीसरे व्यक्ति तक प्रसारित होता ही है। हम तीनों यदि न्यायपूर्वक जी गए तो चौथे, फ़िर पाँचवे तक यह पहुँचता ही है। न्याय और उभय तृप्ति का स्वागत होता ही है।

मानव परस्परता में विश्वास ही तृप्ति बिन्दु है। विश्वास कोई भौतिक–रासायनिक वस्तु नहीं है। यह चैतन्य प्रक्रिया है। संबंधों में मूल्यों को प्रमाणित करने के अर्थ में ही भौतिक–रासायनिक वस्तुएं अर्पित समर्पित होते हैं (शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति के अर्थ में)।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

संबंध, न्याय और सामाजिकता

संबंध क्यों हैं? व्यवस्था में जीने के लिए संबंध हैं। और कोई प्रयोजन नहीं है संबंधों का! संबंधों में ही व्यवस्था में होने रहने की गवाही मिलती है। संबंधों को छोड़ कर मानव के व्यवस्था में होने रहने की कोई गवाही नहीं मिलती।

संबंध पूर्णता (क्रिया पूर्णता, आचरण पूर्णता) के अर्थ में अनुबंध हैं। अनुबंध का मतलब प्रतिज्ञा है। पूर्णता के अर्थ में ही सारे संबंध हैं। चाहे वह माँ बच्चे का संबंध हो या बंधु बांधव का संबंध हो। सह अस्तित्व की समझ मूल में रहने पर ही संबंधों में तृप्ति की

17_samvaad_part2_2013_c

निरंतरता बन पाती है। अभी जो है, थोड़े समय तक संबंध निभा, फ़िर टूट गया यह परेशानी सह अस्तित्व की समझ के बाद दूर हो जाती है। सामाजिकता में परेशानी भी यही है। पहले दिन हम दूसरे के साथ जो संबंध को पहचाना, वैसे वह निभ नहीं पाना। सह अस्तित्व में समझ पूर्वक संबंध को सटीक पहचानने की योग्यता आती है। इस तरह समझदारी पूर्वक संबंधों को सटीक पहचानने पर संबंध निभ पाते हैं, उनमें तृप्ति की निरंतरता बनती है। इस तरह अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था की सूत्र व्याख्या हो जाती है।

न्याय है : (प्रयोजन के अर्थ में) संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन और उभय तृप्ति। संबंधों में न्यायपूर्वक जीना ही मानव के व्यवस्था में जीने का पहला सीढ़ी / चरण है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन 2006, कानपुर)

<u>संबंधों की पहचान</u>

संबंधों की पहचान होने पर ही संबंधों में न्यायपूर्वक जीने की स्थिति बनती है। संबंधों में ही जीना होता है। संबंधों को छोड़ कर जीने की कोई स्थली ही नहीं है।

न्याय के लिए "संबंधों की पहचान" आवश्यक है। संबंधों की "पहचान" कहा है, संबंधों का "निर्माण" नहीं कहा है। हम संबंधों में हैं ही हमें उन संबंधों को पहचानने की आवश्यकता है।

संबंधों की पहचान होने पर मूल्यों का निर्वाह होता ही है। **संबंधों के संबोधन या नाम तो हम पा गए हैं लेकिन उनके प्रयोजनों को नहीं पहचाने हैं। प्रयोजनों की पहचान के लिए ही अध्ययन है।**

हम जहाँ हैं अपनी उपयोगिता, सदुपयोगिता और प्रयोजनशीलता को पहचान ही सकते हैं। कम से कम अपने परिवार में अपनी

उपयोगिता को पहचानने का अधिकार हरेक के पास रखा है। समाज और व्यवस्था परिवार के ही आगे की कड़ियाँ हैं।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

ज्ञान से समृद्धि

ज्ञान सारे अस्तित्व के साथ है।

मानव कितना विस्तार तक ज्ञान रूप में फैल सकता है, आप सोच लो! अनंत और असीम अस्तित्व विशाल रूप में समझ में आता है। जबकि उसके आंशिक रूप में ही मानव का जीना बन जाता है। यह "ज्ञान समृद्धि" की बात है।

प्रश्नः इसको फिर से समझाइये।

उत्तरः इस धरती पर 700 करोड़ आदमी हैं। हम सभी 700 करोड़ के साथ जीते नहीं हैं। सीमित संख्या के लोगों के साथ हम जीते हैं। 700 करोड़ आदमी के साथ जीने का सूत्र हमको अध्ययन पूर्वक अनुभव में आया रहता है जबकि जीते हम सीमित संख्या के लोगों के साथ ही हैं। यह ज्ञान समृद्धि हुआ कि नहीं? ज्ञान समृद्धि होने पर ही सुरक्षित रूप में जीना बनता है।

ज्ञान समृद्धि होने के बाद "वस्तु समृद्धि" की ओर जाते हैं। "वस्तु समृद्धि" शरीर पोषण, शरीर संरक्षण और समाज गति के अर्थ में है। आहार, आवास, अलंकार, दूरगमन, दूरश्रवण और दूरदर्शन संबंधी वस्तुएं इसी के लिए प्रयोजनशील हैं।

"जो जितना जान पाता है उतना चाह नहीं पाता, जितना चाह पाता है उतना कर नहीं पाता, जितना कर पाता है उतना भोग नहीं पाता।" अनुभवपूर्वक मानव के "जानने" का क्षेत्र विशालतम है।

अनुभवपूर्वक चाहने, करने, भोगने का क्षेत्र उत्तरोत्तर कम होता है। यह ज्ञान समृद्धि है। भ्रमित अवस्था में इसके विपरीत स्थिति रहती है। मानव भोगने के क्षेत्र को अधिकतम माने रहता है। भोगने के लिए ही करना, उसी के लिए चाहना। यह "जानने" तक पहुँचता ही नहीं है। इसलिए स्वयं में "खोखलापन" बना ही रहता है।

ज्ञान समृद्ध होने के लिए मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन का प्रस्ताव है।

(अप्रैल 2008, अमरकंटक)

परिवार में व्यवस्था समाधान समृद्धि रूप में है.

समाधान ही सुख है।

यंत्र के पास समाधान नहीं है। यंत्र कर्म रूप में साधन है।

किताब में समाधान नहीं है। किताब सूचना है।

समाधान किसके पास होता है?

जागृत मानव के पास।

यह अपने में समझ में आने से अपने में उत्साह भी जागना चाहिए। हम समझ सकते हैं और समझा भी सकते हैं। हम जी सकते हैं, जीने दे सकते हैं। हम अपने समझे होने का प्रमाण समझा पाने में प्रस्तुत कर सकते हैं। हम अपने जीने का प्रमाण जीने दे सकने के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

परिवार में ही जीने दे कर जीने की शुरुआत है। परिवार में ही व्यवस्था की शुरुआत है। परिवार में ही पूर्णता भी है। हमारी निष्ठा की पहचान ज्ञान का पहचान, विवेक का पहचान, विज्ञान का पहचान

सर्वप्रथम परिवार में ही है। इससे बहुत बड़ा प्रभाव हुआ। संबंधों में जीना हमारी प्राथमिक आवश्यकता बन जाती है।

संबंधों में जीने के लिए "विश्वास" ही एकमात्र आधार है। संबंधों में निर्वाह निरंतरता को बनाए रखना ही "निष्ठा" है। संबंधों के निर्वाह में मूल्यों का प्रगटन है जैसे वात्सल्य, ममता, कृतज्ञता, गौरव, सम्मान, प्रेम, स्नेह, श्रद्धा और विश्वास। इस प्रकार 9 मूल्य सभी संबंधों में प्रगट होने लग गए।

संबंधों में मूल्यों का प्रगटन ज्ञान की सर्वप्रथम उपलब्धि है।

इस तरह हर जगह में मूल्यों को निष्ठापूर्वक निर्वाह करने के योग्य हो जाता हूँ। संबंधों को जब पहचानते हैं तो संबंधों के साथ धोखाधड़ी नहीं होता। संबंधों को हम ठीक पहचानते नहीं हैं तभी संबंधों में गड़बड़ी होती है। मानव जहाँ संबंध को सटीक नहीं पहचानता वहीं सारा कुकर्म है। कितना सारा पोल खुल गया! यहाँ से पोल खुल जाता है। हर जगह संबंधों की पहचान के साथ जीना है या धोखाधड़ी करते हुए ही जीना है? आप तय करो! न्यायपूर्वक जीने का रास्ता बनाना है या नहीं? एक लोहार जैसा चोट हमारे सिर पर आता है।

लेकिन "सहमत" होने भर से हम विद्वान हो गए ऐसा कुछ नहीं है। सहमति के साथ निष्ठा जोड़ने पर अध्ययन में लगने पर विद्वान होना, समझदार होना बन जाता है। अध्ययन के द्वार तक आप पहुँच चुके हैं अब उसके पार आपको पहुँचना है। अध्ययन के लिए जो प्रबंध हैं वे आपके पास सूचना के रूप में हैं। परिभाषा विधि से शब्द द्वारा वस्तु की कल्पना होती है (श्रवण)। अस्तित्व में वस्तु के स्वरूप में पहचान हुई तो हम समझदार हुए (साक्षात्कार, अवधारणा–बोध)।

जब अध्ययन कर लिया (अनुभव संपन्नता), तो अध्ययन करा सकने की स्थिति आती है। अध्ययन कराने का मतलब है हम ज्ञान को जब अपने में प्रमाणित करते रहते हैं, तो दूसरे में उसकी आवश्यकता बन जाती है। जैसे मैं विश्वास का निर्वाह करता हूँ, तो मेरी संतानों में विश्वास के निर्वाह करने की आवश्यकता बन जाती है। इस ढंग से सार्थक विधि को हम पकड़ लिए। असामान्य विधि से व्यवस्था को पहचानने की कोई विधि नहीं है। सामान्य विधि से ही व्यवस्था में जीने से परस्परता में विश्वास होना स्वाभाविक हो जाता है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

समाधान और समृद्धि

कल्पनाशीलता के आधार पर ही मानव ने कर्मस्वतंत्रता का प्रयोग किया। कर्मस्वतंत्रता को आजीविका का आधार बनाया। आजीविका के दो तरीके बने श्रमजीवी और बुद्धिजीवी। श्रमजीवी में हाथ पैर चला कर पैसा पैदा करने की बात रही। बुद्धिजीवी में बिना हाथ पैर चलाये (भाषा के आधार पर) पैसा पैदा करने की बात रही। "बुद्धिजीवी" के पास कोई "बोध" रहा नहीं! "श्रमजीवी" के पास भी "बोध" नहीं रहा। समाधान के अभाव में दोनों तरह से आजीविका अर्जित करने के तरीके समृद्धि तक नहीं पहुँचे।

समाधान सभी के लिए समान है। सह अस्तित्व में अनुभव संपन्नता ही समाधान है। समृद्धि का 'आकार' सभी के लिए समान नहीं है किन्तु समृद्धि का 'अर्थ' सभी के लिए एक ही है। जैसे एक आदमी दो रोटी खाकर तृप्त हो जाता है, दूसरे को चार रोटी से ही तृप्ति है। समृद्धि का मतलब है परिवार में निश्चित आवश्यकता से अधिक उत्पादन करके वस्तु से तृप्त हो जाना। समृद्धि का आकार

परिवार में ही तय होता है।

मानव ने अपनी कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता का तृप्ति बिन्दु सुविधा संग्रह में खोजा वह सफल नहीं हुआ। सुविधा संग्रह का तृप्ति बिन्दु किसी भी आदमी को नहीं मिला। दूसरे कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता का तृप्ति बिन्दु खोजा भक्ति विरक्ति में, वह भी सफल नहीं हुआ। भक्ति विरक्ति रहस्य में फंस गया, व्यवहारिक नहीं हुआ, परम्परा में प्रमाणित नहीं हुआ।

मानव के पास पाँच विभूतियाँ हैं जिनके आधार पर मानव ने जीने का प्रयास किया। वे हैं रूप, बल, धन, पद और बुद्धि। पहले आदमी "रूप" (रंग और नस्ल) के आधार पर जिया। उसके बाद "बल" के आधार पर जिया जैसे जंगल में जानवर जीते हैं। उसके बाद "धन" और "पद" के आधार पर जिया। इन चारों के आधार पर जीने से तृप्ति बिन्दु मानव को हाथ नहीं लगा। अब केवल "बुद्धि" बची। बुद्धि के आधार पर जीने के लिए बोध संपन्न होना आवश्यक है। यह शिक्षा संस्कार (अध्ययन) पूर्वक ही होता है। गुणात्मक परिवर्तन विधि से ही संस्कार की स्वीकृति होती है। बुद्धि के आधार पर जीने जाते हैं तो पहले न्याय ही प्रमाणित होता है। फ़िर धर्म प्रमाणित होता है। फ़िर सत्य प्रमाणित होता है। न्याय, धर्म, सत्य मानव परम्परा में ही प्रमाणित होता है।

मध्यस्थ दर्शन मानव के बुद्धि के आधार पर जीने के लिए अध्ययन का प्रस्ताव है।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

स्वावलंबन और समृद्धि

समझदारी से समाधान प्रमाणित करने के बाद अपने परिवार में श्रम से समृद्धि प्रमाणित करना भावी हो जाता है। मानवीय व्यवस्था

का स्वरूप निकलता है "परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था", जिसमें विश्व परिवार तक के दश सोपान हैं। **अपने परिवार में समृद्धि को प्रमाणित किए बिना कोई व्यक्ति विश्व परिवार में भागीदारी नहीं कर सकेगा। चोरी, खींचा तानी ही करेगा! समृद्धि के आधार पर ही व्यक्ति विश्व परिवार तक अपनी भागीदारी कर सकता है।** इस ढंग से मानवीय व्यवस्था का पूरा ढांचा खांचा दरिद्रता से मुक्त होगा।

समाधान समृद्धि प्रमाणित किए बिना एक भी आदमी व्यवस्था में नहीं जी सकता। समझदारी के साथ व्यवस्था की स्वीकृति हो जाती है। अस्तित्व में प्रत्येक एक स्वयं में व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता है यह स्पष्ट हो जाता है। मानव में इस व्यवस्था का स्वरूप है परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था।

शरीर पोषण, शरीर संरक्षण और समाज गति के लिए समृद्धि चाहिए। जितनी दूर तक समाज गति में भागीदारी करना है, उतने साधन चाहिए। समृद्धि के साथ ही समाधान का प्रमाण दूर दूर तक पहुँचता है। साधनों के साथ ही हम समझदारी को प्रमाणित करते हैं। साधनों को छोड़ कर हम समझदारी को प्रमाणित नहीं करते। शरीर भी जीवन के लिए एक साधन है। शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में ही मानव है। मानव ही समझदारी को प्रमाणित करता है। शरीर पोषण मानव की एक आवश्यकता है। शरीर संरक्षण मानव की एक आवश्यकता है। ये दोनों होने पर समाज गति की बात होती है। एक व्यक्ति ग्राम परिवार व्यवस्था में भागीदारी करने का अभिलाषी है। दूसरा व्यक्ति विश्व परिवार व्यवस्था में भागीदारी करने का अभिलाषी है। जितनी सीमा तक जो व्यवस्था में भागीदारी करने की अभिलाषा रखता है, उतना उसका साधन संपन्न होना उसकी आवश्यकता है। इस तरह हर व्यक्ति अपनी आवश्यकता का निश्चयन कर सकता

है।

आवश्यकताओं का निश्चयन आवश्यक है। "सभी की आवश्यकताएं समान होनी चाहिए" यह जबरदस्ती है। जैसे एक व्यक्ति का पेट 2 रोटी से भरता है, दूसरे का 4 रोटी से ही भरता है। इसको कैसे समान बनाया जाए? जितने में जो तृप्त हो, वही उसकी आवश्यकता है। आवश्यकताओं में "मात्रा" के अर्थ में समानता नहीं लाई जा सकती। मानव की आवश्यकताएं "प्रयोजन" के साथ सीमित होती हैं। कार्ल मार्क्स ने नारा दिया था "मानव अपनी आवश्यकता के अनुसार उपभोग करे, सामर्थ्य के अनुसार काम करे।" यह इसलिए असफल हुआ क्योंकि आवश्यकता का ध्रुवीकरण करने का कोई आधार नहीं दिया। समझदारी पूर्वक ही आवश्यकता का ध्रुवीकरण सम्भव है। आवश्यकता का ध्रुवीकरण "प्रयोजन" की समझ में ही होता है।

इसके अलावा यह भी सोचा गया था, धर्म के काम करने वालों की ज़रूरतों के लिए समाज वस्तु/धन उपलब्ध कराएगा। वह सोच भी असफल हो गयी। समाज ने ऐसे लोगों को संरक्षण दिया, लेकिन उनसे समाज कल्याण का कोई सूत्र निकला नहीं। ऐसे धर्म कर्म करने वालों से व्यक्तिवाद और समुदायवाद के अलावा और कुछ निकला नहीं।

भौतिकवादी और आदर्शवादी दोनों विचारधाराओं पर चलने से मानव श्रम से कट जाता है। जो जितना पढ़ा, वह उतना ही श्रम से कट गया। श्रम के बिना समृद्धि होती नहीं है।

कर्म दासत्व से मुक्ति स्वावलंबन से ही है। नौकरी करना भी एक कर्म दासत्व है। स्वावलंबन समाधान से आता है। उससे पहले स्वावलंबन आता नहीं है। अभी कुछ भी सेंधमारी, जानमारी, लूटमारी

करके "स्वावलंबन" की बात की जाती है। स्वावलंबन वास्तविकता में है सामान्याकांक्षा (आहार, आवास, अलंकार) या महत्त्वाकांक्षा (दूरगमन, दूरदर्शन, दूरश्रवण) संबंधी कोई भी वस्तु का अपने परिवार के पोषण, संरक्षण और समाज गति की आवश्यकताओं के लिए श्रमपूर्वक उत्पादन कर लेना। समाधान के बिना स्वावलंबन का प्रवृत्ति ही नहीं आता।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

उत्पादन और विनिमय

मानव चेतना से संपन्न होने पर व्यवस्था का जो स्वरूप निकलता है उसे "मानवीय व्यवस्था" कहा।

मानवीय व्यवस्था में :

(1) हर परिवार समाधान समृद्धि को प्रमाणित करने के क्रम में एक उत्पादक इकाई है।

(2) उत्पादक अपनी "आवश्यकता" के अनुसार उत्पादन करता है चाहे खेत में, चाहे कर्म शाला में। मानवीयता संपन्न होने पर आवश्यकताएं निश्चित हो जाती हैं। मानवीयता संपन्न परिवार की निश्चित आवश्यकताएं होती हैं शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति में भागीदारी करने के लिए।

(3) उत्पादक अपनी उत्पादित वस्तु का मूल्यांकन स्वयं करता है।

भ्रमित स्थिति में :

(1) उत्पादक व्यापारिक संस्थानों में एक कर्मचारी के रूप में रहता है।

(2) बाज़ार आवश्यकता (कितना उत्पादन करना है) का निर्धारण करता है। इससे उत्पादक की उत्पादन करने की स्वतंत्रता नहीं है।

(3) उत्पादक अपनी उत्पादित वस्तु का मूल्यांकन कर ही नहीं पाता। परिस्थिति के अनुसार व्यापारी या बाज़ार उत्पादित वस्तु की कीमत तय कर देता है । इससे होने वाली असंतुष्टियाँ कभी कभी घातक भी सिद्ध होती हैं।

अमानवीय स्थिति में इस तरह उत्पादक उत्पादन करने और मूल्यांकन करने दोनों में परतंत्र है।

मानवीय व्यवस्था में :

(1) मूल्यांकन और विनिमय सामान्याकांक्षा और महत्त्वाकांक्षा संबंधी वस्तुओं का होता है।

(2) श्रम मूल्य के आधार पर वस्तु मूल्य का निर्धारण होता है। वस्तु में उपयोगिता और कला मूल्य के आधार पर उसके श्रम मूल्य का निर्धारण होता है।

(3) श्रम मूल्य के आधार पर दो उत्पादक परिवारों में वस्तुओं का लाभ हानि मुक्त विनिमय होता है।

बिना प्रतीक मुद्रा के वस्तुओं के सीधे विनिमय की बात पहले रही थी लेकिन उसमें श्रम मूल्य के आधार पर वस्तु मूल्य को पहचानने की बात नहीं थी। इसलिए वह वस्तु विनिमय भी व्यापारिक सिद्ध हो गया। लाभ विधि से यह असफल हो गया।

श्रम मूल्य विधि से मूल्यांकन मानव चेतना पूर्वक ही होगा। जीव चेतना विधि से नहीं।

जीव चेतना में उत्पादन और विनिमय के नाम पर केवल शोषण के अनुबंध होते हैं।

अनुभवमूलक विधि से ही मानवीय व्यवस्था स्पष्ट होती है। शरीर मूलक विधि से लाभ मूलक व्यापार ही होता है।

सूत्र रूप में परिवार की आवश्यकता के अनुसार उत्पादन, श्रम मूल्य के आधार पर विनिमय। इस सूत्र की व्याख्या परिवार समूह के बीच में, फ़िर ग्राम के स्तर पर, फ़िर मंडल के स्तर पर, फ़िर राज्य के स्तर पर और अंततोगत्वा विश्व स्तर पर।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

मानव भाषा का स्वरूप

भाषा का प्रयोजन है एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अपनी बात पहुँचाना। भाषा के तीन स्वरूप हम देखते हैं (1) शरीर विन्यास से भाषा, (2) लिपि से भाषा, (3) बोलने वाली भाषा। शरीर के विन्यास वाली भाषा को आदमी बहुत समय तक ले कर चला है। मूक बधिरों के साथ आज भी इस भाषा का प्रयोग होता है। उसके बाद शब्द को भाषा स्वरूप दिया तो लिखने का एक आकार बना। अक्षरों के संयोजन से शब्द बना। शब्दों के संयोजन से वाक्य बना। वाक्यों के संयोजन से ग्रन्थ बने। परम्परा में हर प्रकार की भाषाओं के लिखने के अपने अपने आकार हैं। उच्चारण करने का एक तरीका है। हर भाषा को समझने की अपनी विधि है व्याकरण के रूप में। इन तीनों को मिलाकर अनेक भाषाओं का प्रयोग संसार में चल रहा है। उसमें से बहुत सारे भाषाएँ लिखित हैं, कुछ अलिखित भाषाएँ भी हैं। मैंने जहाँ शरीर यात्रा शुरू किया (हासन, कर्नाटक) वहाँ "संकेती भाषा" अलिखित रूप में है। जैसे आम लोग लिखित भाषा से काम करते हैं, वैसे वे अलिखित भाषा से काम कर लेते हैं।

प्रश्न : मानव भाषा का मूल आशय क्या है? क्या समझने के लिए भाषा है?

उत्तर : कारण, गुण, गणित को समझना। हर क्रिया के साथ कारण है, हर क्रिया के साथ गुण है, हर क्रिया का गणित के साथ कुछ दूर तक संबंध है। गणित से ज्यादा गहराई में गुण काम करता है। फ़िर सम्पूर्ण क्रिया के साथ कारण सम्बद्ध रहता है। इस आधार पर कारण, गुण, गणित के संयुक्त रूप में मानव भाषा है। इसे हर भाषा में समानान्तर रूप में पहचाना जा सकता है।

जब आप कोई भाषा को प्रस्तुत करते हैं तो किस आशय से किया, उसका अनुमान मुझमें होता है। वह अनुमान उस भाषा के अर्थ को छुआ रहता है। वह अर्थ अस्तित्व में किसी स्थिति, गति, फल, परिणाम को इंगित करता है। यह हमारी कल्पना में आता है। कल्पना के अनुसार जब आगे चलते हैं तो उस वस्तु या घटना तक पहुँचते हैं। घटना घटित जो हुआ वह वस्तु ही है। घटना जो होने वाला है वह अनुमान है। घटना जो आचरण में रहता है या वर्तमान रहता है उसको हम समझ पाते हैं। इस तरह हम कारण गुण गणित विधि से हर वर्तमान भूत भविष्य की घटनाओं को स्वीकार कर पाते हैं। उसके अनुसार श्रेष्ठता के लिए प्रयत्न करते हैं।

प्रश्नः मैं जब कुछ भाषा बोलता हूँ, तो उस प्रक्रिया में क्या क्या होता है?

उत्तरः कुछ आप बोलते हैं, उसके मूल में आपके जीवन में इच्छा है अपनी स्मृति को प्रगट करने के लिए। आप कुछ भी बोलते हैं, उसका स्मृति आपके पास रहता ही है। **तीन तरह की स्मृतियाँ रहती हैं घटी हुई घटना के रूप में, प्राप्ति के रूप में और अपेक्षा के रूप में।** जैसे आपने "मामा" बोला। तो उसके मूल में मामा का स्मृति आपके जीवन में रहता ही है। यह चित्त से वृत्ति, वृत्ति

से मन, मन से मेधस, मेधस से स्नायु तंत्र, स्नायु तंत्र से गल तंत्र तक आ गया। गल तंत्र में स्वर ग्रंथि में उससे हलचल हुई। आपके उच्चारण का स्पष्टीकरण स्वर ग्रंथि में हुआ। स्वर ग्रंथि से गल ग्रंथि तक, उससे जीभ, होंठ, गाल और तालू के योगफल में शब्द बनकर दूसरों तक पहुँचा। यह हर भाषा के साथ है। फ़िर सामने वाला इस बात को स्वीकारता है कि आप किस बात के लिए शब्द का प्रयोग किए।

शब्द दो प्रकार से समझ में आते हैं भाषा के रूप में और ध्वनि के रूप में। ध्वनि के एक तरीके को ही हम भाषा कहते हैं। ध्वनि में शब्द भर होता है। सुनने में अच्छा लगे ऐसी ध्वनि को संगीत से जोड़ा गया। भाषा में शब्द दो प्रकार के हैं अर्थात्मक और निरर्थक। अर्थ संगत शब्द दर्शन, विचार और शास्त्र के लिए उपयोगी हुए। एक दूसरे के साथ भाषा इस तरह ज्ञान को स्पष्ट करने के अर्थ में प्रयुक्त हुई।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

मानवीय भाषा

सभी मानव सहज कार्यकलापों, सोच विचार और अनुभव को परस्परता में इंगित कराने के लिए "मानवीय भाषा" है।

कारण, गुण, गणित के संयुक्त स्वरूप में "मानवीय भाषा" है।

गणना करने के लिए गणितात्मक भाषा है। सम, विषम और मध्यस्थ गुणों को इंगित करने के लिए गुणात्मक भाषा है। सह अस्तित्व मूल सत्य को इंगित करने के लिए कारणात्मक भाषा है। इसके अलावा और कुछ इंगित करने की कोई वास्तविकता नहीं है।

इससे पहले अध्यात्मवादियों ने कारणात्मक भाषा का प्रयोग किया गुणात्मक और गणितात्मक भाषा को नकार दिया। उसके बाद

भक्तिवादियों ने अतिशयोक्तियों के साथ गुणात्मक भाषा का प्रयोग किया, कारणात्मक और गणितात्मक भाषा को नकार दिया। भौतिकवादियों (प्रचलित विज्ञान) ने गणितात्मक भाषा का प्रयोग किया, कारणात्मक और गुणात्मक भाषा को नकार दिया। जबकि मानवीय भाषा कारण, गुण, गणित तीनों आधारों पर ही टिकती है।

मध्यस्थ दर्शन का अध्ययन कराने के लिए परम्परागत भाषा के शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। शब्दों को परिभाषाएं दी गयी हैं जो परम्परा से नहीं हैं। **परिभाषाएं ज्ञान के अर्थ में हैं जो सह अस्तित्व में अनुभवपूर्वक होता है। अध्ययन करने वाला अपनी कल्पनाशीलता को इन परिभाषाओं में नियोजित करके अस्तित्व सहज वास्तविकताओं को पहचानता है।** सभी भाषाओं को इन परिभाषाओं से सूत्रित किया जा सकता है। सभी भाषाएँ फ़िर एक ही अर्थ (अस्तित्व सहज वास्तविकता) को इंगित करेंगी। यही भाषाओं को लेकर बनी अपने पराये की दीवारों का निराकरण होने का सूत्र है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

जीना और भाषा

सार रूप में हम जीते हैं, सूक्ष्म सूक्ष्मतम विस्तार में हम सोचते हैं। हर व्यक्ति में यह अधिकार बना है। विश्लेषण रूप में जीना नहीं होता। विश्लेषण भाषा है। जीना सार है, चारों अवस्थाओं के साथ नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक जीना होता है। समाधान तो इस सार रूप में जीने में ही होता है। सूचना सूक्ष्मतम विस्तार में रहता है। अनुभव के आधार पर हम सूक्ष्मतम विस्तार में विश्लेषण करने योग्य हो जाते हैं। प्रयोजन के साथ यदि भाषा को जोड़ते हैं तो भाषा संयत हो जाती है। प्रयोजन को छोड़ कर हम भाषा प्रयोग करते हैं, तो हम बिखर जाते हैं।

जीना समग्र है। एक व्यक्ति का ''समग्रता के साथ जीना'' जागृत परंपरा की शुरूआत है। समग्रता के साथ जीने में उसके विपुलीकरण की सामग्री बना ही रहता है। पहले जीना है, फिर उसको भाषा के साथ फैलाना है। जीने के लिए जितनी भाषा चाहिए, उतनी भाषा पहले से ही उपलब्ध है। उसके बाद विस्तार के लिए आगे और भाषा है जैसे, दार्शनिक भाषा, विचार भाषा, शास्त्र भाषा, संविधान भाषा इन चार स्तरों पर भाषा का प्रयोग है। यह सब भाषा अध्ययन की सामग्री बनता है। जीना सार रूप में ही होता है। चारों अवस्थाओं के साथ संतुलित रूप में जीना होता है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

क्षमता, योग्यता, पात्रता

क्षमता का अर्थ है वहन क्रिया।

योग्यता का अर्थ है प्रकाशन क्रिया।

पात्रता का अर्थ है ग्रहण क्रिया।

जीवन में क्षमता, योग्यता और पात्रता होती है।

अध्ययन (शिक्षा) का लक्ष्य है सह अस्तित्व में अनुभव के लिए पात्रता को विकसित करना। अभी प्रचलित शिक्षा का लक्ष्य है पैसा पैदा करने की पात्रता को विकसित करना। आदर्शवादी शिक्षा का लक्ष्य है विरक्ति के लिए पात्रता को विकसित करना।

अध्ययन का फलन है अनुभव। जो (स्वयं और दूसरे का) सही मूल्यांकन कर पाने के लिए आवश्यक योग्यता है। अनुभव को निरंतर बनाए रखने की क्षमता जीवन में है। अनुभव के अतिरिक्त कुछ निरंतर बना रहता भी नहीं है।

अनुभवगामी विधि से जीते हुए अध्ययन करना या समझना प्रत्यावर्तन है। जैसा समझे हैं उसको जीना परावर्तन है।

अनुभवमूलक विधि से जीते हुए स्वयं और अन्य का मूल्यांकन करना "प्रत्यावर्तन" है। जीने में अनुभव को अभिव्यक्त, संप्रेषित और प्रकाशित करना परावर्तन है।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा, प्रकाशन

अनुभवमूलक विधि से जीवन की दसों क्रियाओं में अनुभव प्रभावित हो जाता है। दसों क्रियाओं में अनुभव प्रमाण ही प्रभावित होता है।

अनुभवमूलक विधि से :

आशा विधा से मूल्यों का पहचान और निर्वाह।

विचार विधा से संबंधों का पहचान और निर्वाह।

इच्छा विधा से समाधान का पहचान और निर्वाह।

बोध विधा से सत्य बोध का पहचान और निर्वाह।

अनुभव विधा से सह अस्तित्व रूप में जो परम सत्य का अनुभव किए रहते हैं, उसका पहचान और निर्वाह।

अनुभवमूलक विधि से मानव जो व्यक्त होता है, उसका स्वरूप है अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा और प्रकाशन।

सत्य और समाधान के साथ व्यक्त होना अभिव्यक्ति है। बुद्धि में जो सत्य बोध हुआ रहता है, उसको दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए जब समाधान के अर्थ में व्यक्त करते हैं उसे अभिव्यक्ति

कहते हैं। अभ्युदय (सर्वतोमुखी समाधान) के अर्थ में व्यक्त होना ही अभिव्यक्ति है। **सर्वतोमुखी समाधान के रूप में ही सह अस्तित्व आपको बोध होता है।** समस्या के रूप में सह अस्तित्व आपको बोध नहीं होता। यह मुख्य बात है। अनुभवमूलक विधि से जो सत्य बोध हुआ, उसका प्रयोजन है सर्वतोमुखी समाधान के रूप में प्रमाणित होना। अभिव्यक्ति का मतलब सत्य का सर्वतोमुखी समाधान के स्वरूप में व्यक्त होना।

समाधान और न्याय के साथ व्यक्त होना सम्प्रेषणा है। यह चित्त में होने वाले अनुभवमूलक चिंतन का फलन है। यह अनुभवमूलक इच्छा के रूप में व्यक्त होता है। सम्प्रेषणा संबंधों में समाधान को न्याय के अर्थ में जीने के रूप में होता है। सत्य और समाधान के जुड़ने के बाद न्याय होता ही है। सत्य और समाधान (धर्म) के जुड़े बिना न्याय का प्रश्न ही नहीं! सम्प्रेषणा का मतलब सत्य और समाधान का न्याय के स्वरूप में व्यक्त होना।

न्याय और समृद्धि के साथ व्यक्त होना प्रकाशन है। प्रकाशन में न्याय को समृद्धि के अर्थ में व्यक्त करते हैं। न्याय को प्रमाणित करना समृद्धि के साथ ही होता है। प्रकाशन का मतलब न्याय, समाधान (धर्म) और सत्य का समृद्धि के साथ व्यक्त होना।

इस तरह अनुभवमूलक विधि से एक ही व्यक्ति द्वारा न्याय, धर्म (समाधान) और सत्य व्यक्त होने लगता है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी, भागीदारी

मानव का ज्ञान संपन्न हो जाना ही **समझदारी** है। ज्ञान है सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान। ज्ञान संपन्न हो जाना अर्थात् सह अस्तित्व में अनुभव होना।

ज्ञान के अनुरूप विवेक और विज्ञान संपन्न हो जाना ही **ईमानदारी** है। मानव का अपने जीने के लक्ष्य (क्यों जीना है?) के प्रति पूर्णतः स्पष्ट हो जाना **विवेक** है। मानव का अपने जीने की दिशा (कैसे जीना है?) के प्रति पूर्णतः स्पष्ट हो जाना ही **विज्ञान** है।

मानव का अपने संबंधों की सटीक पहचान संपन्न हो जाना ही **जिम्मेदारी** है। संबंधों को मानव को बनाना नहीं है। संबंधों को पहचानना है, जिसका मतलब है संबंधों में निहित प्रयोजनों को पहचानना। संबंधों को पहचानना समझदारी और ईमानदारी संपन्न होने पर ही सफल होता है।

मानव का अपने संबंधों का निर्वाह करना ही **भागीदारी** है।

समझदारी और ईमानदारी संपन्न होने पर मानव का मानवीयतापूर्ण आचरण के साथ जीना बनता है। फ़िर अपनी जिम्मेदारी स्वीकार होती है। फ़िर अपनी भागीदारी के विस्तार को तय किया जा सकता है।

समझदार होने पर जितनी सीमा में हम प्रमाणित होते हैं, उससे ज्यादा की संभावनाएं हमको दिखाई देने लगती हैं। हमारे स्वयं के पूरा पड़े बिना आगे की संभावनाएं कैसे पता चलेगा? स्वयं त्व सहित व्यवस्था होने पर अपने समग्र व्यवस्था में भागीदारी की सम्भावना दिखने लगता है। मुझको भी ऐसा ही हुआ। "समग्र व्यवस्था की सम्भावना है" यह मैंने एक अकेले व्यक्ति ने शुरू किया था। आज मेरे साथ इसको लेकर जूझने वाले दस और लोग हो गए।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अभ्युदय और निःश्रेयस

सर्वतोमुखी समाधान ही अभ्युदय है।

सह अस्तित्ववाद में कहा "भ्रम मुक्ति ही मोक्ष है"। अपने

पराये (की मानसिकता) से मुक्ति ही मोक्ष है। अपराध (संघर्ष, युद्ध) मुक्ति ही मोक्ष है। मानव परम्परा भ्रम मुक्त होने से मोक्ष हुआ। मानव परम्परा अपने पराये की दीवारों से मुक्त होने से ही मोक्ष हुआ। लाभोन्माद, कामोन्माद, भोगोन्माद और परम्परा अपराध मुक्त होने से ही मोक्ष हुआ।

भ्रम मुक्ति ही निःश्रेयस है।

शरीर यात्रा में अभ्युदय और निःश्रेयस प्रमाणित होने की ज़रूरत है। इस प्रकार "मोक्ष" या "निःश्रेयस" शब्द की परिभाषा दे पाया। भाषा जो विगत से मिली है, उसके प्रति मेरी कृतज्ञता है। भाषा नहीं होती तो कौनसी परिभाषा दे लेते? भाषा को पहले गढ़ना पड़ता! विगत से जो भाषा मिली, उसकी सार्थकता इस विधि से बनी।

अब सह अस्तित्ववाद के साथ हम मनःस्वस्थता को अभ्युदय और निःश्रेयस के रूप में प्रमाणित कर सकते हैं।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

मानव चेतना में वैविध्यता का स्थान

जीव चेतना में जीते हुए मानव के जीने में वैविध्यता कहाँ वैध है, कहाँ अवैध है यह तय नहीं है।

मानव चेतना पूर्वक मानव के जीने का लक्ष्य (समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व) और आशय (सुख, शान्ति, संतोष, आनंद) तय हो पाता है। यह लक्ष्य और आशय हर व्यक्ति में तय होने के बाद भी अलग अलग व्यक्तियों के समझने समझाने, सीखने सिखाने, करने कराने का तरीका अलग अलग होगा। हर कोई व्यक्ति एक ही जैसा तरीके से बोलने, करने, समझने लगे तो मानव और

यंत्र में फर्क क्या हुआ? मानव यंत्र नहीं है। हम विविध प्रकार से समझते हैं, सीखते हैं, करते हैं अपने लक्ष्य (समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व) को पाने के लिए। हम विविध प्रकार से समझाते हैं, सिखाते हैं, कराते हैं अपनी समझ को प्रमाणित करने के लिए। यही मानव चेतना में जीते हुए मानवों में वैविध्यता का स्थान है। यह वैविध्यता मानव में निहित कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता की महिमा है।

समझने समझाने, सीखने सिखाने, करने कराने के तरीके का कोई मूल्यांकन नहीं है।

समझा दिया, सिखा दिया, करा दिया उसका मूल्यांकन है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

कितना नापोगे?

भौतिकवाद नापदण्डों को लेकर चला उसको "विज्ञान" मान लिया। एक मीटर के अरब अंश तक नाप लेने के बाद उससे भी सूक्ष्म, खरब अंश तक नापने की जगह बना ही रहता है। दूसरे इस सौर मंडल के हर ग्रह को नाप लेने के बाद अनंत और सौर मंडल, अनंत और ग्रह बचा ही रहता है। जितना नापते हैं, उससे आगे और नाप सकते हैं यह बना ही रहता है।

कितना नापोगे? कहाँ तक नापोगे?

हमारी अपेक्षा या आशा के अनुसार हम यह तय नहीं कर पायेंगे। आशा और अपेक्षा जीवन शक्तियाँ हैं, जो अक्षय हैं उनके आधार पर कितना नापना है, यह तय नहीं हो सकता। आशा जीवन में अक्षय शक्ति है। नापने का कार्य जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में है।

समझदारी के बिना मानव अपनी आवश्यकता को तय नहीं

कर सकता। अपनी आवश्यकता को तय करे बिना और और नापने की प्यास बनी ही रहेगी। भौतिकवादी विधि से आवश्यकता का ध्रुवीकरण नहीं हो सकता। आवश्यकताएं असीमित होने से सुविधा संग्रह के लिए होड़ अवश्यम्भावी हो जाती है। उस होड़ में मानव द्वारा धरती का शोषण और एक दूसरे का शोषण भावी हो जाता है।

समझदारी पूर्वक अपनी आवश्यकता का ध्रुवीकरण होने पर ही अपने नापने की सीमा को मानव तय कर सकता है। जितनी आवश्यकता है, उतना नाप ही सकते हैं। उससे ज्यादा को नापने फ़िर हम जाते नहीं हैं।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

प्रयोजन और कार्य

प्रश्न : सत्ता में सम्पृक्तता वश चुम्बकीय बल संपन्न परमाणु अंश एक दूसरे से आकर जुड़ क्यों नहीं जाते? ''क्यों'' वे निश्चित अच्छी दूरी के रूप में व्यवस्था बनाए रखते हैं?

उत्तर : व्यवस्था प्रयोजन के अर्थ में ही दो परमाणु अंश जुड़ते हैं। दो परमाणु अंश अच्छी निश्चित दूरी को बनाए रखते हुए कार्य करते हैं, क्योंकि अनेक प्रजाति के परमाणुओं को बनना है। अनेक प्रजाति के परमाणुओं के बिना रासायनिक क्रिया ही नहीं होगा। व्यवस्था प्रयोजन के अर्थ में ही परमाणु अंश निश्चित अच्छी दूरी बनाए रखते हैं।

प्रश्न : ''कैसे'' निश्चित अच्छी दूरी बनाए रखते हैं?

उत्तर : परमाणु अंश घूर्णन गति द्वारा अपना प्रभाव क्षेत्र बनाए रखते हैं। अपने प्रभाव क्षेत्र को बनाए रखते हुए दूसरे परमाणु अंश के साथ जुड़ कर काम करते हैं। घूर्णन गति के प्रभाव वश वे एक सीमा

से अधिक पास आ नहीं सकते। इस तरह परमाणु अंश का वर्चस्व बना रहता है। दो परमाणु अंशों के साथ होने पर उनका स्वतंत्रता समाप्त नहीं हो जाता।

अस्तित्व का प्रयोजन है चारों अवस्थाओं की निरंतरता प्रमाणित होना। अस्तित्व की हर स्थिति गति का यही प्रयोजन है।

प्रयोजन के लिए कार्य होता है।

किसी स्थिति का कार्य "कैसे" होता है, इसका उत्तर उससे आता है अस्तित्व का प्रयोजन (उस स्थिति के) किस कार्य से सिद्ध होगा?

जैसे परमाणु अंश यदि अच्छी निश्चित दूरी में रह कर कार्य नहीं करेंगे तो चारों अवस्थाओं की निरंतरता प्रमाणित होने का प्रयोजन सिद्ध ही नहीं होगा।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

सत्यापन

प्रश्न : यह जो आप हमारे बीच में जो खाली स्थली है, यह "सत्ता" है ऐसा मुझसे बोलना नहीं बन रहा है।

उत्तर : पहले बोलना ही बनता है, फिर समझा हुआ को समझाना बनता है, फिर जिया हुआ को जीने के रूप में प्रमाणित करना बनता है। यही क्रम है। मैं भी इसी क्रम से गुजरा हूँ। इससे ज्यादा क्या सत्यापन होगा? इससे कम सत्यापन में काम चलेगा नहीं। ऐसी बात है यह।

प्रकृति जड़ और चैतन्य स्वरूप में है। जड़ है भौतिक और रासायनिक क्रियाकलाप। चैतन्य है जीवन। रासायनिक क्रियाकलाप

हरियाली के रूप में तथा जीव शरीरों और मानव शरीरों के रूप में हमें प्राप्त है। इनको बनाने में मानव का कोई हाथ नहीं है। परमाणु में विकास होकर गठन पूर्णता के रूप में हर जीवन है। गठन पूर्णता के फलन में हर जीवन ''जीने की आशा'' से संपन्न है। मानव परंपरा में भी वैसा ही ''जीने की आशा'' से संपन्न जीवन है। उसके बाद है विचार, इच्छा, संकल्प, और उसके बाद है प्रमाण। अभी साढ़े चार क्रिया में मानव आशा, विचार, इच्छा की सीमा में है। यह सम्पूर्ण जड़ चैतन्य प्रकृति सत्ता (व्यापक वस्तु) में ही संपृक्त है। व्यापक वस्तु जड़ प्रकृति में ऊर्जा है, जिससे जड़ प्रकृति (भौतिक रासायनिक वस्तुओं में) में चुम्बकीय बल सम्पन्नता है। व्यापक वस्तु ही चैतन्य प्रकृति में ज्ञान है। व्यापक वस्तु ही मानव परंपरा में ज्ञान रूप में प्रकट है। ज्ञान ही मानव में ऊर्जा है। ज्ञान की ताकत पर ही मानव अपने वैभव को बनाए रख सकता है। इसको छोड़ कर मानव अपराध को विधि मान कर नाश के काम करेगा ही। संपृक्तता का मतलब यह है। यह बात समझ में आने से आगे की बात हो सकती है।

जड़ प्रकृति में ऊर्जा सम्पन्नता वश क्रियाशीलता है। चैतन्य प्रकृति (जीवन) का मानव परंपरा में आशा से विचार, विचार से इच्छा, इच्छा से संकल्प और संकल्प से प्रमाण तक पहुँचने की बात है। इस तरह साढ़े चार क्रिया से दस क्रिया तक पहुँचना हर मानव की जिम्मेदारी है। जब इच्छा हो तब पहुँच सकते हैं। उसी के लिए हमने मार्ग प्रशस्त कर दिया है। मैंने किसी चीज को निर्मित नहीं किया है। केवल ''जो है'' उसको स्पष्ट किया है। स्पष्ट होने पर हम अच्छी तरह से जी सकते हैं। **स्पष्ट होने की परिपूर्णता ही ''अनुभव'' है।** अनुभवपूर्वक हम अच्छी तरह से जी सकते हैं। अच्छी तरह जीने का स्वरूप है समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व।

जिसको मैंने पता लगाया है, इसको समझने के लिए क्या हमको किसी 'आइंस्टीन' (वैज्ञानक) को पढ़ना है? प्रचलित विज्ञान

के साथ हम जिस जगह पहुँच गए हैं, कितनी विलक्षण बात है। ऊर्जा को हम समझे नहीं हैं, और ''ऊर्जा'' का नाम लेते हैं! ये विज्ञानी ऊर्जा को एक ''प्रतिक्रिया'' के रूप में ही पहचाने हैं। जैसे एक लकड़ी का जलना। इसमें जलने को ऊर्जा माना। जबकि वास्तविकता है एक जलाने वाली वस्तु थी, एक जलने वाली वस्तु थी, इसलिए जलने की घटना हुई। जलने को ऊर्जा माना। जलने से पहले जो लकड़ी और वायु थी उसको ये जड़ (ऊर्जा विहीन) मानते हैं। विज्ञानी वैभव को ऊर्जा विहीन मानते हैं, नाश करने को ऊर्जा मानते हैं। इस तरह विज्ञान द्वारा ऊर्जा को प्रतिक्रिया मानना केवल ह्रास की ओर ले गया। आप इसको हर जगह में, जिसको मानते हैं, जाँच करके देखिये।

जिस स्वरूप में मैंने ऊर्जा को पहचाना, वह प्रभाव रूप में विकास क्रम, विकास, जागृति क्रम, जागृति को प्रगट कर चुका है। उस ऊर्जा को आइंस्टीन नहीं पहचाना। आप बताइये क्या में ऐसा कहने योग्य हूँ या नहीं हूँ? ऊर्जा को इस तरह पहचाने बिना मानव अपनी पहचान कर नहीं सकता। यदि मानव अपनी पहचान कर नहीं सकता, तो जियेगा कैसे? ऐसे बिना पहचान के लकड़बग्घा जैसे ही जियेगा, और उससे जो होना है वह हो जाएगा। मैंने अस्तित्व की स्थिरता और निश्चियता को जो स्पष्ट किया है, वह विज्ञानियों के सामने प्रकट नहीं है, ऐसी बात नहीं है। लेकिन जब उसी को वे देखे तो कैसे उसको अस्थिर अनिश्चित मान लिए? उस सोच ने मानव जाति को कहाँ पहुँचाया सोच लो! यदि विज्ञान की सोच ही चाहिए, तो आप विज्ञान को ही अपनाओ। यदि नहीं तो विकल्प का अध्ययन करो।

प्रश्न : तो आप यथास्थिति को बताते हैं, आवश्यकता को बताते हैं, फिर हमारी इच्छा पर छोड़ देते हैं?

17_samvaad_part2_2013_c

उत्तर : विकल्प को अपनाना स्वेच्छा से ही होगा। हम किसी को आग्रह करने वाले नहीं हैं। इच्छा हो तो अपनाओ, नहीं तो जो आप कर रहे हैं वही ठीक है। उपदेश विधि को मैंने अपनाया नहीं है। जबकि अनुसंधान से पहले मैं उपदेश परंपरा (वेद परंपरा) से ही था।

संपृक्तता को समझना इस बात का आधार है। यदि संपृक्तता समझ आती है, तो आगे सभी कुछ समझ में आ जाता है।

(मई 2007, अमरकंटक)

अध्याय–3

जीवन क्रियाकलाप–प्रक्रिया संबंधी स्पष्टीकरण

3.1 श्रवण–मनन–साक्षात्कार–बोध (अवधारणा)– अनुभव–प्रमाण (तदाकार तद्रूप प्रक्रिया)

अध्ययन की शुरुआत

हर परस्परता के बीच जो हमारी आँखों से खाली स्थली जैसा दिखता है, यह सत्ता ही है। यह खाली नहीं है यह ऊर्जा है। यह ऊर्जा सभी वस्तुओं में पारगामी है। पत्थर में, मिट्टी में, पानी में सभी वस्तुओं में यह पारगामी है। एक परमाणु अंश से लेकर इस विशाल धरती तक सभी वस्तुओं में यह पारगामी है।

वस्तुओं की ऊर्जा सम्पन्नता ही सत्ता की पारगामीयता की गवाही है।

मानव में यह ऊर्जा सम्पन्नता ज्ञान के रूप में होता है। यह ज्ञान है चार विषयों (आहार, निद्रा, भय, मैथुन) का ज्ञान, पाँच संवेदनाओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) का ज्ञान, तीन ऐषणाओं (पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा) का ज्ञान और उपकार का ज्ञान। इन तेरह शीर्षों में मानव के पास ज्ञान "करने" के रूप में आता है। इन तेरह शीर्षों के अलावा मानव और कुछ कर भी नहीं सकता। जिसका ज्ञान होता है, वही हम कर पाते हैं। चार विषयों का हमें ज्ञान है, इसलिए हम उन विषयों का उपयोग कर पाते हैं। पाँच संवेदनाओं का हमें ज्ञान है, तभी उन संवेदनाओं को हम पहचान पाते हैं। समझना ही ज्ञान है। ज्ञान ही मानव के करने में आता है।

चार विषयों की बात जीव संसार में "करने" के रूप में है। जीव जानवर चार विषयों को भोगते रहते है, उसी के अर्थ में उनकी पाँच संवेदनाएं काम करती रहती हैं। जैसे आहार विषय के लिए शेर गंध इन्द्रिय का प्रयोग करता है। मानव संवेदनाओं के आधार पर विषयों को पहचानता है। जैसे मानव जीभ से अच्छा लगने के लिए आहार ढूंढता है। मानव और जीव जानवरों में यह फर्क हुआ। मानव

ने संवेदनाओं के आधार पर ही सर्वप्रथम ज्ञान को स्वीकारना शुरू किया।

मानव ने इन्द्रियों को राजी रखने के लिए ज्ञान को स्वीकारना शुरू किया। क्यों शुरू किया? सुखी होने के लिए। मानव का अध्ययन इसी बिन्दु से शुरू होता है।

इस विधि से जब हम अध्ययन करने जाते हैं, तो यह **विगत के किसी भी प्रस्ताव से जुड़ता नहीं है। विगत में हम जो कुछ भी किए अच्छा, बुरा, खरा, खोटा उसकी बात ही ख़त्म। अध्ययन का आधार यह हुआ, न कि विगत का कोई अवशेष!**

विगत से आपके पास मानव शरीर है और भाषा (शब्द संसार) है। **और विगत का कोई आधार इस प्रस्ताव के अध्ययन के लिए आपको नहीं चाहिए। शब्द/भाषा विगत से है परिभाषाएं इस प्रस्ताव की हैं। परिभाषाएं ज्ञान के अर्थ में हैं।**

यहाँ से आप अध्ययन शुरू करिए।

मानव का अध्ययन में हम चलें तो पहली बात आती है यह शब्द, स्पर्श, गंध, रूप, रस इन्द्रियों का ज्ञान किसको होता है? शरीर को यह ज्ञान होता है या शरीर के अलावा किसी और चीज़ को होता है?

विगत में (भारतीय अध्यात्मवाद) "ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय" ब्रह्म को ही बताया था। साथ ही ब्रह्म को अव्यक्त और अनिर्वचनीय बताकर रास्ता बंद कर दिया।

उसके विकल्प में यहाँ प्रस्तावित है ज्ञान व्यक्त है और ज्ञान वचनीय भी है। ज्ञान को हम समझ सकते हैं और समझा भी सकते हैं। ज्ञान का मतलब ही यही है जिसे हम समझ भी सकें और समझा भी पाएं। ज्ञान शरीर को नहीं होता। ज्ञान जीवन को होता है। जीवन

ही ज्ञाता है। इन्द्रियों से भी जो ज्ञान होता है वह जीवन को ही होता है। जीवन ही समझता है। जीवन ही जीवन को समझाता है।

प्रश्नः विगत ने हमको क्या दिया फ़िर?

उत्तरः विगत में आदर्शवाद ने हमको शब्द ज्ञान दिया जिसके लिए उनका धन्यवाद है। फ़िर भौतिकवाद ने हमको कार्य ज्ञान दिया उसके लिए उनका धन्यवाद है। इन दोनों से मानव को जो ज्ञान हुआ वह पर्याप्त नहीं हुआ। कुछ और समझने की ज़रूरत बनी रही। इसकी गवाही है धरती का बीमार होना। धरती क्यों और कैसे बीमार हो गयी और यह ठीक कैसे होगी इसके लिए जो ज्ञान चाहिए वह आदर्शवाद और भौतिकवाद दोनों के पास नहीं है। यही मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन का मूल बिन्दु है। तर्क संगत होने के लिए, व्यवहार संगत होने के लिए, अपने आप का मूल्यांकन करने के लिए और स्वयं का अध्ययन करने के लिए यही मूल बिन्दु है। अध्ययन के लिए इस मूल बिन्दु को अपने में अच्छे से स्थिर बनाना चाहिए, वरना हम बारम्बार वही पुराने में गुड़ गोबर करने लगते हैं।

इस तरह इस विकल्प को सोचने के लिए, अध्ययन करने के लिए हमारे पास एक आधार भूमि तैयार हुई।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

मानव का अध्ययन

अध्ययन को शुरू करने के दो छोर हैं। मानव से हम अध्ययन को शुरू कर सकते हैं। दूसरे सह अस्तित्व से शुरू कर सकते हैं। मानव से शुरू करते हैं तो मानव में शरीर और शरीर में अंग अवयव का होना पाया जाता है। जीवंत शरीर में पाँच ज्ञान इन्द्रियों के आधार पर मानव अनुकूलता और प्रतिकूलता को व्यक्त करता है। जब यह व्यक्त करना बंद हो जाता है, तो मृतक शरीर घोषित कर देते हैं।

जीवंत शरीर द्वारा जो कार्य होता है, उसमें जीवन की आशा का आंशिक रूप ही व्यक्त होता है। शरीर शक्तियाँ जीवन शक्तियों की अपेक्षा में नगण्य हैं। उसकी गवाही है जीवन के शरीर से पृथक हो जाने के बाद हम शरीर को तुरंत ठिकाने लगा ही देते हैं!

"जीवन के बिना मानव शरीर निरर्थक है" यह मानव में आज भी स्वीकृत है। लेकिन जीवन क्या है? यह मानव को अज्ञात है। क्या चीज है जो शरीर से पृथक होता है तो हम मानव को मृतक मान लेते हैं? यह मानव को अज्ञात है।

जीवंत कैसे होना शुरू होता है और मृत्यु कैसे होता है यह समझना मानव का अध्ययन हुआ। जन्म और मृत्यु के बीच में जो कुछ भी होता है वह मानव परम्परा का काम हुआ।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

स्वीकारना, समझना और जीना

हर वस्तु को सह अस्तित्व में "जीने" के अर्थ में समझना होगा। जीने के अर्थ में सुनने पर अनुभव होता ही है। तर्क की आवश्यकता अब कम हो गयी, जीने के अर्थ में ही हर बात को अब समझेंगे। स्वीकारना, समझना और जीना अलग अलग नहीं हैं।

समझने को लेकर क्या हम समझ गए हैं और क्या समझना अभी शेष है, इस पर चला जाए। समझने के मुद्दे पाँच ही हैं (1) "सह अस्तित्व क्यों है, कैसा है" को समझना। (2) "सह अस्तित्व में विकास क्रम क्यों है, कैसा है" को समझना। (3) "सह अस्तित्व में विकास क्यों है, कैसा है" को समझना। (4) "सह अस्तित्व में जागृति क्रम क्यों है, कैसा है" को समझना। (5) "सह अस्तित्व में जागृति क्यों है, कैसा है" को समझना।

रचना क्रम में विकास की सर्वोपरि स्थिति में है मानव शरीर।

परमाणु में विकास की सर्वोपरि स्थिति है जीवन। मानव शरीर के प्रगट होने के लिए पीछे की सभी रचनाएँ हैं।

अस्तित्व में प्रगटन क्रम में चार अवस्थाओं का प्रगटन हुआ। हर अवस्था की परम्परा बनने की विधि रही। इसी क्रम में मानव का प्रगटन धरती पर हुआ। "मानव शरीर एक परम्परा के स्वरूप में बने रहने के लिए धरती पर प्रगट हुआ है।" यदि यह बात आप को मूल रूप में समझ आता है तो आप में **"जीने की इच्छा"** बन जाती है। **"मुझे जीना है!" यह आप में निश्चयन हो जाता है।** फ़िर मानव परम्परा के "जीने" के लिए जो "समझ" की आवश्यकता है उसको "स्वीकार" करने के लिए आप प्रयास रत होते हो।

स्वीकारना, समझना और जीना अलग अलग नहीं हैं।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

अध्ययन के चार चरण

मैंने सह अस्तित्व में अध्ययन किया। पहले "दृश्य" को देखा। **दृश्य में वस्तु होता ही है। व्यापक भी ज्ञान दृष्टि सहज एक दृश्य ही है।** व्यापक में संपृक्त सभी एक एक भी एक दृश्य ही है। मैं जीवन "दर्शक" हूँ मैं इन दोनों को देख रहा हूँ, इसको मैंने पहचाना पहली बात यह समझ में आयी। इस बात को समझना हर विद्यार्थी की जरूरत है।

जब जीवन को देखा, जीवन क्रियाकलाप को देखा, जीवन के लक्ष्य को देखा, जीवन के स्वरूप को देखा, जीवन शक्ति बल को देखा "जीवन ज्ञान" यही है यह पता चला और इस ज्ञान का ज्ञाता जीवन ही है, मैं ही हूँ यह पता चला। जीवन ही अस्तित्व में "दृष्टा" है और जीवन ही "ज्ञाता" है।

सम्पूर्ण सह अस्तित्व "ज्ञेय" है। उसी के साथ "मानवीयतापूर्ण आचरण" मानव के त्व सहित व्यवस्था में होने और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करने के स्वरूप में समझ आया। मानव के व्यवस्था में "होने" और "रहने" के लिए ज्ञान भी चाहिए, दर्शन भी चाहिए, आचरण भी चाहिए। इस ढंग से मैंने पढ़ा। आगे पीढ़ी को भी यही पढ़ाई चाहिए।

अध्ययन के पहले चरण में विद्यार्थी को यह बताने की ज़रूरत है, तुम समझने योग्य हो! "तुम समझ सकते हो!" यह भरोसा दिलाना अध्यापक का पहला कार्य है। अध्ययन कार्य का पहला चरण यही है।

उसके बाद कोई न कोई भाषा विधि होगी ही। चाहे हिन्दी में पढ़ाओ या अंग्रेजी में पढ़ाओ। भाषा अध्ययन कार्य के लिए एक भाग है। अभी तक की यह अवधारणा (मान्यता) रही "व्याकरण भाषा का नियंत्रण करता है"। संस्कृत भाषा में भी ऐसा ही माना गया है। मेरे अनुसार इसमें परिवर्तन होना चाहिए। इसके लिए मैंने प्रस्तावित किया **"वस्तु बोध पूर्वक ही भाषा का नियंत्रण है।"** वस्तु बोध यदि नहीं होता है, तो आप कितना भी व्याकरण लगाते रहो, क्या हो सकता है? शब्द का अर्थ वस्तु है। **वस्तु बोध जब हो जाता है, तब हमारा अध्ययन हुआ। यदि वस्तु बोध नहीं हुआ है, तो शब्द तक ही हम रह जायेंगे।**

"मैं समझ सकता हूँ और जी कर प्रमाणित हो सकता हूँ" जब तक यह स्वयं में भरोसा नहीं बनता है, तब तक हम शब्द तक भी नहीं पहुँच पायेंगे। आदमी ही एकमात्र वस्तु है जो समझ सकता है, प्रमाणित हो सकता है। इस बात को हम जब तक उभारेंगे नहीं, तब तक शब्द भी आदमी ढंग से सुनेगा, ऐसा भरोसा नहीं किया जा सकता।

इस तरह अध्ययन के चार चरण हैं :–

(1) परस्परता में विश्वास

(2) शब्द के अर्थ का श्रवण

(3) मनन प्रक्रिया, जिसमें न्याय, धर्म, सत्य रूपी वस्तु का 'तुलन' होता है।

(4) शब्द से इंगित वस्तु का (साक्षात्कार पूर्वक) बोध

इन चार चरणों में अध्ययन सार्थक होता है। इनमें से किसी भी चरण को छोड़ा नहीं जा सकता।

वस्तु बोध होने के बाद ही अनुभव सहज प्रमाणित होने के लिए प्रवृत्ति, उसके लिए संकल्प, संकल्प के बाद व्यवहार में प्रमाणीकरण होता है।

इस तरह मैंने अध्ययन के चार चरणों को देखा है।

(आंवारी आश्रम, 1998) (जनवरी 2007, अमरकंटक)

जीवन और सह अस्तित्व के जुड़ने की विधि अनुभव ही है.

सुनना (श्रवण) भाषा है। समझना अर्थ है। अर्थ अस्तित्व में वस्तु है। वस्तु समझ में आता है, तो हम अर्थ समझे। अर्थ जो समझे वही अनुभव है। अर्थ ही अनुभव है। शब्द अनुभव नहीं है। हमारे बुजुर्गों ने शब्द को ही अनुभव मान लिया। मानव इतिहास में कई जगह हम छूट–छूट कर निकल गए हैं। उन सबके जुड़ने की विधि अनुभव ही है।

जीवन और सह अस्तित्व के जुड़ने की विधि अनुभव ही है। दूसरा कुछ भी नहीं है। वह विधि है, अस्तित्व में वस्तु के रूप में अनुभव करना और प्रमाणित करना। इतना ही है। इससे मानवीयतापूर्ण

आचरण आता है। मानवीयतापूर्ण आचरण आने से व्यवस्था में जीने का सूत्र बनता है। हम अभी जितना जीते हैं, उससे आगे का सूत्र अपने आप जीवन में प्रकट होता है। जैसे अभी कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता पूर्वक मनाकार को साकार करने का सूत्र अपने आप से जीवन से निकलता गया, तभी मानव अपने इतिहास में जंगल युग से आज के युग में पहुँच गया। वैसे ही अनुभवपूर्वक मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने का सूत्र अपने आप से जीवन से निकलता ही चला जाता है।

सर्वतोमुखी समाधान को मनःस्वस्थता के रूप में मैंने अनुभव किया है, समझा है, जिया है।

मनःस्वस्थता आप में होने के लिए चार ही बात है :

(1) शब्द के अर्थ को सुनना (श्रवण)

(2) अर्थ समझने के लिए मन को लगाना (मनन)

(3) अर्थ रूपी वस्तु को समझना (साक्षात्कार, बोध 'यही अध्ययन')

(4) समझ को प्रमाणित करना ही समाधान है।

इतना सरल है यह। अभी मैं जो कर रहा हूँ, इतना ही कर रहा हूँ।

प्रश्न : साक्षात्कार, बोध और अनुभव मुझे हुआ है या नहीं इसका मुझे कैसे पता चलेगा?

उत्तर : यह आपको ही पता चलेगा। दूसरों को तो केवल आपके जीने में प्रमाणों से पता चलेगा। जीवन में स्वयं से कुछ भी "छुपा" नहीं है। **जब तक हम शरीर को जीवन माने रहते हैं, जीवन छुपा ही रहता है। जीवन को "मान" कर देखना शुरू करते हैं तो शनैः शनैः जीवन को प्रमाणित करने की जगह में**

पहुँच जाते हैं।

हर मानव में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभव होती ही है उस आशा की "तुष्टि" हमको चाहिए। यह तुष्टि कैसे होगी, इसका उत्तर है समाधान पूर्वक ही होगी। मन में समाधान हो जाए। हर विचार में समाधान प्रगट हो जाए। हर इच्छा में समाधान समा जाए। **इस तरह जब हम अपने सोच विचार को पूरा इसमें लगा देते हैं तो अनुभव होने की सम्भावना बन जाती है।**

अनुभव होने पर, अनुभव का प्रमाण हर स्थिति में बना रहता है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अध्ययन और गुरु की आवश्यकता

प्रश्नः अध्ययन क्या है? इसे एक बार फ़िर से समझा दीजिये।

उत्तरः अधिष्ठान की साक्षी एवम् अनुभव की रौशनी में स्मरण पूर्वक किया गया क्रियाकलाप अध्ययन है। अनुभव की रौशनी अध्ययन कराने वाले (गुरु) के पास रहता है। उस अनुभव की रौशनी में वास्तविकताओं से "तदाकार" होने की प्रवृत्ति वाला विद्यार्थी है। वस्तु के स्वरूप में तदाकार होने की प्रेरणा गुरु देता है। स्वयं के अधिष्ठान (आत्मा) के साक्षी में विद्यार्थी तदाकार पूर्वक अध्ययन करता है। तदाकार होने की प्रवृत्ति सभी मानव शरीर चलाने वाले जीवनों में समान है। शब्द के अर्थ के स्वरूप में जो वस्तु है, उससे तदाकार होने की प्रवृत्ति कल्पनाशीलता के स्वरूप में सभी जीवनों में रखा है। उसी आधार पर अध्ययन होता है। वस्तु के स्वरूप में जब अध्ययन करने वाला जीवन तदाकार हो गया तो उसमें अनुभव होना स्वाभाविक हो जाता है। **तदाकार होना ही अध्ययन है (अध्ययन = साक्षात्कार, अवधारणा—बोध)**। उसको मानव परम्परा में प्रमाणित

करना ही जागृति है।

प्रश्नः गुरु के सान्निध्य की आवश्यकता कब तक है?

उत्तरः जब तक समझ में न आ जाए, तब तक! जब तक अनुभव न हो जाए, तब तक! अनुभव होने के बाद सदा सदा के लिए हम समान ही हैं, साथ ही हैं, एक ही अर्थ में हैं।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

मानव जाति में मनःस्वस्थता की रिक्तता को भरने के लिए यह विकल्प प्रस्तुत हुआ है.

समझने के बारे में मुख्य मुद्दा यह है "पढ़ना समझना नहीं है।" पढ़ने पर "सूचना" प्राप्त होता है। अर्थ की सूचना जब आता है तो उस अर्थ के मूल में अस्तित्व में वस्तु होता है। अस्तित्व में वस्तु पहचान में आया तो समझ में आया। जैसे "पानी" एक शब्द है। पानी अस्तित्व में एक वस्तु है। "पानी" शब्द से प्यास बुझता नहीं है। पानी "वस्तु" से ही प्यास बुझता है। इसी प्रकार हर शब्द का अर्थ है। उस अर्थ के मूल में अस्तित्व में वस्तु है। वस्तु समझ में आने से हम समझे।

अभी तक मानव के इतिहास में मानव कैसा है? क्यों है? इसका अध्ययन नहीं हुआ था। दूसरे समग्र अस्तित्व कैसा है? क्यों है? इसका अध्ययन नहीं हुआ था। समग्र अस्तित्व और मानव का अध्ययन न होने से समग्र अस्तित्व में मानव की क्या भागीदारी हो, यह समझ में नहीं आया था। यह न भौतिकवादी विधि से समझ में आया था, न ईश्वरवादी विधि से समझ आया था। मध्यस्थ दर्शन इन दोनों के विकल्प स्वरूप में आया इससे मानव का अध्ययन और अस्तित्व का अध्ययन दोनों सम्भव हो गया।

मानव और अस्तित्व क्यों है और कैसा है? इसका पूरा ज्ञान मैंने प्राप्त कर लिया। **क्यों है? इससे "रहने" का** उत्तर **आता है। कैसे है? इससे "होने" का** उत्तर **आता है।** मानव कैसे है? इसका उत्तर है, अस्तित्व में प्रगटन विधि पूर्वक मानव धरती पर प्रगट "होना" हुआ। मानव क्यों है? इसका उत्तर है, मानव के "रहने" का प्रयोजन है समाधान, समृद्धि, अभय और सह अस्तित्व पूर्वक "रहना"। "होना" और "रहना" समझ में आने के लिए ही अध्ययन है। अध्ययन से समझ और समझ से जीना।

इस पर प्रश्न बनता है, अभी तक मानव जीता नहीं रहा क्या? इसका उत्तर है अभी तक मानव जीव चेतना में जिया है। मानव चेतना में जिया नहीं है। जीव चेतना में होते हुए भी मानव जीवों से अच्छा जीने का सोचा, क्योंकि मानव को कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता विरासत में मिला ही था। कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता के चलते मानव ने सामान्याकांक्षा और महत्त्वाकांक्षा संबंधी सभी वस्तुओं को प्राप्त कर लिया। इस तरह मानव अपने परिभाषा के अनुरूप मनाकार को साकार करने के चौखट में आ गया। मनःस्वस्थता का चौखट टटोला तो पता चला वीरान पड़ा है! मनःस्वस्थता के पक्ष में मानव जाति दिवालिया है। मनाकार को साकार करने के पक्ष में हम समृद्ध हैं। यह कुल मिलाकर अभी तक के मानव के जिए होने की समीक्षा हुई। मानव जाति द्वारा बिना मनःस्वस्थता को प्रमाणित किए मनाकार को साकार करने के क्रम में ही धरती बीमार हुई। धरती के बीमार होने से जो प्रश्न चिन्ह मानव जाति के सम्मुख लग गया है उसी के उत्तर में मध्यस्थ दर्शन का विकल्प है। यह विकल्प मानव जाति के मनःस्वस्थता की रिक्तता को भरने के लिए ही प्रगट हुआ है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

अनुभवमूलक विधि से मानव जीने में प्रमाणित होता है.

सम्पूर्ण अस्तित्व सह अस्तित्व स्वरूप है। सह अस्तित्व में प्रकृति चार अवस्थाओं के रूप में प्रगट है। सह अस्तित्व में जो वस्तुएं हैं, उनका "नामकरण" मानव ही करता है। नाम को हम परस्पर सुनते हैं। **नाम सुनकर अस्तित्व में वस्तु को पहचानते हैं।** यह प्रक्रिया हर व्यक्ति में कल्पनाशीलता के रूप में निहित है। मानव ने संवेदनशीलता के लिए इस प्रक्रिया का प्रयोग किया और सफल हुआ। अब संज्ञानीयता के लिए इसका प्रयोग करना है और सफल होना है। इतना ही बात है। संवेदनशीलता से हम सफल होंगे या संज्ञानीयता से सफल होंगे पहले इसको निर्णय कर लो! जितना आपको तर्क करना है, वह कर लो! संवेदनशीलता से सफल नहीं हो सकते हैं यदि यह निष्कर्ष आप में निकलता है, तो संज्ञानीयता आपकी आवश्यकता बनती है!

संवेदनशीलता की सीमा में आदर्शवाद व भौतिकवाद के अनुसार अपराध मुक्त होना बनता नहीं है। संवेदनशीलता की सीमा में अपने पराये की दीवारों से मुक्त होना बनता नहीं है।

संवेदनशीलता पूर्वक जीवन में (मन में) आस्वादन होता है, (वृत्ति में) विचार होता है और (चित्त में) इच्छाएं होती हैं। इस प्रकार मन में जो आस्वादन होता है, उसमें संवेदनाओं से सुख "भासने" की बात होती है लेकिन उसमें सुख की निरंतरता नहीं बन पाती। बारम्बार आस्वादन करने के लिए संवेदनाओं में मन टिका रहता है। इस प्रकार वृत्ति में जो विचार होते हैं वे प्रिय–अप्रिय, हित–अहित, लाभ–अलाभ दृष्टियों से ही होते हैं। इस प्रकार चित्त में जो चित्रण होता है, वह सुविधा संग्रह के अर्थ में ही होता है।

संवेदनशीलता से यदि हम छूटते हैं तो "अध्ययन" पूर्वक सीधे अनुभव में ही पहुँचते हैं। बीच में कहीं रुकते नहीं हैं। मध्यस्थ दर्शन के प्रस्ताव से पहले तपस्या पूर्वक अनुभव में पहुँचने की बात कही

गयी थी। यहाँ मैं कह रहा हूँ, अध्ययन पूर्वक हम अनुभव तक पहुँच सकते हैं। अध्ययन पूर्वक संज्ञानीयता बोध होता है। संज्ञानीयता बोध होने के बाद अनुभव होता ही है। संज्ञानीयता है अस्तित्व में न्याय, धर्म, सत्य रूपी वस्तु का बोध। शब्द को हम व्यक्ति से सुनते हैं। शब्द के अर्थ स्वरूप में अस्तित्व में वस्तु है। अर्थ का बोध होता है। शब्द का स्मरण रहता है। चित्रण में स्मरण है, यही "श्रवण" है। शब्द का स्मरण अर्थ का बोध होते तक आवश्यक है।

संवेदनशीलता पूर्वक हम विचार करते हैं या अनुभवपूर्वक (संज्ञानीयता पूर्वक) विचार करते हैं ये दो ही स्थितियाँ होती हैं तीसरी कोई स्थिति नहीं है। अनुभवमूलक विधि से मानव जीने में प्रमाणित होता है। संवेदनशीलता पूर्वक मानव जीने में प्रमाणित होता नहीं है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

सत्य को समझना

हर मानव के पास कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता "अधिकार" रूप में है। इस कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता के रहते मानव "परम सत्य" को भी चाहता है। सच्चाई की "चाहत" मानव में सदा से है। सच्चाई का भास आभास होना भी मानव के लिए सहज है। मानव को सच्चाई का जो भास आभास होता है, उसी आधार पर मानव में पठन के बाद अध्ययन की प्रवृत्ति बनती है।

"सत्य है", "समाधान है", "न्याय है" यही सार रूप में मध्यस्थ दर्शन की सूचनाएं हैं। यही तीन प्रधान मुद्दे हैं अस्तित्व में अध्ययन के लिए। इन प्रधान मुद्दों के आधार पर ही सारी सूचनाएं होती हैं। इन सूचनाओं को सुनने (श्रवण) पर हमको लगता है "सत्य कोई वस्तु है (भास होना)।" इसमें और आगे अध्ययन में जाते हैं, तो हमको लगने लगता है "सत्य ऐसा ही है" (आभास होना)। इसी क्रम में सह अस्तित्व स्वरूपी सत्य में "अनुभव करने" की जगह हम पहुँच जाते

हैं। सह अस्तित्व स्वरूपी सत्य को समझने पर मानव स्वयं को अपने जीने में "प्रमाणित करने" के योग्य हो जाता है।

मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन पूर्वक मानव के लिए सत्य को समझना सुगम हो गया है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अध्ययन मानव का मानव के साथ ही होता है.

अध्ययन मानव का मानव के साथ ही होता है।

मानव एक संवेदनशील और संज्ञानशील इकाई है। संवेदनशीलता और संज्ञानशीलता के प्रमाण के लिए एक से अधिक मानवों का होना आवश्यक है।

दो मानवों के बीच ही संज्ञानीयता प्रमाणित होने की स्थिति बनती है। समझाने वाले के समझा देने पर और समझने वाले के समझ लेने पर स्वाभाविक रूप में संज्ञानीयता प्रमाणित होती है।

समझने के बाद समझ को प्रमाणित करने में कहीं भी अड़चन नहीं है। जैसे मुझे अपनी समझ को प्रमाणित करने में अभी तक तो कोई अड़चन नहीं आया।

भाषा अध्ययन का आरंभिक भाग है। भाषा का प्रयोजन है सूचना देना। किताब से सूचना है। सुनने पर सूचना होता है। देखने पर सूचना होता है। सुनने से सर्वाधिक सूचना होता है, देखने से उससे कम और दूसरी संवेदनाओं से उससे कम सूचना संप्रेषित होता है। श्रवण से ही सर्वाधिक सूचना एक मानव से दूसरे तक पहुँचती है।

सूचना सुन लेने, पढ़ लेने मात्र से अध्ययन नहीं है। सूचना से इंगित अर्थ को स्वीकारना (साक्षात्कार, बोध) अध्ययन है। सभी "सीखने" वाला ज्ञान कर्म अभ्यास पूर्वक एक से दूसरे व्यक्ति में

स्थापित होता है। "समझने" वाला ज्ञान अध्ययन पूर्वक ही एक से दूसरे व्यक्ति में स्थापित होता है।

प्रामाणिकता की स्वीकृति के साथ ही हम अध्ययन कर पाते हैं। **"अध्ययन कराने वाला प्रमाणित है यह स्वीकार होने के बाद ही अध्ययन होता है। अध्ययन एकांत में नहीं है। अध्ययन प्रमाणित व्यक्ति के साथ में ही है। इसके प्रति ध्यानाकर्षण कराने करने की ज़रूरत है। आज की दुनिया के लिए यह एक बहुत महत्वपूर्ण मुद्दा है।"**

"मैं प्रमाणित हूँ" यह आप में स्वीकृत होने पर ही आप मुझसे "प्रभावित" होते हैं। यदि यह आप में स्वीकृत नहीं होता तो आप प्रभावित नहीं होते। प्रभावित होने से पहले आप "जिज्ञासु" बने रहते हैं। प्रभावित होने से पहले आप अध्ययन की "इच्छा" प्रगट करने तक आ जाते हैं।

अध्ययन कराने वाले की प्रामाणिकता की स्वीकृति के साथ ही आप अध्ययन कर पाते हैं।

"व्यक्ति प्रमाण" का यही आधार है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

समझ वही है, जो जीने में प्रमाणित हो!

यहाँ अमरकंटक में साधना करने आने से पहले, मैं बनारस में एक वर्ष साधना के लिए गया था। तब मुझे हर दिन ऐसा लगता रहा जैसे मैं देव सभा में ही बैठा हूँ। वह क्या चीज थी? मेरे मन का ही खेल था! प्रमाण कहाँ हुआ उसका? कल्पना में हम जो बसा लेते हैं, वह हमको सामने असली जैसा भी दिखने लगता है। ऐसी कोरी कल्पनाएँ जीने में प्रमाणित नहीं होती।

समाधि संयम पूर्वक मुझे समझ हासिल हुई, जिससे मुझे यह स्वीकार हुआ "मैं मानव स्वरूप में जी सकता हूँ।", "मैं देव मानव स्वरूप में जी सकता हूँ" और "मैं दिव्य मानव स्वरूप में जी सकता हूँ"। यह समझ मेरे जीने में प्रमाणित होती है।

जीने में समझ ही प्रमाणित होती है।

(मध्यस्थ दर्शन के) **अध्ययन विधि में परिभाषा से आप शब्द के अर्थ को अपनी कल्पना में लाते हैं यही श्रवण (सुनना) है। परिभाषा आपकी कल्पनाशीलता के लिए रास्ता है। उस कल्पना के आधार पर अस्तित्व** में वस्तु को आप पहचानने जाते हैं, अपने मन को लगाते हैं (मनन)। आपकी कल्पनाशीलता वस्तु को छू सकता है। अस्तित्व में वस्तु को पहचानने पर वस्तु साक्षात्कार हुआ। 'वस्तु' के रूप में वस्तु साक्षात्कार होता है 'शब्द' के रूप में नहीं होता है। साक्षात्कार की वस्तु सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व ही है। सह अस्तित्व साक्षात्कार होना ही मानव में कल्पनाशीलता का प्रयोजन है। साक्षात्कार होने पर बोध होता है। क्रम से सच्चाईयाँ (न्याय, धर्म, सत्य) साक्षात्कार होकर बुद्धि में स्वीकार (बोध) होते हैं। यही 'अवधारणा' है। अवधारणा के अनंतर 'आत्म बोध' होन पर अनुभव तत्काल होता है। सारी देरी जब तक कल्पना में हैं, तभी तक है। अनुभव में कल्पनाशीलता पूर्वक किया गया अनुमान विलय हो जाता है। अनुभव ही फ़िर प्रभावी हो जाता है। पूरा जीवन अनुभवमूलक हो जाता है।

इस तरह अध्ययन विधि से जीवन में "समझ" प्राप्त होती है। यह समझ जीने में प्रमाणित होती है।

समझ वही है, जो जीने में प्रमाणित हो!

(अगस्त 2006 अमरकंटक)

समझ के करो!

हमारे पूर्वजों ने ऋषि, महर्षि, सिद्ध, महापुरुषों ने अनेक तरह की "अभ्यास विधियाँ" सुझाई जिसमें "करके समझो!" वाली बात को प्रस्तावित किया गया। इन अभ्यास विधियों को "तप" माना। "तप" के लोकसुलभ होने का कोई रास्ता वे निकाल नहीं पाये।

अब उनके विकल्प में यहाँ मेरा प्रस्ताव है "समझ के करो!"

इससे "गलती कर करके सीखो" की कथा ही समाप्त हो गयी। गलती कर करके सीखने वाला मार्ग महंगा पड़ सकता है। "समझ के करो" का मार्ग सुगम है।

"समझ के करो" वाले मार्ग में "छोड़ने पकड़ने", "त्याग वैराग्य" का कोई झंझट ही नहीं है। पहले समझ लो, फ़िर निर्णय करो क्या छोड़ना है, क्या पकड़ना है। समझने के बाद क्या आवश्यक है, क्या अनावश्यक है यह स्वयं में विश्लेषित हो जाता है। आवश्यक को पकड़ना या पकड़े रहना होता है। अनावश्यकता को छोड़ना होता है। **"त्याग" की परिभाषा ही है "अनावश्यकता का विसर्जन"।**

तर्क विधि से यह प्रस्ताव पूरा पड़ता है। व्यवहारिक विधि से इसके पूरा पड़ने के लिए आपको इसे समझना ही पड़ेगा। और दूसरा कोई रास्ता नहीं है। यदि समझ में आ गया तो आपसे छूटने वाली कोई बात नहीं है। यदि समझ में आ गया है तो आपसे कुछ क्यों छूटेगा?

"समझ" शब्द स्वयं (जीवन) में जागृत हो जाने को ही इंगित करता है। उससे पहले "सुनी हुई बात" ही है।

भास, आभास, प्रतीति, अनुभूति ही क्रम से श्रवण (सुनना), मनन, साक्षात्कार–बोध (अवधारणा) एवं अनुभव है। अनुभव के पहले हम "समझ गया" यह कहना बनता नहीं। अनुभव के बिना प्रमाण नहीं

है।

सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व को समझना और जीवन को समझना। ये दोनों यदि समझ में आता है, तो बाकी सब उससे अपने आप निकल आता है।

"दृष्टा" समझ में आने पर "दृश्य" स्पष्ट होता है। जीवन ही दृष्टा है। जीवन साढ़े चार क्रिया में कितने भाग का दृष्टा है और दस क्रिया में कितने भाग का दृष्टा है यह मध्यस्थ दर्शन में स्पष्ट किया गया है। साढ़े चार क्रियाओं द्वारा जीवन संवेदनाओं का दृष्टा रहता है। दस क्रिया के साथ जीवन सह अस्तित्व में दृष्टा है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अध्ययन सुगम है

उत्तरः अध्ययन करना हर व्यक्ति के लिए हर अवस्था में सुगम है। चाहे कोई व्यक्ति एक रूपया कमाता हो या एक लाख कमाता हो या ख़ाक कमाता हो। हर व्यक्ति हर अवस्था में अध्ययन कर सकता है। अध्ययन के लिए कोई अतिवाद करने की आवश्यकता नहीं है।

आप ही बताओ झाड़ से पत्ता तोड़ने और झाड़ से पत्ता गिरने में कितना अन्तर है? पत्ता जब पेड़ से गिरता है, तो पक कर गिरता है। उसी प्रकार मानव चेतना से संपन्न होने पर हमारी सारी निरर्थकताएं झड़ जाती हैं। यह एक पूरी तरह बिना घायल हुए या घायल किये हुए चलने की बात है।

जिस तरीके से आप दाना पानी उपार्जित करते हो वह ठीक है या नहीं है यह समझदारी के बाद समीक्षित होता है। यदि वह तरीका अर्जित ज्ञान के अनुकूल है, तो हमको क्या तकलीफ है? यदि वह तरीका ज्ञान के अनुकूल नहीं है, तो वह समस्यायें अपने आप से

स्वयं में उभर आता है। वह समस्या कोई दूसरा आदमी आ कर नहीं करेगा। समझने के बाद अपने जीने का प्रारूप अपने आप से स्वयं में उभर आता है। यह वैसे ही है जैसे, प्राण सूत्रों में नयी रचना विधि अपने आप से समाधान के रूप में उभर आती है।

एक ही प्रारुप में हर व्यक्ति जियेगा यह भी बेवकूफों की कथा है! सभी आदमी एक ही प्रारुप में जी नहीं पायेगा। हर आदमी के साथ प्रारुप बदलेगा। हर प्रारुप के साथ स्वावलंबन की स्थिति ध्रुव रहेगी। हमारा अपने परिवार की आवश्यकताओं से अधिक आवर्तनशील विधि से श्रमपूर्वक उत्पादन कर लेना ही "स्वावलंबन" है। मानवीयता संपन्न परिवार की आवश्यकताएं होती हैं शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति के अर्थ में।

श्रमपूर्वक उत्पादन करने का प्रारुप समझदारी संपन्न होने पर आप में अपने आप से निकलेगा। एक ही प्रारुप में सभी उत्पादन करेंगे यह मूर्खता की बात है। इस तरह मानव एक मशीन नहीं है। मानव एक संवेदनशील और संज्ञानशील इकाई है। संज्ञानशीलता में संवेदनाएं नियंत्रित रहती हैं। फलस्वरूप हम व्यवस्था में जी कर प्रमाणित होते हैं। इतना ही तो सूत्र है। इसको यदि हम सही तरह से उपयोग कर लेते हैं, तो संसार के लिए उपकार करने की जगह में आ जाते हैं।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

मध्यस्थ दर्शन का अध्ययन विगत के "ध्यान" विधियों में भिन्न है"

मैंने यह भी निष्कर्ष निकाला है मैंने जो तपस्या किया या साधना किया, वह विगत में जो यती, सती, संत, तपस्वी किए हैं उससे "बड़ा" कुछ नहीं है। मैंने कोई "अपूर्व" घोर तपस्या, घोर साधना की हो, ऐसा कुछ नहीं है। सामान्य ढंग से जो मुझसे बन पड़ा, करना बना, उतना ही मैं किया हूँ। जिसमें मुझे लेश मात्र भी

कष्ट नहीं हुआ। दुःख नहीं हुआ। अभाव का पीड़ा नहीं हुआ। न कोई प्रताड़ना हुई। क्यों नहीं हुआ? शायद मैं अपने लक्ष्य से सम्मोहित हो गया था। अपने लक्ष्य के प्रति मेरी एकाग्रता में ये सब विलय हो गए या निष्प्रभावी हो गए, ऐसा मैं मानता हूँ। **मैंने जो अनुभवगामी विधि या अध्ययन विधि तैयार की, उसका मेरी साधना प्रक्रिया से कोई लेन देन नहीं है। अध्ययन विधि उस सब को छूता भी नहीं है। संयम के बाद जो मुझे उपलब्धि हुई वह आपके हाथ लग रहा है।**

प्रश्नः ध्यान की जो अनेक विधियाँ प्रचलित हैं, उनका प्रयोग क्या अध्ययन के लिए सहायक है?

उत्तरः वे कोई भी इसको छूती भी नहीं हैं। प्रचलित ध्यान और अभ्यास की विधियाँ व्यक्ति की अहमता को बढ़ाने के लिए ही हैं। या सिद्धि प्राप्त करने के लिए हैं। या ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने के लिए हैं जिससे दूसरों का सम्मान प्राप्त हो। उनसे न स्वयं का कोई प्रयोजन सिद्ध होता है, न संसार का कोई उपकार सिद्ध होता है।

विगत के समाधि, ध्यान प्रक्रियाओं के बारे में बात करने से अध्ययन में कोई सहयोग नहीं है। समय को बरबाद न किया जाए। अध्ययन, अध्ययन के बाद बोध, बोध के बाद अनुभव, अनुभव के बाद प्रमाण, प्रमाण के बाद व्यवस्था में जीने की बात सोचा जाए।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

कोई भी और कुछ भी "बेकार" नहीं है.

सह अस्तित्ववादी सोच विचार में किसी भी वस्तु या व्यक्ति का तिरस्कार या उपेक्षा नहीं है। कोई आदमी "बेकार" है यह इससे निकलता नहीं है। कोई वस्तु "बेकार" है यह निकलता नहीं है। कोई स्थिति "बेकार" है यह निकलता नहीं है। कोई गति "बेकार" है यह

निकलता नहीं है। सह अस्तित्ववादी विचार पूर्वक हर वस्तु के साथ उपयोग, सदुपयोग और प्रयोजनशीलता को जोड़ने का सूत्र निकल जाता है। उसके लिए अध्ययन पूर्वक समझदार होना ही एकमात्र उपाय है।

व्यक्ति के अकेले का समझदार हो जाना पर्याप्त नहीं है। इसीलिये समझदार होने पर स्वयं से उपकार होना भावी हो जाता है।

एकान्तवादी आदर्शवादिता से यह भिन्न बात है। उसमें जो तपस्वी हो गया वह अपने आप को "समझदार" मान लेता है। संसार को सुधरने की ज़रूरत है, यह भी मान लेता है। संसार नहीं सुधरता है तो वह "पापी" है, "स्वार्थी" है, "अज्ञानी" है यह कहता है। संसार दुःख भोगने के लिए है, यह भी मान लेता है। आदर्शवादी परम्परा ऐसी ही बनी हुई है।

आदर्शवादी भी "बेकार" नहीं है। आदर्शवादी सुधरने के योग्य है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

परिपूर्णता का समर्थन

परिपूर्ण या बिल्कुल सही होने की अपेक्षा संसार के हर व्यक्ति में है। यह आप संसार में कहीं भी आजमा लो! परिपूर्णता को नकारने वाला भी क्या कोई होगा संसार में?

यदि आप परिपूर्णता के अर्थ में काम करते हैं तो उसके लिए आपके संपर्क में आने वाले लोगों की सहमति अपने आप से जुड़ जाती है, कि "यह आदमी कुछ ठीक कह रहा है", "यह आदमी कुछ ठीक कर रहा है"। इस सहमति के साथ उनका सहयोग भी जुड़ जाता है। यह अपने आप से होता है।

जैसे मैं यहाँ अमरकंटक में अपने स्व जनों से दूर जब साधना

करने पहुँचा, तो मेरे उद्देश्य को सुन कर यहाँ के लोग कहने लगे "यह ठीक सोच रहा है"। ये लोग मेरे अभिभावक जैसे हो गए। उनकी अनुकम्पा, सहयोग, सहमति मुझको मिलने लग गया। यह अपने आप से होने लगा।

परंपरागत विधि से जितनी अच्छाइयाँ हमको समझ में आती हैं, उनको प्रमाणित करने की इच्छा सहित, उससे अधिक श्रेष्ठता के लिए यदि आपमें संकल्प होता है तो उसे नकारा न जाए। अपने अनुसंधान के सफल हो जाने के बाद आज मेरा लोगों को यही कहना बनता है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अध्ययन एक उपलब्धि है

जब तक जीवन की दसों क्रियाएं क्रियाशील नहीं होती तब तक स्वयं में खोखलापन बना ही रहता है। हम कहीं न कहीं प्लास्टर लगा कर चलते रहते हैं। संसार हमको प्रणाम करता है और हम अपने को सिद्ध मान लेते हैं। जबकि सच तो यह है या तो मानव साढ़े चार क्रिया में भ्रमित जीता है या दस क्रिया में जागृति को प्रमाणित करता है।

प्रश्न : क्या साढ़े चार और दस क्रिया के बीच में कोई स्थिति नहीं है?

उत्तर : साढ़े चार और दस क्रिया के बीच में कोई 'पद' नहीं है। बीच में 'अध्ययन' ही है। साढ़े चार से दस क्रिया में लाँघने होने की बात वैसे ही है, जैसे बत्ती जलाया और प्रकाश हो गया।

अध्ययन कोई "समयबद्ध प्रक्रिया" नहीं है यद्यपि अध्ययन एक निश्चित साधना है। अध्ययन एक "उपलब्धि" है। पठन पूर्वक स्मरण (श्रवण) फ़िर अध्ययन के लिए प्राथमिकता बनना (मनन), उसके बाद अध्ययन (साक्षात्कार, बोध) है। स्मरण पूर्वक अनुभव की

रौशनी में, अधिष्ठान के साक्षी में किया गया प्रयास अध्ययन है।

"अध्ययन होना" मतलब उजाला हो गया। अध्ययन से पहले "उजाले की अपेक्षा" रहा। अध्ययन की पृष्ठभूमि साढ़े चार क्रिया से दस क्रिया में लाँघने की तैयारी है। उस तैयारी में समय लगता है। यही 'श्रवण', 'मनन' प्रक्रिया है।

दो ही स्थितियाँ हैं, पहली "अध्ययन कर रहा हूँ", दूसरी "अध्ययन हो गया"। यदि पूरी यात्रा को एक फीट की दूरी माना जाए तो 11.5 इंच की पृष्ठभूमि है (श्रवण, मनन), केवल आधा इंच अध्ययन (बोध) है। अध्ययन और प्रमाण में कोई अंतराल नहीं है। इससे ज्यादा क्या कहा जाए? गणितीय भाषा से भी बात करें तो इससे ज्यादा कैसे इसको बताया जाए?

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

प्रबोधन विद्यार्थी एवम् प्रबोधक

प्रबोधन की परिभाषा है अन्य व्यक्ति में सत्य बोध कराने के लिए परिपूर्णता के अर्थ में शब्दों का प्रयोग करना। जिसको बोध हुआ वह व्यक्ति अनुभवपूर्वक प्रबोधित करेगा। इस ढंग से ज्ञान अवस्था की परम्परा बनती है। जितना हम और लोगों को बोध कराते हैं, हमारा उत्साह, प्रसन्नता और बढ़ता जाता है। इस ढंग से मानव थकने वाले गुण से मुक्त हो जाता है।

मंगल मैत्री के बिना प्रबोधन सफल हो ही नहीं सकता। मंगल मैत्री ही दूसरे व्यक्ति में बोध होने के लिए एक पवित्र, पावन, निर्मल और शुद्ध आधार भूमि है। **अध्ययन करने वाला प्रबोधक को पारंगत मान कर ही उसकी बात सुनता है। यदि उसे पारंगत नहीं मानता तो वह उसकी बात सुनता ही नहीं है।** मंगल मैत्री पूर्वक ही सुनने वाला और सुनाने वाला एक दूसरे पर विश्वास कर सकते हैं। सुनाने वाला पारंगत है, यह विश्वास सुनने वाले में हो और

सुनने वाला ईमानदारी से सुन रहा है, इसे बोध होगा यह विश्वास सुनाने वाले में हो तभी प्रबोधन सफल होता है। यदि परस्पर यह विश्वास नहीं होता तो हम बतंगड़ में फंस जाते हैं। बोध की अपेक्षा में ही विद्यार्थी यदि जिज्ञासा करता है, तो उसको बोध होता है। बोध की अपेक्षा को छोड़ कर हम और कोई आधार से यदि तर्क करते हैं, तो रास्ते से हट जाते हैं। सुई की नोक के बराबर से भी यदि इससे हटते हैं, तो किसी दूसरे ही दिशा में चले जाते हैं।

"स्वभाव गति" में रहने पर ही मंगल मैत्री होता है, जो अध्ययन के लिए आवश्यक है। आवेशित गति में रहने पर अध्ययन नहीं होता। बेहोश रहने पर भी नहीं होता। चंचलता बने रहने पर भी नहीं होता। मन यदि भटकता रहे और आप सुनते रहे तो कुछ समझ में नहीं आएगा। मन को एक ही समय में तीन जगह रहने का अधिकार रहता है। इसलिए अध्ययन के लिए विद्यार्थी द्वारा अपने मन को स्थिर करने की आवश्यकता है। इसी का नाम है "ध्यान"। अध्ययन के लिए ध्यान देना बहुत आवश्यक है। अध्ययन करना ही ध्यान का प्रयोजन है। आँखें मूँद लेना कोई ध्यान नहीं है उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ।

यदि हमने ध्यान दिया तो अस्तित्व में कोई ऐसी चीज नहीं है जो हमको बोध न हो। अस्तित्व में किसी चीज पर परदा नहीं लगा। सम्पूर्ण अस्तित्व सह अस्तित्व स्वरूप में "खुला" है। इसी आधार पर अस्तित्व में अनुभव किए हुए आदमी द्वारा दूसरे आदमी को बोध कराना सहज है। स्वभाव गति में होने पर ही दूसरा आदमी उसको ग्रहण कर पाता है। जो ग्रहण किया वह यदि तृप्ति नहीं दे पाता है, तो उस स्थिति में वह जिज्ञासा कर सकता है, संतुष्ट होने के लिए। इस तरह सुनने वाले और सुनाने वाले के बीच मंगल मैत्री पूर्वक सारी बात स्पष्ट हो सकता है। यदि सुनने वाले और सुनाने वाले में समान रूप से स्पष्टता हो जाती है तो दोनों में एकरूपता हो

गया कि नहीं? यह एकरूपता होना ही "अनन्यता" है।

प्रबोधक अनुभव प्रमाण का धारक वाहक होता है। अनुभव प्रमाण का धारक वाहक होने के लिए अनुभव प्रमाण का दृष्टा बने रहना आवश्यक है।

बोध कराने के लिए प्रबोधक और विद्यार्थी के बीच सम्प्रेषणा होती है। वह सम्प्रेषणा ज्यादा स्नेहिल हो तो प्रबोधन जल्दी सफल हो जाता है। गणितात्मक भाषा सूखी सूखी है और गति के साथ है। गुणात्मक भाषा थोड़ा ज्यादा स्नेहिल है और प्रयोजन के साथ है। कारणात्मक भाषा पूर्णतया स्नेहिल है और प्रमाण के साथ है। कारण गुण गणित के संयुक्त स्वरूप में मानवीय भाषा के प्रयोग से प्रबोधन होता है। प्रबोधन स्नेहिल विधि से ही पल्लवित और पुष्पित होता है। विरोधाभासी विधि से नहीं होता।

भौतिक वस्तुओं का आबंटन किया जा सकता है । उनका भाग विभाग किया जा सकता है। उनका विनिमय किया जा सकता है। लेकिन ज्ञान का आबंटन नहीं किया जा सकता। ज्ञान का भाग विभाग नहीं होता। कितने भी व्यक्ति ज्ञान का बोध करें, ज्ञान में अनुभव करें, ज्ञान को प्रमाणित करें ज्ञान न कम होता है, न ज्यादा होता है। इसलिए ज्ञान का व्यापार नहीं होता। ज्ञान का दूसरे को बोध ही कराया जा सकता है। किसी व्यक्ति से यदि हमको बोध हुआ तो उसके प्रति हमारा कृतज्ञ रहना ही बनता है। हमारी कृतज्ञता ही उसका प्रतिफल है। उससे ज्यादा हम कुछ दे भी नहीं सकते।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अनुभव घटना

अनुभव की अपेक्षा हर मानव में है। मानव में अनुभव हो जाना एक सामान्य घटना है। अनुभव न होने का कारण है, परम्परा में

इसका प्रावधानित न होना। परम्परा चार स्वरूप में होती है : आचरण, शिक्षा, संविधान और व्यवस्था। इन चारों जगह में यदि प्रमाण सहित प्रेरणा का स्त्रोत बना रहता है तो उस स्थिति में हर मानव के लिए अनुभव करना कोई मुश्किल नहीं है। जिस तरह हम भाषा एक से दूसरे को सिखाते हैं, उससे ज्यादा आसानी से जागृति एक से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचती है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

समझ और आचरण

मानव चेतना संबंधी ज्ञान हमको समझ में आता है, पर वह आचरण में नहीं आए ऐसा हो नहीं सकता। हम समझदार हों और भीख मांग कर खाएं, ऐसा हो नहीं सकता। हम समझदार हों और दूसरों का शोषण करें, ऐसा हो नहीं सकता। हम समझदार हों और हम धरती का शोषण करें ऐसा हो नहीं सकता।

मानव चेतना संबंधी ज्ञान यदि हमको समझ आता है तो वह "मानवीयतापूर्ण आचरण" के रूप में ही प्रमाणित होता है। मानवीयतापूर्ण आचरण "मूल्य", "चरित्र" और "नैतिकता" का संयुक्त स्वरूप है। यह "परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था" के रूप में प्रमाणित होता है।

समझ में आया तो आचरण में आएगा ही!

आचरण में नहीं आया, तो समझ में आया नहीं!

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

जाने हुए को मान लो, माने हुए को जान लो

प्रश्नः आप कहते हैं "जाने हुए को मान लो, माने हुए को जान लो।" अभी की स्थिति में मैं स्वयं में "जाने" हुए का कोई आधार तो पाता नहीं हूँ। मैं कल्पनाशील हूँ, यह स्वीकार है। मैं कल्पना

पूर्वक "मानता" हूँ, यह भी स्वीकार है। किसके जाने हुए को मैं मान लूँ?

उत्तरः सह अस्तित्व में अनुभवपूर्वक मैंने समस्त अस्तित्व को "जाना" है। मैं अपने जाने हुए को अपने जीने (व्यवहार, कार्य और उपकार) में प्रमाणित करता हूँ।

प्रश्नः तो आपके "जाने" हुए को मैं "मान" लूँ?

उत्तरः और फ़िर उस "माने" हुए को आप "जान" लो। "जानने" की वस्तु सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व है। **माने हुए को जानना "अध्ययन" है।** अनुभवपूर्वक जाने हुए को मानना "प्रमाण" है। प्रमाण की ही परम्परा बनती है।

प्रश्नः यानी मैं मध्यस्थ दर्शन सह अस्तित्ववाद के आपके प्रस्ताव को "मान" कर, उससे इंगित वास्तविकताओं को जब अस्तित्व में पहचान लेता हूँ तो उससे मेरा "जानना" हुआ। फ़िर अपने उस जाने हुए को मैं अपने जीने (व्यवहार, कार्य और उपकार) में प्रमाणित करने जाऊँगा तो वह "जाने हुए को मानना" होगा। क्या ऐसा है?

उत्तरः हाँ, ऐसा ही है।

(जनवरी 2007 अमरकंटक)

मंगल मैत्री की आधार भूमि सर्वशुभ ही है.

प्रश्नः आप सह अस्तित्व में अनुभव में ही "समझ" को ध्रुवीकृत करते हैं। अभी अध्ययन क्रम में हम उस बिन्दु तक पहुँचे नहीं हैं। ऐसे में अध्ययनरत साथियों में मंगल मैत्री का क्या आधार हो?

उत्तरः मंगल मैत्री की आधार भूमि सर्वशुभ ही है।

17_samvaad_part2_2013_c

(1) ये सब लोग (अन्य विद्यार्थी) सर्वशुभ चाहने वाले हैं, सर्वशुभ के कार्य में लगे हैं। वैसे ही मैं भी हूँ।

(2) सर्वशुभ से ही अपने पराये की दीवार गिरती हैं और अपराध मुक्ति होती है।

(3) इसीलिए ये मेरे साथी हैं और उनके साथ मैत्री स्वाभाविक है।

इसमें क्या कोई अतिवाद है?

इसमें क्या कोई खोट है?

इसमें क्या कोई व्यक्तिवाद है?

इसमें क्या कोई समुदायवाद है?

इसको आप तर्क विधि से सोच लीजिये। तर्क से अधिक कल्पना होता है। इसको आप कल्पना विधि से भी सोच कर देखिये।

इस ढंग से हम मंगल मैत्री का रास्ता साफ़ देख पाते हैं। सबके साथ हम जी सकते हैं, रह सकते हैं। अपने साथियों के प्रति शुभकामना व्यक्त कर सकते हैं। उनके सर्वशुभ कार्यों की सफलता के लिए हम प्रसन्न और रोमांचित भी हो सकते हैं।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

दर्शन का मतलब

दर्शन का मतलब "मैं जैसा हूँ।" जीना ही दर्शन है।

जैसे मेरा जीना आपके लिए दर्शन है। आपका जीना मेरे लिए दर्शन है। मेरा आचरण मेरे लिए दर्शन है। मेरे आचरण को मैं जानता हूँ, मानता हूँ यह मेरा मेरे लिए दर्शन है। मेरे आचरण को जो आप देखते हैं, मैं आपके लिए दृश्य हुआ वह आपके लिए "प्रेरणा" के रूप में दर्शन है। इस प्रेरणा से आप अध्ययन करते हैं, जिससे यह

दर्शन आपका स्वत्व बनता है। आपका जब यह स्वत्व बन जाता है तो यह आपका दर्शन हो गया। फलन में एक ही स्वरूप में दो व्यक्ति हो गए! इस तरह ज्ञान अवस्था के अनुषंगीयता का आधार बना।

अनुभवमूलक विधि से जीवन की दसों क्रियाएं अनुभव के आकार में प्रगट होती हैं। शरीर को जीवन मानते तक जीवन की साढ़े चार क्रियाएं ही प्रगट होती हैं। जीवन की दसों क्रियाएं प्रगट होने से हम मानवीयतापूर्ण आचरण में पक्के हो गए। मानवीयतापूर्ण आचरण आपके लिए प्रेरणा का स्त्रोत हुआ। **मानवीयतापूर्ण आचरण में जीता हुआ मैं अपने स्वरूप में एक दृश्य हूँ, जिस दृश्य को देखकर आप में दर्शन होता है अर्थात् मानवीयतापूर्ण आचरण की आप में स्वीकृति होती है। यह तदाकार तद्रूप विधि से होता है। जिसके फलन में आप स्वयं दर्शन स्वरूप हो जाते हो।**

हम माने या न माने व्यापक वस्तु में हम भीगे हैं ही। तद्रूपता के प्रमाण रूप में हम हैं ही। होने के प्रमाण को हमें खोजना नहीं है, मात्र अनुभव करना है, प्रमाणित होना है। इसको अनुभव करने के लिए अध्ययन, अध्ययन के फलन में बोध, वस्तु बोध के बाद अनुभव, अनुभव के बाद अनुभव प्रमाण बोध। इसी विधि से हम प्रमाणित होते हैं। यह तार्किक, व्यवहारिक और तात्विक रूप में पूरा होता है इसीलिये मानव को स्वीकार होता है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

साधना का फल, अध्ययन

साधना करने वालों का संसार ने सम्मान किया है। साधना का फल किन्तु संसार को नहीं मिला। साधना करने वाले को साधना से कुछ मिला या नहीं मिला, यह पता नहीं चला। यह अब तक की कथा है।

साधना का फल संसार को मिलना चाहिए या नहीं? इस पर आप शोध करिए।

मुझे साधना से जो फल मिला उसको मैंने संसार के सम्मुख रख दिया है। यह उचित किया या अनुचित किया?

समाधान समृद्धि पूर्वक जीने का प्रस्ताव संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया है। उसके लिए अध्ययन विधि बताया है। अध्ययन के लिए दर्शन, वाद, शास्त्र और मानवीय आचार संहिता रूपी संविधान दिया है। वह आपके अवलोकन करने के लिए प्रस्तुत है।

प्रश्न : अध्ययन से क्या आशय है?

उत्तर : अधिष्ठान के साक्षी में अर्थात् आत्मा के साक्षी में एवम् अनुभव की रौशनी में स्मरण पूर्वक किया गया प्रयास अध्ययन है। यह परिभाषा है। इसका विवरण इस प्रकार दिया अध्ययन के लिए जो शब्द का हम प्रयोग करते हैं, उस शब्द के अर्थ स्वरूप में अस्तित्व में वस्तु होती है। उस वस्तु का ज्ञान हुआ, मतलब हमने अध्ययन किया। वस्तु का ज्ञान तदाकार विधि से होता है। हर मानव के पास कल्पनाशीलता है, उस कल्पनाशीलता के आधार पर तदाकार होता है।

प्रश्न : तदाकार से क्या आशय है?

उत्तर : अभी भी आप तदाकार विधि से ही चले हैं। जैसे चार विषयों के साथ तदाकार हो जाना। पाँच संवेदनाओं के साथ तदाकार हो जाना। सुविधा संग्रह के साथ तदाकार हो जाना। इस तरह की हविस या मनोगत भाव से तदाकार होने पर मानव फंस जाता है। अब यहाँ समाधान के साथ तदाकार होने का प्रस्ताव है।

प्रश्न : अनुभव की रौशनी से क्या आशय है?

उत्तर : अध्ययन कराने वाले के पास अनुभव की रौशनी रहता

है।

प्रश्न : अध्ययन करने वाले के पास क्या रहता है?

उत्तर : अध्ययन करने वाले के पास अनुमान रहता है। मुझको समझा हुआ मान कर ही आप मुझसे अध्ययन कर पाओगे, नहीं तो मुझसे अध्ययन नहीं कर पाओगे। आपका अनुमान जहाँ तक बन पाता है वहाँ तक आपको समझ आता है। आपका अनुमान जहाँ नहीं बन पाता है, या आपका कल्पनाशीलता जहाँ कुंठित होता है, वहाँ सच्चाई समझ में नहीं आ पाता है। बिना समझे कुछ भी करने जाते हैं तो उससे गलती ही होगा, दूसरा कुछ होगा नहीं, आदमी दो ही स्वरूप में रह सकता है समाधान के स्वरूप में या गलती के स्वरूप में।

प्रश्न : कल्पनाशीलता इस तरह कुंठित हो जाए तो क्या करें?

उत्तर : उसके लिए मूल से पुनः जिज्ञासा करना चाहिए। आप पढ़ सकते हैं और समझ भी सकते हैं। आप पढ़िए, जो समझ में नहीं आता है वह मुझसे समझ लीजिये। यही इसका विधि है। समझा हुआ व्यक्ति इस प्रकार समझाने की जिम्मेदारी ले और समझने वाला व्यक्ति समझने की जिम्मेदारी ले तो समझ में आ जाता है।

प्रश्न : यदि प्रस्ताव की सूचना है, और मेरी जिज्ञासा है तो क्या वह समझने के लिए पर्याप्त नहीं है? या समझाने वाले की फिर भी आवश्यकता है?

उत्तर : केवल सूचना होना और जिज्ञासा होना समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। समझाने वाले (अनुभव संपन्न व्यक्ति, गुरु) के बिना समझ में नहीं आता। समझाने वाले के बिना समझने के लिए समाधि होना आवश्यक है। समाधि के बाद यदि संयम में आपका लक्ष्य स्थिर रहता है तो प्रकृति से सीधे आपको समझ में आएगा।

इस प्रस्ताव की सूचना का महत्व इसको समझाने वालों के साथ ही है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन अक्टूबर 2009, हैदराबाद)

समझने में समय

प्रश्न : समझने में बहुत समय लगता है, तब तक जो स्वयं में असंतुष्टि है, उसका क्या करें?

उत्तर : संतुष्टि तो आप ही में होगा। संतुष्टि के लिए कोई गोली तो है नहीं कि उसको निगलें और समझ गए। आप अभी समझना चाहें तो अभी समझ सकते हैं, दो वर्ष में समझना चाहें तो दो वर्ष में समझ सकते हैं। समझने के लिए समझने वाले और समझाने वाले दोनों की भागीदारी जरूरी है। केवल समझाने वाला पर्याप्त नहीं है, समझने के लिए। समझने में लगने वाली अवधि समझने वाले पर निर्भर है। जैसे मैं अपनी बात को 5 सूत्रों में भी कह सकता हूँ, 25 सूत्रों में भी कह सकता हूँ, 25000 सूत्रों में भी कह सकता हूँ। आपको 5 सूत्रों में समझ नहीं आता है तो आपके लिए मैं अपनी बात 25 सूत्रों में कहता हूँ। 25 सूत्रों में नहीं समझ आता है तो मैं 25000 सूत्रों में कहता हूँ। समय को लेकर परेशान न हुआ जाए। समय निरंतर है वह रुकता नहीं है। प्रयत्न निरंतर है चुप तो कोई रहता नहीं है। प्रयत्न और समय का प्रयोजन के अर्थ में संयोजन होने से समझदारी फलित होता है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन अक्टूबर 2009, हैदराबाद)

सूचना, अध्ययन, अनुभव, प्रमाण

"संवाद" सूचना का उद्देश्य है सह अस्तित्व वस्तु को देखने के लिए 'सूचना' मिल जाए। सूचना के पठन के बाद अध्ययन (साक्षात्कार बोध) के अलावा दूसरा कोई मार्ग नहीं है। अध्ययन के बाद अनुभव के अलावा और कोई मार्ग नहीं है। अनुभव के बाद

प्रमाण के अलावा और कोई मार्ग नहीं है। मंजिल यही है। अध्ययन की अवधि होती है। अनुभव की अवधि होती है। प्रमाण की कोई अवधि नहीं है। अनंत तक प्रमाण है। अध्ययन करने में, अनुभव करने में समय लगता है चाहे छोटा से छोटा समय क्यों न हो। प्रमाण के लिए कोई समय नहीं है। प्रमाण निरंतर है। अध्ययन में ही जो समय लगता है, वह लगता है। अध्ययन के बाद अनुभव में नगण्य, अत्यल्प समय लगता है। उसके बाद प्रमाण तो कभी समाप्त ही नहीं होता।

अभी तक भौतिकवादी विधि से या आदर्शवादी विधि से अध्ययन नहीं हो पाया था। भौतिकवादी विधि में पहले पठन है, फिर प्रयोग है। आदर्शवादी विधि में श्रवण या पठन के बाद साधना है। साधना में मौन अंतिम बात हुई। इस तरह भौतिकवादी या आदर्शवादी विधि से मानव के जीने में प्रमाण तक पहुँचने का रास्ता नहीं मिला। प्रयोग कोई जीने की जगह नहीं है। मौन कोई जीने की जगह नहीं है।

मध्यस्थ दर्शन के विकल्पात्मक विधि में है सूचना, अध्ययन, अनुभव, फिर प्रमाण, उपलब्धि प्रमाण ही है।

(जनवरी 2007)

अनुसंधान, अध्ययन और प्रमाण

अध्ययन करने वाला तुलन (मनन), साक्षात्कार और बोध विधि से देखता (समझता) है। अध्ययन करानेवाला अनुभवमूलक विधि से प्रस्तुत होता है। अनुभव की रौशनी में ही सब देखा (समझा) जा सकता है। अनुभव की रौशनी अध्यापन कराने वाले के पास रहता है। कल्पनाशीलता जब अनुभव को स्वीकारती है तब वह तदाकार हो जाती है। अध्ययन की प्रक्रिया तो यही है।

सह अस्तित्व विधि से समझदारी अस्तित्व में है। उसको समझना है, अनुभव करना है, प्रमाणित करना है इतना ही बात है।

शब्द से अर्थ को अस्तित्व में वस्तु के स्वरूप में पहचानने के लिए मन को लगाना पड़ता है यह 'मनन' प्रक्रिया है। शब्द से इंगित अस्तित्व में वस्तु को स्वीकारना होता है, तब तदाकार होने की बात आती है। यदि शब्द से कोई वस्तु अस्तित्व में इंगित नहीं होती तो वह शब्द सार्थक नहीं है। वस्तु को स्वीकारते नहीं हैं तो तदाकार नहीं हो पाते। तदाकार होने पर तद्रूप होते ही हैं। उसके लिए कोई पुरुषार्थ नहीं है वह परमार्थ ही है। तदाकार होना ही अध्ययन (साक्षात्कार, बोध) है। तद्रूप होना ही अनुभव है। तद्रूप होने पर प्रमाण होता ही है, उसके लिए कोई अलग से प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रमाण तो व्यक्त होता ही है। जैसे आप जो पूछते हो, उसका उत्तर मेरे पास रहता ही है। अनुभवमूलक विधि से व्यक्त होने वाला (प्रबोधक, गुरु) अध्ययन कराएगा। अनुभव की रौशनी में ही अध्ययन करने वाले (शिष्य) का विश्वास होता है। विश्वास के आधार पर ही वस्तु का बोध होता है। वस्तु का बोध होने पर तदाकार हुआ।

प्रश्न : जीवन विद्या शिविर में सुने प्रस्तावों पर अपनी कल्पनाशीलता को लगाना अनुभव तक पहुँचने के लिए पर्याप्त है या वांगमय का अध्ययन करना भी आवश्यक है?

उत्तर : वांगमय (दर्शन, वाद, शास्त्र, संविधान) का अध्ययन करना आवश्यक है। अध्ययन पूर्वक ही अनुभव होता है।

प्रश्न : तो क्या अध्ययन करने के लिए पढ़ा लिखा होना आवश्यक है?

उत्तर : नहीं। समझने की अर्हता सबके पास है, कल्पनाशीलता के आधार पर चाहे पढ़े लिखे हों या न हों। समझाने वाला पढ़े लिखे को भी समझा सकता है, बिना पढ़े लिखे को भी समझा सकता है। जो पढ़ा लिखा नहीं है, वह सुन तो सकता ही है। 'पढ़ना' भी 'सुनना' ही है उससे अधिक नहीं है। (सुनना=भास होना=भाषा का अर्थ कल्पना में आना, चित्रित होना)

सुनने पढ़ने के आधार पर हम तर्क करते हैं। तर्क संतुष्ट होने के बाद समझने की इच्छा होती है। समझने के बाद व्यवहार में प्रमाणित करने की कोशिश करते हैं।

कितने भी तरीके से हम सोचें, लक्ष्य समझदारी का व्यवहार में प्रमाणित होना ही है। इस लक्ष्य को छोड़ कर हम केवल बातों में अपनी बहादुरी को बता सकते हैं। बातों में बहादुरी बताने से मानव तरा नहीं। बातों में बहादुरी दिखाने की वेदमूर्ती परंपरा से मैं स्वयं निकला था। वेदमूर्तियों से ज्यादा बोलने वाला संसार में कोई नहीं है। लेकिन उससे कोई प्रयोजन निकला नहीं।

प्रश्न : जब तक हम अध्ययन के इस वातावरण में रहते हैं, तब तक हमारा मन लगा रहता है। जब यहाँ से दूर जाते हैं तो ऐसा लगता है जैसे उल्टा ही गियर लग गया हो! ऐसा क्यों है, इसके निदान के लिए क्या करें?

उत्तर : ''सुनना'' और ''पढ़ना'' ''समझना'' नहीं है। जब तक हमारा ध्यान सुनने और पढ़ने में ज्यादा रहता है, ''समझने'' (शोध) में कम रहता है तब तक ऐसा होता है। सुनने और पढ़ने के साथ साथ ''समझने'' का भी प्रयास किया जाए। समझ में आने पर वह भूलता नहीं है, फिर उस समझ को जीना ही होता है। समझने (साक्षात्कार, बोध, अनुभव) से पहले मानव जीव चेतना में ही जीता है।

प्रश्न : आपको जो दर्शन हुआ, वह भूतकाल में इस धरती पर किसी को हुआ या नहीं?

उत्तर : मैं यह नहीं कह सकता। यदि हुआ भी हो तो उसका प्रमाण तो वर्तमान में नहीं है। ''मुझसे पहले किसी को अनुभव नहीं हुआ'' यह कहने का अधिकार मेरे पास नहीं है। परम्परा में प्रमाण नहीं हुआ यह मैं कह सकता हूँ। प्रमाण के लिए ही मैंने अनुसंधान

किया, प्रमाणित होने के लिए ही हम काम कर ही रहे हैं।

प्रश्न : आपको जो दर्शन हुआ, वह भविष्य में किसी को होगा या नहीं?

उत्तर : अध्ययन करने वाले सभी को यह अस्तित्व दर्शन होगा। अध्ययन किये बिना किसी को अस्तित्व दर्शन नहीं होगा।

प्रश्न : शरीर छोड़ने के बाद जीवन की भ्रम और जागृति को लेकर क्या स्थिति होती है?

उत्तर : जीते समय जीवन जितना भ्रमित रहता है, उतना ही भ्रमित शरीर छोड़ने के बाद भी रहता है। जीते समय जीवन जितना जागृत रहता है, उतना ही जागृत शरीर छोड़ने के बाद भी रहता है। जीवन शरीर छोड़ते समय शरीर यात्रा का समीक्षा करता है, इसमें जो भी वह गलती स्वीकारता है उसको भूल कर अगली शरीर यात्रा शुरू करता है। मानव चेतना, देव चेतना, दिव्य चेतना में जीना जागृति है। जीव चेतना में जीना भ्रम है। जीव चेतना में न्याय पूर्वक जीना बनता नहीं है।

प्रश्न : एक जागृत जीवन को अपनी अगली शरीर यात्रा में क्या फिर अनुसंधान या अध्ययन करने की आवश्यकता है?

उत्तर : जागृत जीवन द्वारा भी शरीर छोड़ने के बाद दुबारा शरीर लेने पर समझना तो फिर से पड़ेगा ही। ऐसे जीवन द्वारा परंपरा में यदि जागृति होगा तो परंपरा से जल्दी समझना होगा, परंपरा में जागृति नहीं होगा तो पुनः अनुसंधान करना होगा।

हर जीवन जागृति के लिए तृषित है। परंपरा से यदि जागृति नहीं मिलती है तो जो लाभोन्माद, भोगोन्माद, कामोन्माद मिलता है उसी में जीना होता है। उससे जीवन को संतुष्टि होता नहीं है। जीवन संतुष्टि का प्रावधान मानव परंपरा में हो, उसके लिए मैंने यह

प्रस्ताव मानव जाति के सम्मुख रखा है। समझना या अनुभव करना हर व्यक्ति के वश का है। परंपरा में समझदारी का प्रावधान न होने के कारण मानव भ्रम में रहने के लिए विवश है।

प्रश्न : एक बार मानव द्वारा अनुभव संपन्न होने के बाद उसका दूसरी शरीर यात्रा में फिर से अनुसंधान क्यों आवश्यक है?

उत्तर : शरीर के साथ तदाकार हुए बिना संवेदनाएं व्यक्त होते नहीं है। दूसरी शरीर यात्रा शुरू करने पर कल्पनाशीलता शरीर के साथ ही तदाकार होगी। ऐसे जीवन द्वारा ज्ञान को स्वीकारने के लिए अनुसंधान या अध्ययन की आवश्यकता रहेगी ही।

अनुसंधान तब आवश्यक है जब परंपरा में जागृति का प्रमाण पहुँचता नहीं है। परंपरा में जागृति का प्रमाण नहीं है तो अनुसंधान के अलावा और क्या रास्ता है? जैसे मेरे द्वारा किए गए अनुसंधान की यदि परंपरा नहीं बनती है या इसको परंपरा में स्थापित करने के लिए मानव तैयार नहीं होते हैं, और मैं यदि इसी धरती पर मानव को मदद करना चाहूँगा, तो मैं पुनः अनुसंधान करूँगा ही। ऐसे में अनुभव स्वयं (जीवन) में बना रहेगा, पर उस अनुभव को कल्पनाशीलता द्वारा प्रकट करने के लिए अनुसंधान करना ही होगा। समाधि संयम पूर्वक ही अनुसंधान होगा।

परंपरा में कमी होती है तभी अनुसंधान करने की बात होती है। जिस परंपरा में मैं जन्मा उसमें मुझे कमी लगी, उससे मैं पीड़ित हुआ, फलस्वरूप तीव्र इच्छा से मैंने समाधान को चाहा, तभी मैंने अनुसंधान किया।

यदि परंपरा में जागृति का प्रमाण पहुँचता है तो हमको दुबारा अनुसंधान करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे में पुनः शरीर यात्रा करते समय में जो परंपरा से प्रमाण मिलता है उसको अध्ययन और अभ्यास करने की आवश्यकता है।

प्रश्न : आपने जो यह अनुसंधान किया उसको करने से पहले आप क्या पहले से अनुभव संपन्न ''थे'' या ''नहीं थे''?

उत्तर : इस अनुसंधान को करने से पहले मैं अनुभव संपन्न ''था'' या ''नहीं था'', उसका कोई प्रमाण नहीं है। जिस परिवार परंपरा में मैं पैदा हुआ उसमें भी किसी ने प्रमाण प्रस्तुत किया नहीं। इसीलिए मैं अपने प्रयास को ''अनुसंधान'' कहता हूँ। प्रमाण विहीन कोई बात मैं कर नहीं सकता।

प्रश्न : इसका मतलब क्या यह है परंपरा यदि जागृत न हो तो चाहे उसमें अनुभव संपन्न व्यक्ति हो या न हो, पुनः अनुसंधान करने की आवश्यकता होगी?

उत्तर : हाँ। व्यक्ति कोई जागृति हुआ या नहीं हुआ इसको तब तक कहा नहीं जा सकता जब तक परंपरा में प्रमाण न हो। अनुसंधान करना एक हिम्मत की बात है। सभी कोई व्यक्ति अनुसंधान करेगा नहीं। सभी के लिए सुलभ अध्ययन विधि ही है। इसी आधार पर अब हम ईमानदार के साथ बात कर सकते हैं। इस आधार के बिना ईमानदारी के साथ बात करने का कोई तरीका ही नहीं बनता।

(अक्टूबर 2010, बांदा)

शब्द, अर्थ, वस्तु

प्रश्न : आप अपनी बात भाषा का प्रयोग करके कहते हैं। जिसको मैं सोचता हूँ। लेकिन मेरे सोचने में भी भाषा का पुट तो है फ़िर मेरा 'समझना' कब हुआ?

उत्तर : भाषा संप्रेषित होने या व्यक्त होने के लिए माध्यम है। हर मानव जीवन में उसके अर्थ को तदाकार तद्रूप विधि से समझने का अधिकार रखा हुआ है। समझ की जगह में भाषा नहीं है। समझने में शब्द मुक्ति है। व्यक्त होने के लिए शब्द है। समझ (साक्षात्कार,

बोध, अनुभव) शब्द नहीं है। समझ को शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं।

शब्द के द्वारा हम अर्थ को पहचानते (श्रवण) हैं। अर्थ के द्वारा (मनन या शोध पूर्वक) वस्तु को पहचानते (साक्षात्कार) हैं। वस्तु के साथ हम तदाकार होते हैं। फलस्वरूप समझ में आता है (बोध)। 'तदाकार' होने का अधिकार हर मानव जीवन में रखा हुआ है। यह हर मानव में प्रकृति प्रदत्त विधि से है। इसको मानव को बनाना नहीं है। इसका केवल अध्ययन के लिए प्रयोग करना है।

प्रश्न : आप कहते हैं "समझने में तर्क नहीं है।" इससे क्या आशय है?

उत्तर : साक्षात्कार, बोध, अनुभव, अनुभव प्रमाण बोध, फ़िर चिंतन तक तर्क कुछ भी नहीं है। तर्क लगाते हैं, तो अनुभव को हम नकार दिए, दूर कर दिए। अनुभवमूलक विधि से न्याय, धर्म, सत्य को प्रमाणित करने के लिए जब तुलन में लाये तो वह "तर्क संगत" हो गया। इस तरह असीम ज्ञान को तर्क सीमा में लाना बनता है। यह जीवन में निहित विधि है। जीवन में ही यह विधि है और किसी वस्तु में नहीं है। इस विधि से असीम ज्ञान को संप्रेषित करने के लिए 6 सूत्रों में ले आए नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय, धर्म और सत्य। क्यों ले आए? दूसरों को अध्ययन कराने के लिए। जिससे जागृति की परम्परा बन सके।

समझ को प्रमाणित करने के लिए भौतिक–रासायनिक संसार का कैसे उपयोग करना है, उसके लिए तर्क है। शरीर भी एक भौतिक–रासायनिक रचना है। शरीर का समझ को प्रमाणित करने के लिए कैसे उपयोग करना है उसके लिए तर्क है।

जीवन के साथ कोई तर्क नहीं है। आप सोचते हो, मैं भी सोचता हूँ। इसमें तर्क क्या हुआ?

समाधान के साथ कोई तर्क नहीं है। करके देखिये आप समाधान के साथ तर्क! कुछ तर्क बनता ही नहीं है। समाधान को केवल स्वीकारना और प्रमाणित करना ही बनता है।

व्यर्थ का तर्क कुंठा तक ही ले जाता है।

मध्यस्थ दर्शन मानव के समाधानित होने के लिए अस्तित्व की समझ का प्रस्ताव है। इसको समझने में कोई तर्क नहीं है।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

छोड़ने पकड़ने के झंझट से मुक्ति

भ्रमित मानव में भी वृत्ति में न्याय, धर्म और सत्य की "सहज अपेक्षा" रहती है।

न्याय, धर्म और सत्य का मध्यस्थ दर्शन का प्रस्ताव शब्द के रूप में विचार में पहुँचता है। इससे वृत्ति में जो पहले से "अपेक्षा" थी उसकी पुष्टि हुई।

सह अस्तित्व के प्रस्ताव की सूचना का परिशीलन (मनन प्रक्रिया) करने के लिए चित्त में गए। चित्त में परिशीलन (मनन) करने से सह अस्तित्व साक्षात्कार हुआ।

चित्त में सह अस्तित्व साक्षात्कार होने पर तुंरत ही बुद्धि में न्याय, धर्म और सत्य का बोध होता है। यह क्रम से होता है।

बुद्धि में जब बोध होता है तो स्वतः आत्मा में अनुभव हो जाता है।

आत्मा में अनुभव होने पर बुद्धि में अनुभव प्रमाण बोध होता है। इससे अनुभव को प्रमाणित करने का संकल्प बनता है। अनुभव प्रमाण बोध के आधार पर चिंतन हुआ फलस्वरूप अनुभवमूलक चित्रण

हुआ। वृत्ति अनुभव प्रमाण विधि से संतुष्ट हो गयी फलस्वरूप अनुभवमूलक विश्लेषण हुआ। इस विश्लेषण के अनुरूप मन में मूल्यों का आस्वादन हुआ जिसके लिए आदि काल से मानव प्यासा रहा। मन तृप्त हुआ, फलस्वरूप अपनी तृप्ति को प्रमाणित करने के लिए चयन शुरू किया जिसमें समाधान निहित हुआ, सत्य निहित हुआ, न्याय निहित हुआ। इस तरह न्याय, धर्म और सत्य तीनों प्रमाणित होने लगे!

बुद्धि में अनुभवमूलक संकल्प और मन में अनुभवमूलक चयन, इन दोनों के योगफल में प्रमाण मानव परम्परा में प्रवाहित होता है। अनुभव होने के बाद प्रमाणित होने का हमारा जो प्रवृत्ति बनता है, उसके अनुसार हमारा आचरण मानवीयतापूर्ण बनता है। मानवीयतापूर्ण आचरण बनता है, तो उसके आधार पर मानवीय संविधान बनता है। मानवीय संविधान बनता है तो मानवीय शिक्षा का स्वरूप निकलता है। मानवीय शिक्षा का स्वरूप निकलता है तो मानवीय व्यवस्था का स्वरूप निकलता है। इस तरह अनुभव फैलता चला जाता है।

अनुभव होने के बाद आचरण बनेगा या नहीं? अनुभव होने के बाद में आचरण में न आए ऐसा कोई बाँध नहीं है। अनुभव आचरण में आना ही है!

यह यदि हमको समझ में आता है, इसके प्रति निष्ठा होता है, तो इसको अनुभव करने में क्या तकलीफ है? इसमें आपका क्या नुकसान होता है? क्या आपका घट जाता है, आप ही सोच लो!

इतने को अच्छे से आप अपने में सुदृढ़ बनाओ, यह यदि आपने प्रमाणित करना शुरू कर दिया तो जो होना है, वह हो ही जाएगा। स्वयं में प्रमाणित करना शुरू करते हैं तो उससे जो आगे की प्रक्रिया है वह होगा ही आगे। उसके लिए हमको अलग से कुछ सोचने की ज़रूरत नहीं है। इस तरह छोड़ने पकड़ने का झंझट ही

ख़त्म हो गया! अभी "करो! नहीं करो!" वाले तरीके में "इसको छोड़ो, उसको पकड़ो!" वाला झंझट बना ही था। वह झंझट ही ख़त्म हो गया अब!

समझ के करने जाते हैं तो प्रमाण प्रवाहित होता ही है!

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

मान्यता से साक्षात्कार, बोध, अनुभव; अनुभव प्रमाण ही परम है.

अनुभव के बिना प्रमाण नहीं है। अनुभव की अपेक्षा जीवन में सदा रहता ही है। जीव चेतना में शरीर मूलक क्रियाकलाप होता है। उसमें अनुभव तक पहुँचने का कोई वस्तु रहता नहीं है। हर व्यक्ति प्रिय, हित, लाभ पूर्वक तुलन करता ही है। "यह ठीक हुआ, यह ठीक नहीं हुआ", "यह चाहिए, यह नहीं चाहिए" यह सब हम तुलन करते ही हैं। यह तुलन करते हैं, इसीलिये हमको "मान्यता" के रूप में यह स्वीकार होता है, न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक भी तुलन किया जा सकता है। न्याय, धर्म, सत्य में विश्वास तभी होता है, जब हम इनको प्रमाणित करने लगें।

शब्द के द्वारा "मान्यता" के रूप में जो हम स्वीकारें (श्रवण), उसका स्वयं में परिशीलन (निरीक्षण, परीक्षण अथवा "मनन") होने पर चित्त में साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार के फलन में बोध, बोध के फलन में अनुभव, अनुभव के फलन में अनुभव प्रमाण बोध, जिसके फलन में चिंतन पूर्वक, तुलन पूर्वक हम प्रमाणित करने योग्य हो जाते हैं।

सह अस्तित्व का प्रस्ताव स्मरण में आने के बाद इसको समझना और प्रमाणित करना शेष रहता है। प्रमाण के साथ ही समझ पूरा होता है। अनुभव के बिना समझ पूरा होता नहीं है। अनुभव के बिना प्रमाण नहीं है।

चित्त में चित्रण तक शब्द है। चित्त के बाद अर्थ है। अर्थ के साथ तैनात होने पर हमको तुंरत साक्षात्कार होकर बोध होता है। बोध होने पर तत्काल चित्त में हुए साक्षात्कार की तुष्टि हो जाती है। बुद्धि में ऐसे 'अवधारणा बोध' हो जाने के फलस्वरूप अनुभव हो जाता है। अनुभव के बाद हम कहीं रुकने वाले नहीं हैं। अनुभव दूसरे किसी विधि से होता नहीं है।

आस्था या "मानने" के रूप में हम शुरू करते हैं, अनुभव प्रमाण के आधार पर हम प्रमाणित हो जाते हैं। यह जीवन में होने वाली प्रक्रिया है। यह शरीर में होने वाली प्रक्रिया नहीं है। जीवन में ही संज्ञानशीलता की प्रक्रिया होती है। जीवन और शरीर के संयोग में संवेदनशीलता की प्रक्रिया होती है। सभी 700 करोड़ मानव इसी में गण्य हैं। संज्ञानशीलता पूर्वक ही जीवन तृप्त होता है। तृप्त होने का प्रमाण ही अनुभव है।

अनुभव प्रमाण ही "परम" है। परम का मतलब यह न ज्यादा होता है, न कम होता है। अनुभव के आधार पर हर व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति से हर विधा में (कार्य में, व्यवहार में, व्यवस्था में, आचरण में) संतुष्ट होने की विधि बनी। इस तरह "मानवीय परम्परा" बनती है। मानवीय परम्परा के धारक वाहक हैं शिक्षा, संविधान, आचरण और व्यवस्था।

अनुभव ज्ञान में मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान समाहित है। सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान इन तीनों के संयुक्त स्वरूप में "ज्ञान" है। आचरण जब प्रमाणित होता है तब फल परिणाम ज्ञान के अनुकूल हुआ। आचरण के अनुरूप जब व्यवस्था हुई, तब वह ज्ञान के अनुरूप हुई। इस तरह मानव का मानवत्व सहित व्यवस्था में होना और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करना हुआ।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

गणित आंखों से अधिक और समझ से कम होता है.

मानव किसी भी इकाई को सम्पूर्णता के स्वरूप में समझ सकता है।

समझना आवश्यक है या नहीं? पहले इस बात को तय करना आवश्यक है। इसका उत्तर हर व्यक्ति चाहे ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, विज्ञानी हो के साथ यही आता है, "समझना आवश्यक है।" समझने की आवश्यकता अस्तित्व में केवल मानव को ही है। पत्थर, पेड़ पौधे, जीव जानवर को अस्तित्व के स्वरूप को समझने की आवश्यकता नहीं है। "मानव के लिए अस्तित्व को समझना आवश्यक है" इस सूत्र के आधार पर हम आगे बात करेंगे।

कैसे समझते हैं? इस पर चलते हैं। आंखों से हमको दिखाई देता है। आंखों के सामने जो 180 अंश तक की परिधि में आता है उसको "दृष्टि पाट" कहते हैं। कुल 360 अंश में से अधिकतम 180 अंश ही दृष्टि पाट में आता है। इस तरह आधा दृश्य ही आँखों पर प्रतिबिंबित होता है। इस दृष्टि पाट में हर दृग बिन्दु आकार और आयतन के रूप में आंखों पर प्रतिबिंबित होता है।

"घन" आंखों द्वारा समझ में आता नहीं है। तब हम गणित का सहारा लेते हैं। गणितीय भाषा द्वारा हम घन को भी जान लेते हैं, आकार आयतन की सम्पूर्णता को भी जान लेते हैं। आकार आयतन की सम्पूर्णता घन में ही समझ आती है। घन के आधार पर वस्तुओं को पहचानने के तरीके हम अपना चुके हैं, कार्य व्यवहार में ला चुके हैं। आकार आयतन घन को समझने में मानव समर्थ हुआ है और परम्परा के रूप में स्वीकारा है।

गणित आँखों से अधिक, समझ से कम होता है। गणित सम और विषम गतियों को आंकलित करता है। "मध्यस्थ गति" को गणित छू भी नहीं पाता। जिस तरह आँख से घन को नहीं समझा जा

सकता, उसी तरह गणित से "मध्यस्थ" गति को नहीं समझा जा सकता। "मध्यस्थ" गणित की सीमा से बाहर की बात है। वस्तु का "होना" और "व्यवस्था में बने रहना" उसका मध्यस्थ गुण है जो गणित के वश के बाहर की बात है।

कारणात्मक भाषा के प्रयोग से अध्ययन पूर्वक "मध्यस्थ" मानव को समझ में आता है। पूरा दर्शन "मध्यस्थ दर्शन" है। **मध्यस्थ दर्शन का मतलब है वर्तमान को समझना = अस्तित्व सहज व्यवस्था को समझना।** अस्तित्व में तीन तरह की गतियाँ हैं सम, विषम और मध्यस्थ। जैसे पैदा होना (सम), मर जाना (विषम) और इन दोनों के बीच में "जीना" यह मध्यस्थ है। हर अवस्था में सम, विषम और मध्यस्थ गतियों को पहचाना जा सकता है। किसी अवस्था की मध्यस्थ गति उस अवस्था के "नित्य बने रहने" या "व्यवस्था में रहने" का स्वरूप है। यह मानव को समझ में आता है तो मानव को स्वयं के व्यवस्था में रहने का स्वरूप भी स्पष्ट होता है, बाकी अवस्थाओं के बने रहने का स्वरूप भी स्पष्ट होता है।

यही वह "समझदारी" है, जिसकी सभी मानवों को आवश्यकता है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अध्ययन विधि में अनुभव प्रमाण

दर्शन, वाद, शास्त्र के रूप में जो मैंने वांङमय लिखा है, वह मेरा अनुभवमूलक विधि से किया गया चित्रण है जो आपके लिए सूचना है। सूचना का पठन अध्ययन नहीं है। पठन अध्ययन की पृष्ठभूमि है। जीवन में तदाकार तद्रूप होने का गुण रखा हुआ है। उसके आधार पर अध्ययन विधि में अस्तित्व की वास्तविकताओं के साथ तदाकार होते हैं। वास्तविकताओं से तदाकार होना ही साक्षात्कार है। चित्त में साक्षात्कार होकर बुद्धि में बोध होते तक अध्ययन है।

सह अस्तित्व साक्षात्कार होना। सह अस्तित्व में जीवन साक्षात्कार होना। सह अस्तित्व में मानवीयतापूर्ण आचरण साक्षात्कार होना। अध्ययन से ये तीनों भाग का साक्षात्कार होना हुआ। साक्षात्कार होने के बाद बुद्धि में बोध होना स्वाभाविक है। साक्षात्कार पूर्ण हुआ है इसका प्रमाण है, बुद्धि में बोध होना।

क्रम से साक्षात्कार होकर बोध होता है। साक्षात्कार के साथ साथ बुद्धि में जमा (स्वीकार) होते जाता है। अधूरे को बुद्धि स्वीकारता नहीं है। जब कभी भी बोध होगा पूर्णता के साथ ही होगा। पूर्णता के बारे में आपको बताया गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता, आचरणपूर्णता। जीवन गठनपूर्ण परमाणु के स्वरूप में साक्षात्कार होने के पहले कोई बोध नहीं होगा। सार रूप में गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता, आचरणपूर्णता साक्षात्कार होने के बाद बुद्धि में सह अस्तित्व बोध हो जाता है।

अध्ययन विधि से बोध होना ही "अवधारणा" है। (अवधारणा) बोध होने के बाद (आत्मबोध होना) तत्काल ही आत्मा में अनुभव होता है, उसमें कोई देर नहीं लगती। उसके बाद अनुभवमूलक विधि से बुद्धि में अनुभव प्रमाण बोध, प्रमाण बोध के आधार पर संकल्प, संकल्प के आधार पर चिंतन और चिंतन के आधार पर चित्रण। बोध हुआ तो अध्ययन हुआ। बोध नहीं हुआ तो अध्ययन नहीं हुआ।

अध्ययन तक पुरुषार्थ है। अनुभव के बाद अभ्यास है। अनुभवमूलक अभ्यास का स्वरूप है समाधान समृद्धिपूर्वक जीना। अनुभवमूलक जीने से "अखंड समाज" स्वरूप में अभय, तथा "सार्वभौम व्यवस्था" स्वरूप में सह अस्तित्व प्रमाणित होता है।

अनुभव होने के बाद अनुभव आकाश में जो देखने/समझने का लक्ष्य बनता है, उसको देखा जा सकता है। यह लक्ष्य अनुभव के पहले भी बन सकता है, अनुभव के बाद भी बन सकता है। जैसे मेरा लक्ष्य बना, जीवन परमाणु के अंशों को गिनना, उसके आचरणों को

अलग अलग पहचानना।

मुझे समाधि संयमपूर्वक अनुभव हुआ। संयम के पहले मुझे कोई अनुभव नहीं हुआ। अनुभवगामी विधि (अध्ययन विधि) में समाधि का विकल्पात्मक मार्ग दिये हैं। सीधे सीधे संयम काल में मुझे जो अध्ययन हुआ, वह आपको अध्ययन करा रहे हैं। **यह बात आपको समझ में आता है तो अध्ययन के प्रति आपका गंभीर होना बन जाता है।** समाधि संयम का जो फल मुझे मिला उसको मैं मानव जाति को संप्रेषित कर रहा हूँ।

अनुभव में सम्पूर्ण अस्तित्व आ जाता है। अनुभव के अलावा कुछ बचता ही नहीं है। इस तरह अनुभव के बाद हर व्यक्ति "सर्वज्ञ" हो जाता है। संयत भाषा में कहें तो अनुभवमूलक विधि से मानव न्याय, धर्म, सत्य को प्रमाणित करता है। अनुभव करना, अनुभव कराना हर व्यक्ति का मौलिक अधिकार है।

प्रश्नः अनुभव कराने के लिए क्या करेंगे?

उत्तरः चेतना विकास मूल्य शिक्षा में, से, के लिए अध्ययन के लिए प्रेरणा पायेंगे। अपने जीने में अनुभव प्रमाण को प्रस्तुत करेंगे। प्रेरणा और प्रमाणपूर्वक दूसरे व्यक्ति में अनुभव के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। प्रमाण के बिना प्रेरणा सफल नहीं होता। प्रमाण मानव परम्परा में शरीर के साथ ही होगा। इसलिए शरीर की आवश्यकता है। अकेले जीवन (बिना शरीर के) प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकता। अपने में संतुष्ट जरूर रह सकता है। सह अस्तित्व नित्य प्रभावी है। शरीर भी सह अस्तित्व में तैयार हुआ है। जीवन भी सह अस्तित्व में तैयार हुआ है।

सह अस्तित्व सीमित नहीं है। व्यापक वस्तु सीमित नहीं है। सह अस्तित्व और व्यापक वस्तु का ज्ञान भी सीमित नहीं है। इसमें अनुभव करने के लिए हर व्यक्ति में प्यास है, कुछ में जिज्ञासा है

ऐसा मैं मानता हूँ। इस प्यास और जिज्ञासा को उत्तरित करने के लिए मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन करने का प्रस्ताव है। इस प्रस्ताव की रौशनी में धरती में प्रचलित सभी राज्य और धर्म संविधानों की निरर्थकता समीक्षित हो गयी।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

श्रवण, मनन, साक्षात्कार, बोध, अनुभव, प्रमाण

तुलन या तौलने की बात वृत्ति में रखा हुआ है। भ्रमित स्थिति में न्याय, धर्म और सत्य दृष्टियों से तौलने का "वस्तु" वृत्ति में नहीं रहता। शरीर मूलक दृष्टियों (प्रिय, हित, लाभ) से तौलने पर यह "वस्तु" वृत्ति में आता नहीं है।

सह अस्तित्व प्रस्ताव शब्दों में सुनने (श्रवण) से इतना उपकार हो जाता है सह अस्तित्व "होने" के रूप में स्वीकार हो जाता है। न्याय, धर्म, सत्य "कुछ है", यह स्वीकार हो जाता है (भास होना)। इस आधार पर **स्वयं को जीने में यह जाँचना** शुरू करते हैं कहाँ तक न्याय है? कहाँ तक समाधान है? कहाँ तक सत्य है? इस तरह जब जाँचना शुरू करते हैं, तो शब्द पर्याप्त नहीं होता। यही 'मनन' प्रक्रिया है।

मनन विधि से जिज्ञासा पूर्वक "सत्य" शब्द से सह अस्तित्व जो इंगित है वहाँ हम पहुँच जाते हैं। इस तरह सह अस्तित्व चित्त में चिंतन क्षेत्र में साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार होने पर बुद्धि में बोध होता ही है। बोध होने पर अनुभव होता है। अनुभव होने पर बुद्धि में पुनः अनुभव प्रमाण बोध होता है। अनुभव प्रमाण बोध होने पर बुद्धि चिंतन के लिए "खुराक" प्रस्तुत कर दिया। जिससे अनुभवमूलक विधि से चित्रण होने लगा। जैसे मैं अभी आपकी जिज्ञासा के आधार पर चित्रण कर रहा हूँ! ऐसे अनुभवमूलक चित्रण करने का प्रयोजन है, सामने व्यक्ति को बोध कराना।

जैसे मैंने अनुभवमूलक विधि से चित्रण करते हुए आपके सम्मुख कुछ शब्दों को प्रस्तुत किया। उन शब्दों के अर्थ में जाने की आपकी आवश्यकता या जिज्ञासा बन गयी। जैसे "पानी" एक शब्द है, जिससे मैं कहता हूँ "प्यास बुझती" है। यह सुन कर पानी वस्तु को पहचानने की आपमें जिज्ञासा बन गयी। अब आप पानी वस्तु को अस्तित्व में पहचान सकते हैं, अपनी प्यास बुझा सकते हैं। उसी तरह से "सत्य" एक शब्द है जो सह अस्तित्व स्वरूप में वस्तु है। सह अस्तित्व क्या है? व्यापक में संपृक्त प्रकृति है। सत्ता व्यापक है। प्रकृति एक एक अनंत इकाईयाँ हैं। अनंत स्वरूप में प्रकृति और व्यापक स्वरूप में सत्ता साक्षात्कार होने पर बोध और बोध होने पर अनुभव सिद्ध हो जाता है।

अनुभव सहज प्रमाण है।

बुद्धि में संकल्प स्वयं (जीवन) को प्रमाणित करने की "कुंजी" है। बुद्धि में संकल्प ही प्रमाणित करने की "शक्ति" है। (अनुभव के पश्चात्) अनुभव प्रमाण बोध बुद्धि में होने पर चित्त में चिंतन शुरू होता है। चिंतन ही अनुभवमूलक चित्रण का पृष्ठभूमि है। चित्त में चिंतन क्रिया आवश्यक रहा ताकि वृत्ति संतुष्ट हो सके "यही न्याय है!", "यही धर्म है!", "यही सत्य है!" इस तरह वृत्ति के संतुष्ट होने के लिए आत्मा में अनुभव आवश्यक रहा। इस तरह अनुभवमूलक विधि से वृत्ति में सत्य प्रभावी होने लगा। धर्म प्रभावी होने लगा। न्याय प्रभावी होने लगा। फलस्वरूप संवेदनशीलता से जो क्रियाकलाप होता रहा, वह सब "नियंत्रित" हो गया। संवेदनाओं का यह नियंत्रण स्वयंस्फूर्त हुआ। इसके लिए कोई बाहरी बल नहीं लगाना पड़ा। प्राकृतिक रूप में संवेदनाएं अनुभवमूलक विधि से नियन्त्रित हो जाती हैं। न्याय, धर्म और सत्य मूलक इन विचारों से जो मूल्य स्पष्ट हुए, उनका आस्वादन मन में हो गया। मन में हुए मूल्यों के आस्वादन के अनुसार हम चयन करने लगे। इस तरह स्वयं को प्रमाणित करने के लिए एक तरफ़ बुद्धि में अनुभवमूलक "संकल्प" रहता है, दूसरी ओर

मन में अनुभवमूलक "चयन" रहता है। ये दोनों मिलकर अनुभव प्रमाण की परम्परा बनती है।

इस तरह : शिक्षा विधि से अध्ययन, अध्ययन विधि से बोध, बोध विधि से अनुभव, अनुभव विधि से प्रमाण, अनुभव प्रमाण विधि से बोध व संकल्प, बोध व संकल्प विधि से चिंतन व चित्रण, चिंतन व चित्रण विधि से तुलन व विश्लेषण, अनुभवमूलक तुलन व विश्लेषण के आधार पर आस्वादन और चयन।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

कल्पनाशीलता का तृप्ति बिन्दु

भ्रमित अवस्था में भी मानव में न्याय, धर्म और सत्य "सहज अपेक्षा" है। "न्याय", "धर्म" और "सत्य" शब्द हमारे विचार में हैं। पर "न्याय" क्या है? "धर्म" क्या है? "सत्य" क्या है? इसका उत्तर मिलता नहीं है। फलतः प्रिय, हित, लाभ में हम जीते रहते हैं। वृत्ति को "स्मरण पूर्वक" यह सूचना मिलती है "सह अस्तित्व स्वरूप में सत्य है", "समाधान स्वरूप में धर्म है", "मूल्यों के निर्वाह स्वरूप में न्याय है"। इस सूचना का वृत्ति में परिशीलन (निरीक्षण परीक्षण) अथवा मनन करने पर वृत्ति "उत्सवित" होती है, फलन में चित्त में साक्षात्कार होता है। चित्त के इस प्रकार "उत्सवित" (साक्षात्कार) होने पर बुद्धि में बोध हो जाता है। अध्ययन विधि में ऐसे ही होता है।

मानव की कल्पनाशीलता का तृप्ति बिन्दु सह अस्तित्व में अनुभव ही है।

कल्पनाशीलता की रौशनी के प्रयोग से हम साक्षात्कार पूर्वक बोध संपन्न होने तक पहुँच जाते हैं। बोध संपन्न होने पर अनुभव की रौशनी प्रभावशील हो जाती है। इस ढंग से कल्पनाशीलता की रौशनी

अनुभव की रौशनी में विलय हो जाती है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अनुभव को बताया जा सकता है.

अध्ययन विधि में "सत्ता में संपृक्त प्रकृति" का बोध बुद्धि में ही होता है। अध्ययन करने वाले के चित्त में यह चित्रित नहीं हो पाता। यह बुद्धि में बोध ही हो पाता है।

प्रश्नः चित्रण और बोध में क्या फर्क है?

उत्तरः बुद्धि में जो बोध होता है उसका अनुभवमूलक विधि से प्रमाण प्रस्तुत होता है। और बिना बोध चित्त में जो चित्रण होता है वह प्रमाणित नहीं होता, संवेदना के रूप में व्यक्त हो जाता है। चित्रण और बोध में यही फर्क है।

अध्ययन विधि में ("सत्ता में संपृक्त प्रकृति") का तुलन से सीधा साक्षात्कार, फ़िर बोध ही होता है। इसका (सत्ता में संपृक्त प्रकति का) चित्रण नहीं होता।

चित्त में सह अस्तित्व साक्षात्कार होने पर बुद्धि में बोध ही होता है। बोध होने के बाद (अनुभव के पश्चात्) अनुभवमूलक विधि से पुनः "प्रमाण बोध" बुद्धि में होता है। प्रमाण बोध को प्रमाणित करने का "संकल्प" होता है। संकल्प होने से उसका चित्त में चिंतन होता है जो फ़िर चित्रित होता है। इस तरह जब अनुभव संपन्न व्यक्ति में चित्रण होता है तो वह जीने में अनुभव को प्रमाणित करने का आधार बनता है, तथा दूसरे व्यक्ति में बोध कराने का स्त्रोत बनता है। इस तरह "सत्ता में संपृक्त प्रकृति" को अनुभव संपन्न व्यक्ति चित्रित करना संभव है। यदि यह चित्रण करना सम्भव नहीं होता तो अनुभव को जीने में प्रमाणित करने का और दूसरे व्यक्ति को अध्ययन विधि से बोध कराने का कोई तरीका ही नहीं होता।

विगत मे कहा गया था "अनुभव को बताया नहीं जा सकता।" मैं यहाँ कह रहा हूँ अनुभव को बताया जा सकता है। यदि शानदारी से बताने की कोई चीज है तो वह अनुभव ही है। इन दोनों में कितना दूरी है, आप ही सोच लो!

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

संकट मुक्ति

जीवन अपने स्वरूप में एक गठनपूर्ण परमाणु है। इसके पाँच स्तर हैं मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा। जीवन इन पाँचों का अविभाज्य स्वरूप है। भ्रमित मानव में जीवन की साढ़े चार क्रियाएं ही क्रियाशील रहती हैं, शेष क्रियाएं सुप्त रहती हैं। साढ़े चार क्रियाएं जो क्रियाशील रहती हैं उसी से मानव में कल्पनाशीलता प्रगट है। आशा, विचार और इच्छा का संयुक्त स्वरूप कल्पनाशीलता है। भ्रमित जीवन में विचार (वृत्ति) प्रिय, हित, लाभ दृष्टियों से कार्य करता है। भ्रमित जीवन में इच्छा (चित्त) में केवल चित्रण क्रियाशील रहता है, चिंतन सुप्त रहता है।

चिंतन भाग जीवन में तब तक सुप्त रहता है जब तक अनुभव प्रमाण आत्मा में न हो! अनुभव प्रमाण के बिना चिंतन की "खुराक" ही नहीं है।

वृत्ति में जब हम प्रिय, हित, लाभ दृष्टियों से ही तुलन करते हैं तो वह चिंतन में जाता नहीं है। प्रिय, हित, लाभ पूर्वक तुलन करके हम शरीर मूलक चित्रण तक ही पहुँचते हैं। शरीर मूलक बात को चित्रण से आगे बढ़ाया नहीं जा सकता। उसमें चिंतन की कोई वस्तु नहीं है। उसमें केवल संवेदना है और संवेदना को राजी रखने की प्रवृत्ति है। इसी को "संवेदनशीलता" कहा है। इसको "वेदना" इसलिए कहा क्योंकि संवेदनाओं में सुख "भासता" है ("सुख जैसा लगता है") पर उसकी निरंतरता नहीं बनती। यह "कष्ट" भ्रमित

जीवन में बना रहता है।

भ्रमित मानव का यह "कष्ट" उसके जीवन में अतृप्ति के कारण है। भ्रमित जीवन में अतृप्ति की रेखा चिंतन और चित्रण के बीच बनी है। भ्रमित जीवन जब जीता है, तो उसको समस्याएं ही समस्याएं आती हैं। भ्रमित जीवन को जीने में समाधान नहीं मिलता। **समस्याओं के बिगाड़ का संकेत चित्रण में आता ही है। वही मानव के लिए "संकट" है। जैसे धरती बीमार हो गयी, बिगाड़ का यह संकेत मानव के चित्रण में आता ही है।** इस संकट से मुक्ति और भ्रमित कार्य करने से तो नहीं मिल सकती।

इस संकट से मुक्ति तभी सम्भव है जब मानव साढ़े चार क्रिया (जीव चेतना) के स्थान पर दस क्रिया (मानव चेतना) पूर्वक जिए। उसके लिए ही मध्यस्थ दर्शन सह अस्तित्ववाद के अध्ययन का प्रस्ताव है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

भ्रमित जीवन में बुद्धि बोध की अपेक्षा में रहती है.

भ्रमित मानव के जीवन में जो बुद्धि है वह "भ्रमित" नहीं होती। भ्रमित जीवन में बुद्धि बोध की "अपेक्षा" में रहती है।

भ्रमित अवस्था में भी बुद्धि चित्त में होने वाले चित्रण का दृष्टा बना रहता है। जीव चेतना में होने वाले सभी चित्रणों को बुद्धि देखता रहता है। लेकिन इस "भ्रमित चित्रण" को बुद्धि स्वीकारता नहीं है। बुद्धि जो भ्रमित चित्रणों को स्वीकारता नहीं है वही "पीड़ा" है। सर्व मानव में जो "पीड़ा" है, उसका मूल यही है।

जीव चेतना में जीने वाले मानव के जीवन में कल्पनाशीलता प्रिय, हित, लाभ के अर्थ में क्रियाशील रहता है। प्रिय, हित, लाभ पूर्वक जो चित्रण होते हैं, उनको बुद्धि स्वीकारता नहीं है। इस

अस्वीकृति से इतना ही निकलता है "यह ठीक नहीं है!" पर "ठीक क्या है?" इसका उत्तर नहीं मिलता, **क्योंकि बुद्धि में बोध नहीं रहता।** मानव प्रिय, हित, लाभ की सीमा में जो भी करता है, वह चित्रण से आगे जाता नहीं है (साढ़े चार क्रिया में सीमित रहता है)। बुद्धि ऐसे भ्रमित चित्रणों का दृष्टा बना रहता है। **भ्रमित अवस्था में बुद्धि का दृष्टि चित्रण की तरफ़ रहता है और आत्मा से प्रामाणिकता की अपेक्षा में रहता है। प्रमाणिकता न होने से जीवन में रिक्तता या अतृप्ति बना ही रहता है।**

प्रश्नः तो इसका मतलब भ्रमित अवस्था में "मेरी" बुद्धि संकेत तो करती है "यह ठीक नहीं है!" लेकिन वह मेरी तृप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि "ठीक क्या है?" इसका उत्तर मेरे पास नहीं रहता। क्या यह सही है?

उत्तरः हाँ, यह सही है। "यह ठीक नहीं है!" ऐसा अनेक लोगों को लगता है। लेकिन ठीक क्या है, सही क्या है? **यह स्वयं में "अधिकार" नहीं रहता है।** उसके लिए क्यों प्रयास नहीं करते? जब आपको लगता है, यह ठीक नहीं है तो सहीपन के लिए आप क्यों प्रयास नहीं करते? इस जगह में सभी को प्राण संकट है।

बुद्धि द्वारा चित्त में होने वाले चित्रणों को देखने का काम सदा रहता है, सबके पास रहता है। बुद्धि के इस दृष्टा बने रहने से हम यह तो निर्णय ले पाते हैं, कि हम किसी "मान्यता" को लेकर चल रहे हैं। लेकिन असलीयत का अधिकार स्वयं में न होने के कारण हम परम्परा को निभाते रहते हैं। यही "हठ धर्मीयता" है।

भ्रमित जीवन में बुद्धि जो बोध की अपेक्षा में रहती है, उसकी तृप्ति सह अस्तित्व में "अध्ययन" पूर्वक ही सम्भव है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अनुभव, प्रमाण

अनुभव होने के बाद मानवीयतापूर्ण आचरण होता ही है। मानवीयतापूर्ण आचरण का स्वरूप है मूल्य, चरित्र और नैतिकता। आचरण के साथ समाधान और समाधान के साथ समृद्धि होती है। **आचरण से या जीने से ही यह स्पष्ट होता है वस्तु बोध हुआ कि नहीं?**

व्यवहार में यदि किसी से मानवीयतापूर्ण आचरण मिलता है तो उसमें शंका करने की क्या जरूरत है? मानवीयतापूर्ण आचरण, समाधान, समृद्धि को कोई व्यक्ति प्रमाणित करता है मतलब वह जागृत है। जैसे कल आप ही कहोगे कि "हम समझ गए"। अब उस पर अविश्वास करने की कोई बात ही नहीं है। विश्वास के अलावा और कुछ नहीं करना बनता जब तक आप से उसके विपरीत बात का संकेत नहीं मिलता। आप जो कह रहे हो आपके अनुसार वह ठीक है। यदि आगे चल कर पता चलता है अभी नहीं समझे, तो उसको अध्ययन पूर्वक पूरा कर ही सकते हैं। इस तरह कोई दबाव खिंचाव है ही नहीं!

इस धरती पर अनुभव पहले किसी को नहीं हुआ यह मैंने नहीं कहा है।

अनुभव प्रमाणित नहीं हुआ, जागृति का परम्परा नहीं बना यह जोर से कहा है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

अनुभव प्रमाण की आवश्यकता

में उस दिन तृप्त हो जाऊँगा जिस दिन मुझको पता चलेगा कि दस बीस आदमी प्रमाणित हो गए। मुझको इससे ज्यादा कुछ नहीं चाहिए। यही चाहिए! उसी के लिए मेरा सारा प्रयास है, मेरी

सारी सोच उसी के लिए है, मेरा जीना उसी के लिए है।

प्रश्न : मैं सोचता हूँ, अनुभव तक हम यदि नहीं पहुँचते हैं तो क्या करेंगे?

उत्तर : "नहीं पहुँचेंगे" को क्यों सोचते हो? "कैसे पहुँचे?" उसको सोचो! नहीं पहुँचने पर तो वही अपराध परंपरा में रहेंगे। अभी इस धरती को छोड़ करके इस सौर व्यूह में और कोई ग्रह नहीं है जहाँ "मानव" बन कर जी पाए। अभी तक इस धरती पर भी मनुष्य पशु मानव और राक्षस मानव के स्वरूप में ही रहा है। यदि मंगल ग्रह पर भी जा कर रहने लगते हैं तो भी पशु मानव राक्षस मानव बन कर ही रहेंगे।

पशु मानव और राक्षस मानव की लड़ाइयों की ही गाथाएं हैं, हमारे इतिहास में। रहस्यमय देवी देवताओं के गाने गाये, उनको "विशेष" मान कर उनकी भाटगिरी को ही विद्वत्ता माने हैं। जबकि हमारी विधि से मानव ही समझदारी पूर्वक देवता स्वरूप में होता है।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

अध्ययन, अभ्यास, प्रबोधन

अध्ययन करके भी यदि जागृति क्रम में ही रहना है तो अध्ययन का मतलब क्या हुआ? यह भी एक सोचने का विषय है। अध्ययन का मतलब है जागृति संपन्न होना। जागृति संपन्न होने के बाद प्रमाण होता ही है। प्रमाणित होने की इच्छा सभी मानवों में रखा हुआ ही है। गरीब अमीर, ज्ञानी, अज्ञानी, विज्ञानी सभी में प्रमाणित होने की इच्छा रखा है। अभी जीव चेतना में सकल कुकर्मों को करने को प्रमाणित होना मानते हैं।

अभ्यास है जो समझा है उसको प्रमाणित करना। सुनने मात्र से हम अभ्यासी हो गए, ऐसा कुछ नहीं होता है। अध्ययन के बाद

प्रमाणित करने के लिए जो परिश्रम है उसको अभ्यास नाम दिया। बोध होने तक अध्ययन है बोध (अवधारणा) होने के अनंतर अनुभव होता है। अनुभव से पहले अध्ययन ही अभ्यास है। अनुभव तक पुरुषार्थ है, उसके बाद परमार्थ है। अनुभव के बाद स्वाभाविक रूप में अभ्यास होता है जैसे हम सांस लेते हैं, दिल धड़कता है, पलकें झपकती हैं वैसे ही स्वाभाविक रूप में व्यवहार और कार्य प्रमाणित होना बनता है। जैसे मैं अभी प्रमाणित होने में कौन सा पसीना बहा रहा हूँ? केवल सुख का अनुभव करता हूँ। मुझमें अनुभवमूलक विधि से समाधान बना रहता है और समाधान के अर्थ में ही मैं बात करता हूँ। सार्थकता के लिए बात करने से सुख नहीं तो और क्या होगा? ''प्रबोधन'' उसी का नाम है। समाधान सबकी जरूरत है, ऐसा मान करके मैं प्रबोधित करता हूँ। आप उसको कैसे स्वीकारते हैं, वह आपके अधिकार की बात है।

(जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन, अक्टूबर 2005 ,मसूरी)

साक्षात्कार होने में अड़चन

साक्षात्कार होने पर अनुभव होता ही है। अनुमान में हमको टिकना पड़ता है। तदाकार होने पर अनुमान में टिकना होता है। तदाकार होने के लिए हर मानव में कल्पनाशीलता पूंजी के रूप में है। अपनी पूंजी को ही उपयोग करना है। इसमें उधारबाजी कुछ नहीं है! साक्षात्कार में अनुमान पक्का होता है। उससे पहले अनुमान पक्का नहीं होता, गलती होने की सम्भावना बनी रहती है।

सह अस्तित्व साक्षात्कार होना है। उसके लिए चारों अवस्थाओं के बारे में स्पष्ट होना है और कुछ भी नहीं है। शब्द से इंगित अर्थ स्वरूप में वस्तु को पहचानना है।

इसमें देर लगने का पहला कारण है तर्क! कल्पनाशीलता को तर्क में न फंसा कर वस्तु से तदाकार होने में लगाने से

साक्षात्कार हो जाता है।

देर लगने का दूसरा कारण है पिछला जो पढ़ा है (पूर्वाग्रह), उसके साथ जोड़ने का प्रयास करना।

देर लगने का तीसरा कारण है पहले से जो जीये हैं तौर तरीके, मान्यता (पूर्वाभ्यास) और नए प्रस्तावित में मेल न होना।

अध्ययन (शोध) पूर्वक सह अस्तित्व के लिए (मनन विधि से) अनुमान बन ही जाता है। साक्षात्कार, बोध में अनुमान पक्का होता है। जिसके फलस्वरूप अनुभव होता ही है। अनुभव में विस्तार नहीं होता। अनुभव को प्रमाणित करने जाते हैं तो रेशा–रेशा स्पष्ट होता जाता है। हम पहले रेशे–रेशे के बारे में स्पष्ट होना चाहें तो उसमें अटक जाते हैं। अनुभव के बाद जैसा जिज्ञासा होता है, हम वैसे व्यक्त हो जाते हैं।

(अप्रैल 2010, अमरकटंक)

साक्षात्कार, बोध अनुभव, प्रमाण

प्रश्न : साक्षात्कार क्या है?

उत्तर : अनुभवगामी (अध्ययन) विधि में शब्द के अर्थ में जो वस्तु है, उसके स्वरूप में चित्त तदाकार हो जाता है उसको साक्षात्कार कहा है। शब्द के अर्थ स्वरूप में (बोध) साक्षात्कार होता है। क्रमिक रूप से साक्षात्कार होकर बोध होता है, जो पूर्ण होने पर अनुभव होता है।

प्रश्न : बोध और अनुभव की स्थिति में क्या अंतर है?

उत्तर : (अवधारणा) बोध में स्वीकृति की दृढ़ता (परिपुष्ट अनुमान, निश्चयात्मक स्वीकृति, अर्थ के प्रति दृढ़ता) बनती है, जो अनुभव में निश्चित हो जाती है।

प्रश्न : क्या अनुभव से पहले निश्चयता नहीं है?

उत्तर : नहीं। प्रमाणित होने की योग्यता आने पर ही निश्चयता आती है।

प्रश्न : अनुभव में क्या निश्चित होता है?

उत्तर : अनुभव में यह निश्चित होता है ''हमने जो अध्ययनपूर्वक सह अस्तित्व साक्षात्कार किया था, वह सही है।'' अनुभव पूर्वक प्रमाणित होने की हिम्मत बन जाती है, उसमें कोई भी शंका शेष नहीं रह जाती है। जो सह अस्तित्व साक्षात्कार हुआ, उसी के सार रूप में बोध और उसी (बोध) के सार रूप में अनुभव होता है।

सत्ता में संपृक्त प्रकृति चार अवस्थाओं के रूप में होने की सम्पूर्णता हमें अनुभव में आती है। जिससे मनुष्येतर प्रकृति के साथ नियम, नियंत्रण, संतुलनपूर्वक जीना आ जाता है और मानव प्रकृति के साथ न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक जीना आ जाता है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

तदाकार होने की स्थिति

उत्तर : मैंने समाधि संयम में जो देखा वह आपके पास सूचना है। सूचना होना भर आपके लिए पर्याप्त नहीं है। इस सूचना से आपको तदाकार होने तक जाना है। तदाकार होने पर आपको वही दिखेगा जो मुझे दिखा, 'देखने' का मतलब 'समझना' है। अनुभव की रौशनी में स्मरण पूर्वक प्रयत्न करने से हम तदाकार होने की स्थिति में पहुँचते हैं। पठन (श्रवण) के बाद 'मनन' विधि में यह होता है। 'मनन प्रक्रिया' में न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि ये तुलन होता है। 'वस्तु' का शोध होता है, स्व निरीक्षण होता है, मानवीयतापूर्ण आचरण के अनुकरण में जीते हैं। 'मनन' में/द्वारा हमारी प्राथमिकता स्थिर होता है इच्छा, विचार, आशा; न्याय, धर्म, सत्य रूपी वांछित वस्तु में संयत

17_samvaad_part2_2013_c

होते हैं। इसके पश्चात् 'श्रवण' के सार में चित्त, वृत्ति केन्द्रिकृत होना / होता है। इस विधि से हमारा प्राथमिकता होने से 'तदाकार' के स्थिति तक पहुँच जाते हैं।

कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता हर व्यक्ति में पूंजी के रूप में रखा है। यह हर व्यक्ति में अध्ययन करने का स्त्रोत है। इससे ज्यादा क्या गारंटी दी जाए?

मैंने एक मिट्टी से लेकर मानव तक त्व सहित व्यवस्था में रहने के स्वरूप का अध्ययन किया। व्यवस्था में होने का प्रवृत्ति एक परमाणु अंश में भी है, इस बात का मैं अध्ययन किया हूँ। तदाकार विधि से आप अध्ययन करेंगे तो आप को भी वैसे ही दिखेगा। इसके लिए कोई यंत्र काम नहीं आएगा, कोई किताब काम नहीं आएगा केवल जीवन ही काम आएगा। **जीवन की प्यास अस्तित्व सहज वास्तविकताओं में तदाकार होने पर ही बुझती है।**

तदाकार तक पहुँचाना ही अध्ययन की मूल चेष्टा है।

शब्द से अर्थ की ओर ध्यान देने से अर्थ के स्वरूप में अस्तित्व में जो वस्तु है उसके साथ तदाकार होना बनता ही है। उसके बाद तद्रूप होना (प्रमाणित होना) स्वाभाविक है। अर्थ अस्तित्व में वस्तु के स्वरूप में साक्षात्कार होने तक पुरुषार्थ है। उसके बाद बोध और अनुभव अपने आप होता है। साक्षात्कार के बाद बुद्धि में बोध, बुद्धि में 'आत्म बोध' होने पर आत्मा में अनुभव तुंरत ही होता है। उसमें देर नहीं लगती। बुद्धि में 'अवधारणा बोध' अथवा 'अध्ययन बोध' के अनंतर ही अनुभव होता है।

तदाकार होने की स्थिति में जब हम पहुँचते हैं तो हमको स्पष्ट होता हैः

वस्तु, वस्तु का प्रयोजन और वस्तु के साथ हमारा

संबंध। यह हर वस्तु के साथ होना है। इसमें कोई भी कड़ी छूटा तो वह केवल शब्द ही सुना है। इस संवाद में जो सबसे प्रबल प्रस्ताव है, वह यही है।

तदाकार होने की स्थिति केवल अध्ययन से आता है। तद्रूप विधि से प्रमाण आता है यह अनुभव के बाद होता है।

तदाकार तद्रूप होने की स्थिति ही "दृष्टा पद" है।

इससे पहले (मध्यस्थ दर्शन के प्रगटन से पहले) भक्ति में तदाकार तद्रूप की बात की गयी है। जैसे नारद भक्ति सूत्र में। और कहीं तदाकार तद्रूप की बात नहीं है। उसमें ईष्ट देवता के साथ तदाकार तद्रूप होने की बात कही गयी है। उसके लिए नवधा भक्ति सूत्र दिया गया। कौन उन नौ सीढ़ियों को पार कर पाया, उसका कोई प्रमाण परम्परा में आया नहीं।

यहाँ (मध्यस्थ दर्शन में) कह रहे हैं अस्तित्व में सभी वस्तुएं (वास्तविकताएं) हैं। वस्तु को पहचानना ज्ञान है। उसमें तदाकार होना भक्ति है। ज्ञान के बिना भक्ति होता नहीं है।

अस्तित्व सहज नियमों को पहचानने पर तदाकार तद्रूप स्वरूप में जीने की अर्हता बन ही जाता है। समझदारी के लिए सूचना है। सूचना के बाद अध्ययन है। अध्ययनपूर्वक हम अनुभवमूलक विधि से जीने के लिए तैयार हो जाते हैं।

सही जीने का कोई स्वरूप हो, उस ढंग से हम जीना शुरू कर देते हैं, तो उस ढंग से विचारने की ओर भी जाते हैं। सही जीने का स्वरूप वही व्यक्ति होगा जो सही को समझा होगा। सही जीने का स्वरूप है समाधान समृद्धिपूर्वक जीना। समझे हुए (अनुभव संपन्न जागृत मानव चेतना) व्यक्ति के जीने के स्वरूप का हम अनुकरण अनुसरण करते हैं, उसके साथ शब्द को सुनते हैं, शब्द से अर्थ की

ओर जाते हैं। अनुकरण अनुसरण करना अध्ययन के लिए प्रेरणा है। अर्थ की ओर जाने पर उसके स्वरूप में अस्तित्व में वस्तु से तदाकार होने का प्रवृत्ति जीवन में रहता ही है। यही 'मनन' प्रक्रिया है। तदाकार होने पर साक्षात्कार हो गया, बोध हो गया, अनुभव हो गया। अनुभव होने पर हम तद्रूप हो गए। तद्रूपता प्रमाण है।

प्रश्नः प्रमाण रूप में जीने का क्या अर्थ है?

उत्तरः प्रमाण रूप में जीना अर्थात् हर मोड़ मुद्दे पर समाधानित जीना। श्रमपूर्वक अपने परिवार की आवश्यकताओं से अधिक उत्पादन कर लेना। शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति इन तीन के अलावा भौतिक वस्तुओं का और कहीं नियोजन ही नहीं है। मानवीयता विधि से भौतिक वस्तुओं के सदुपयोग की सीमा यहीं तक है।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

तदाकार तद्रूप

प्राप्त का अनुभव और प्राप्य का सान्निध्य होता है। सत्ता (व्यापक) हमको "प्राप्त" है उसका हमको अनुभव करना है। सभी मानव संबंध और मानवेतर संबंध हमको "प्राप्य" हैं उनको हम तदाकार विधि से समझते हैं और तद्रूपता विधि से प्रमाणित करते हैं। जैसे आपकी माता के साथ आपका संबंध है। इस संबंध को आप तदाकार विधि से समझते हैं। समझने के बाद "न्याय प्रमाणित करना है" यही निर्णय करना बनता है। फ़िर उस संबंध को आप तद्रूपता विधि से प्रमाणित करते हैं। उसी तरह व्यवस्था संबंधों को भी तदाकार तद्रूपता विधि से प्रमाणित करते हैं। उसी तरह उपकार करने में भी तदाकार तद्रूप विधि से प्रमाणित होते हैं। तदाकार तद्रूप विधि के अलावा स्वयं को प्रमाणित करने का दूसरा कोई विधि हो ही नहीं सकता।

प्रश्न : तदाकार तद्रूप नहीं हो पा रहे हैं तो क्या करें?

उत्तर : उसके कारण को खोजना पड़ेगा। **यदि अपनी कल्पनाशीलता को हम अमानवीय कृत्यों में जीव चेतना विधि से प्रयोग करते हैं तो उससे छूट नहीं पाते हैं। इस तरह सुविधा संग्रह बलवती हो जाता है, समाधान समृद्धि लक्ष्य की प्राथमिकता नीचे चली जाती है।** यदि समाधान समृद्धि लक्ष्य प्राथमिक बनता है, तो बाकी सब उसके नीचे चला जाता है। समाधान समृद्धि में जब हम पारंगत हो जाते हैं, तो बाकी सब उसमें घुल जाता है। समस्याएं समाधान में विलय हो जाती हैं। उनका कोई अवशेष नहीं बचता। सारा अज्ञान ज्ञान में विलय हो जाता है।

ज्ञान के पक्ष में हम सभी हैं। ज्ञान क्या है उसको स्वीकारने का साहस मानव में है। **जीव चेतना को हम पकड़े रहे और हमको ज्ञान हो जाए, यह हो नहीं सकता।** मानव चेतना में जीव चेतना विलय होता है।

मानव में जीवन सहज विधि से तदाकार तद्रूप होने की विधि है। जैसे अभी रूप, पद, धन और बल के साथ तदाकार तद्रूप है ही मानव। सच्चाई के साथ तदाकार तद्रूप होना शेष रह गया। सच्चाई क्या है? उसके लिए मध्यस्थ दर्शन का प्रस्ताव आपके अध्ययन के लिए प्रस्तुत है। सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान परम सत्य है। सह अस्तित्व में जीवन ज्ञान परम सत्य है। सह अस्तित्व में ही जीवन है। सह अस्तित्व से परे कुछ भी नहीं है। जीवन ही ज्ञान का धारक वाहक है। सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान ये तीनों के मिलने से ज्ञान हुआ।

सत्य (व्यापक वस्तु) हमको प्राप्त है। प्राप्त का हमको अनुभव करना है। अनुभव के लिए अध्ययन आवश्यक है।

तदाकार तद्रूप होना ही अनुभव है। अनुभव उससे अलग

नहीं है।

प्रश्नः अभी प्रचलित शिक्षा में जो हम पढ़ते हैं, उसकी विधि क्या इससे अलग है?

उत्तरः आज जो प्रचलित शिक्षा में पढ़ा रहे हैं वह इस सह अस्तित्व ज्ञान से कोसों दूर है। अभी की शिक्षा से जो हम अपराध सीखते हैं और करते हैं वह भी तदाकार तद्रूप विधि से ही करते हैं। **इस तरह अवैध को वैध मानने से जीने में गलतियाँ होती हैं।** गलतियाँ समस्याओं को जनित करती हैं। समस्याएं पीड़ा को जनित करती है। यही पीड़ा फ़िर "वैध" की आवश्यकता को स्वयं में जनित करती है। संवेदनशीलता से होने वाली मदद इतना ही है। संवेदनशीलतापूर्वक होने वाली पीड़ा संज्ञानीयता की आवश्यकता को स्वयं में बना देती है।

मध्यस्थ दर्शन के अध्ययनपूर्वक हम संज्ञानीयता तक पहुँचते हैं। संज्ञानीयता में फ़िर संवेदनाएं नियंत्रित हो जाती हैं। इससे अच्छा क्या हो सकता है आप ही बताओ? इसमें किसी का आक्षेप नहीं है। आक्षेप होता तो प्रतिशोध होता। सुधार होता है तो आक्षेप कहाँ है?

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

अध्ययन विधि

हमको निष्कर्ष पर पहुँचना है कि नहीं पहले इसको तय किया जाए! व्यवस्था चाहिए तो निष्कर्ष पर पहुँचना आवश्यक है।

समाधान कोई शर्त नहीं है। व्यवस्था कोई शर्त नहीं है। सुख कोई शर्त नहीं है। अभय कोई शर्त नहीं है। सह अस्तित्व कोई शर्त नहीं है। समाधान, व्यवस्था, सुख, अभय, सह अस्तित्व ये सब शर्त विहीन है।

अपनी शर्त लगाने से कोई बात स्पष्ट नहीं होता। **"हम**

हमारे तरीके से समझेंगे!" यह भी एक शर्त है। शर्त लगाते हैं, तो रुक जाते हैं। वस्तु जैसा है, वैसा समझने की जिज्ञासा करने से वस्तु स्पष्ट होता है। शर्त लगाने से ही हम रुकते हैं। शर्त नहीं लगाते, तो हम रुकते नहीं हैं। शर्त न हो और हम रुक जाएँ ऐसा हो नहीं सकता! समझने के लिए हम अपनी शर्त नहीं लगाते तो हमारे पास तदाकार तद्रूप होने के लिए जो कल्पनाशीलता है, वह नियोजित हो जाती है। शर्त लगाते हैं तो कल्पनाशीलता नियोजित नहीं हो पाती।

कल्पनाशीलता द्वारा सच्चाई रुपी अर्थ को स्वीकार (साक्षात्कार) लेना ही "तदाकार होना" है। अर्थ को समझते हैं, तो शरीर गौण हो गया जीवन प्राथमिक हो गया। तदाकार होने के बाद ही बोध होता है। **अस्तित्व चार अवस्थाओं के स्वरूप में है। इनके साथ अपने "सही से जीने" के स्वरूप को स्वीकारना ही बोध है।** बोध होने के बाद ही अनुभव होता है। अनुभव सच्चाई का प्रमाण होता है। अनुभव पूर्वक यह निश्चयन होता है कि "पूरी बात को मैं प्रमाणित कर सकता हूँ"। इसको अनुभवमूलक बोध कहा। जिसके फलस्वरूप चित्त में चिंतन होता है। जिसका फिर चित्रण होता है। चित्रण पुनः वृत्ति और मन द्वारा शरीर के साथ जुड़ता है संबंधों में जागृति को प्रमाणित करने के लिए। इस तरह अनुभव जीवन में, प्रमाण मनुष्य में।

पहले सूचना के लिए जिज्ञासा (श्रवण) है। फिर सूचना से इंगित अर्थ के लिए जिज्ञासा है (मनन प्रक्रिया में इच्छा–विचार–आशा, न्याय, धर्म, सत्य रूपी वस्तु में संयत होना)। फिर अर्थ में तदाकार होने (साक्षात्कार बोध) के लिए जिज्ञासा है (मनन विधि में श्रवण के सारभूत भाग में चित्त–वृत्ति केन्द्रिभूत होना)। उसके बाद प्रमाणित होने के लिए जिज्ञासा है। जिज्ञासा के ये चार स्तर हैं।

समझाने वाला समझा हुआ होना और समझाने के तरीके से संपन्न होना, और समझने वाले के पास सुनने से लेकर साक्षात्कार करने तक की जिज्ञासा होना इन दो बातों की आवश्यकता है। इन दोनों के बिना संवाद सफल नहीं होता।

आपका ''लक्ष्य'' क्या है और आपके पास उस लक्ष्य को पाने के लिए ''पूंजी'' क्या है ये दोनों पहले स्पष्ट होना आवश्यक है।

यदि आपको स्वीकार होता है कि आपका लक्ष्य ''सार्वभौम व्यवस्था'' है और उस लक्ष्य को पाने के लिए आपके पास ''कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता'' पूंजी रूप में है तो अपने लक्ष्य को पाने के लिए यह पूरा प्रस्ताव ठीक है या नहीं, उसको शोध करना! आपको अपने लक्ष्य के लिए इस प्रस्ताव की आवश्यकता है या नहीं यह तय करना। फिर उस लक्ष्य के अर्थ में जब आप जीने लगते हैं, तो बहुत सारी बातें स्पष्ट होती जाती हैं।

सार्वभौम व्यवस्था के लिए जीने का हम रास्ता बनाते हैं, तो सार्वभौम व्यवस्था के लिए सोचने का रास्ता बन जाता है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

सूचना, तदाकार तद्रूप, प्रमाण

''व्यापक प्रकृति में पारगामी है'' यह सूत्र सार्वभौम व्यवस्था तक पहुँचाता है। इस आधार पर मैंने स्वीकारा यह सही है!

अनुभव के आधार पर मैं दावे के साथ कहता हूँ ''सह अस्तित्व परम सत्य है।'' फिर भी हर व्यक्ति अपने में स्वतन्त्र है, यह कहने कहने के लिए कि ''सत्य और कुछ है''।

''जाने हुए को मान लो, माने हुए को जान लो'' प्रताड़ना और

कुंठा से मुक्ति के लिए।

प्रश्न : अध्ययन विधि में ''मानने'' की क्या भूमिका है?

उत्तर : पहले हम मानते ही हैं कि यह ''सच बात'' है। सूचना को पहले ''मानना'' होता है, उसके बाद ''जानना'' होता है। जीने से ही ''जानने'' की बात प्रमाणित होती है। प्रमाणित करने के लिए जीने के अलावा और कोई विधि नहीं है। प्रमाण स्वरूप में जीना ही समाधान है।

प्रयोजन ही अर्थ है। जो सूचना दिया, उसके प्रयोजन या अर्थ के साथ तदाकार होना। यदि प्रयोजन के साथ तदाकार नहीं होते, तो सूचना भर रहा गया।

सूचना के आधार पर तदाकार तद्रूप विधि से पारंगत होने पर अनुभव होता है। अनुभव सर्वतोमुखी समाधान का स्त्रोत है। आपके पास इस प्रस्ताव की सूचना है, इस सूचना में तदाकार तद्रूप होने की सम्पदा आपके पास है उसका उपयोग करो! **भाषा, अर्थ और सच्चाई इन तीनों को एक सूत्र में लाने की कोशिश करो, बात बन जायेगी!**

कल्पनाशीलता तदाकार होने के लिए वस्तु है। आपमें कल्पनाशीलता है या नहीं उसका शोध करो! कल्पनाशीलता में तदाकार होने का गुण है।

इस बात में प्रश्न/सवाल तो एक भी नहीं है। समझना चाहते हैं, समझाना चाहते हैं इतना ही है। **हम जितना समझे हैं, उतना समझाते हैं तो आगे और समझ आता जाता है। समझना चाहते हैं, तो समझ आता है। नहीं समझना चाहते, तो नहीं समझ में आता।**

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

कल्पनाशीलता, साक्षात्कार, बोध

अध्ययनपूर्वक जागृति के लिए क्रमिक रूप से सच्चाईयों का साक्षात्कार हो कर बोध होता है। यह आशा, विचार और इच्छा की ''स्पष्ट गति'' है। स्पष्ट गति का अर्थ है कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में भी स्वतन्त्र। साक्षात्कार बोध का यह क्रम सह अस्तित्व में पूर्ण होता है। **सह अस्तित्व में साक्षात्कार बोध पूर्ण होने का अर्थ है मानव चारों अवस्थाओं के साथ अपने आचरण को क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता के रूप में निश्चित कर पाता है।** साक्षात्कार बोध (अवधारणा) पूर्ण होने के फलस्वरूप आत्मा में अनुभव होता है।

प्रश्न : साक्षात्कार की वस्तु क्या है?

उत्तर : साक्षात्कार की वस्तु है सह अस्तित्व, सह अस्तित्व में विकास क्रम, सह अस्तित्व में विकास, सह अस्तित्व में जागृति क्रम और सह अस्तित्व में जागृति। इतना पाँच सूत्र साक्षात्कार हो कर बोध होने के फलस्वरूप अनुभव होता है। रूप, गुण, स्वभाव, धर्म का साक्षात्कार होता है। स्वभाव धर्म का बुद्धि में बोध होता है। अनुभव में केवल धर्म और सत्य जाता है। इस विधि से सूत्रित होता है।

प्रश्न : क्या मूल्यों (अट्ठारह संबंध मूल्य) का साक्षात्कार और बोध होता है?

उत्तर : (अट्ठारह संबंध) मूल्य गुणों में गण्य हैं। जागृति क्रम और जागृति के साक्षात्कार में मूल्यों की समझ बीज रूप में रहती है। अनुभव में सब कुछ बीज रूप में ही रहता है। अभिव्यक्ति, सम्प्रेषणा और प्रकाशन क्रम में वह विस्तृत होता है। संक्षिप्त होकर अनुभव होता है। विस्तृत होकर प्रमाण होता है। अनुभव के बाद मानव की कल्पनाशीलता अनुभवमूलक हो जाता है। अनुभव की रौशनी में हर बात को स्पष्ट करने का अधिकार बन जाता है। बीज रूप में ''होना''

समझ में आ जाता है। ''रहना'' उस समझ की व्याख्या है।

प्रश्न : क्या मूल्य मानव जीवन में ''स्वभाव'' नहीं हैं?

उत्तर : स्वभाव अनुभव और मूल्यों का संयुक्त रूप है। स्वभाव के एक ओर अनुभव का सार है, दूसरी तरफ प्रकाशित होने के लिए मूल्य हैं। अध्ययन क्रम में मूल्यों को लेकर सूचना स्वीकार हो जाता है और वही संक्षिप्त होकर अनुभव में बीज रूप में अवस्थित होता है।

प्रश्न : साक्षात्कार क्रमिक रूप से होता है, क्या बोध भी क्रमिक रूप से होता है?

उत्तर : हाँ। साक्षात्कार होकर बुद्धि में बोध जमा होता है। अनुभवगामी (अध्ययन) विधि में बुद्धि में बोध को 'अवधारणा' कहा है। यही 'प्रतीति' है।

प्रश्न : अध्ययन क्रम में रहते हुए स्वयं की गणना जीव चेतना में की जाए या मानव चेतना में की जाए?

उत्तर : अध्ययन क्रम में जीव चेतना से छूटने की स्वीकृति और मानव चेतना को अपनाने की स्वीकृति हो जाती है। यह उस बीच की स्थिति है।

प्रश्न : क्रमिक रूप में साक्षात्कार होते हुए, मुझे किन पक्षों का साक्षात्कार हो चुका है और किनका नहीं हुआ है इसकी पहचान कैसे की जाए?

उत्तर : अनुभव से पहले उसका कुछ निश्चित (प्रमाण) रूप में पता नहीं चलता। अनुभव के बाद प्रमाणित कर पाए या नहीं कर पाए उससे पता चलता है। प्रमाणित कर पाए तो अनुभव किये हैं, प्रमाणित नहीं कर पाए तो अनुभव नहीं किये हैं। इसमें कोई छिपाव दुराव नहीं है। चारों अवस्थाओं के साथ प्रमाणित होने के लिए

अनुभव आवश्यक है। अनुभव स्थिति में सूत्र है, जीने में व्याख्या है। साक्षात्कार कल्पनाशीलता में गुणात्मक विकास है। कल्पनाशीलता का साधन हर व्यक्ति के पास है, जिसका उपयोग करने की आवश्यकता है।

(सितम्बर 2009, अमरकंटक)

व्यंजना और अनुभव

प्रश्न : ''व्यंजना'' से क्या आशय है?

उत्तर : हर मानव में, हर आयु में कल्पनाशीलता है। कल्पनाशीलता में जो कुछ भी आकार आता है, वह व्यंजना है। वही साक्षात्कार होने का आधार बनता है। हर शब्द का अर्थ होता है, अर्थ के स्वरूप में जो वस्तु है उसका आकार यदि कल्पना में आ गया तो व्यंजित हो गया (भास, आभास) उस पर विश्वास हो गया तो साक्षात्कार हो गया। व्यंजना का अधिकार चित्त में चित्रण (एवम् साक्षात्कार) करने के रूप में है, बुद्धि में बोध करने के रूप में है और आत्मा में अनुभव करने के रूप में है।

प्रश्न : अनुभव क्या है?

उत्तर : अनुक्रम से होने वाले उदय को अनुभव नाम दिया है। सह अस्तित्व में चारों अवस्थाएं कैसे उदय हुई हैं इसको जानना, मानना, पहचानना और निर्वाह करना इसका नाम है अनुभव। ये चारों बात (जानना, मानना, पहचानना और निर्वाह करना) आता है तो अनुभव है, अन्यथा नहीं है। अनुभव ही मूल्य अनुभूति का अधिकार है, जिसको व्यक्त करना क्रम से होता है। मूल्य अनुभूति का कोई क्रम नहीं है। अनुभव में सभी मूल्य समाया है।

प्रश्न : ''अनुभव से अधिक उदय ही अनुमान है'' इससे क्या आशय है?

उत्तर : न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक जीना मेरे अनुभव में है। मैं ऐसा जी ही सकता हूँ, साथ में मैं अनुमान करता हूँ सभी मेरे जैसे न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक जी सकते हैं। इस तरह अनुमान अनुभव से अधिक हुआ या नहीं ?

(नवम्बर 2009, अछोटी)

अनुभव, और प्रमाण

प्रश्न : बोध और अनुभव में क्या दूरी है?

उत्तर : दूरी कुछ नहीं है। बोध होने के बाद अनुभव होता ही है। **क्रमिक रूप से साक्षात्कार हो कर बोध होता है। साक्षात्कार बोध क्रम में अनुकरण रूप में आचरण संयत होने लगता है।** बुद्धि में ''अवधारणा बोध'' के अनंतर अनुभव होता है।

यह सब सत्ता में संपृत्त प्रकृति के रूप में होता है, हो रहा है, और होता ही रहेगा यह अनुभव की महिमा है अनुभव के बिना ऐसा कहना बनता नहीं है। अनुभव से ही प्रमाण होता है। अनुभव का ही प्रमाण होता है। अनुभवमूलक विधि से जीने पर हम प्रमाण के अधिकारी बनते हैं, जिससे न्याय, धर्म, सत्य जीने में प्रमाणित होता है।

प्रमाणित होने की सीमा है अध्ययन से लेकर अनुभव तक। प्रमाणित होने का मतलब है दूसरे को अपने जैसे समझा देना। इसी तरह अनुभव एक से अनेक में अंतरित होता है। यदि अनुभव एक से दूसरे में अंतरित नहीं हो सकता तो ऐसे अनुभव का मतलब ही क्या है? दूसरे व्यक्ति में हमारे अध्ययन कराने से अनुभव होने पर हम प्रमाणित हुए।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

अनुमान, अनुक्रम, अनुभव

अनुमान से अनुभव तक पहुँचते हैं। अनुभव होता है, तो अनुमान सही है। अनुभव नहीं होता, तो अनुमान सही नहीं है। अनुमान करने की ताकत कल्पनाशीलता के स्वरूप में हर व्यक्ति के पास है। उसके सहारे अनुभव तक पहुँच सकते हैं। जीने में जो प्रमाणित हो सके, वह अनुमान सही है। जीना प्रमाण ही होता है, अनुमान नहीं होता। जीने के अलावा और किसी चीज को प्रमाण कैसे माना जाए? ''मैं प्रमाणित स्वरूप में जी रहा हूँ'' इस जगह आपको आना है।

अनुक्रम से अनुभव होता है। जो कुछ भी होना हुआ है और जो कुछ भी होना है वह अनुक्रम है। अनुक्रम का अर्थ है एक से एक जुड़ी हुई श्रृंखला विधि। इस विधि को पूरा समझने से अनुमान होता है। सर्वप्रथम, मनन पूर्वक ''अनुमान'' उसके पश्चात्, साक्षात्कार बोध पूर्वक ''परिपुष्ट'' अनुमान यही ''अवधारणा''। ''अवधारणा ही अनुमान की पराकाष्ठा एवम् अनुभव के लिए उन्मुखता है। अवधारणा के अनंतर ही अनुभव होता है''। अनुमान होने के बाद अनुभव होता है। अनुभव होने के बाद प्रयोजन सिद्ध होता है, प्रमाण होता है। मानव के सुधरने के लिए, सुसज्जित होने के लिए यही विधि है।

अध्ययन में यदि मन लगता है तो अनुभव हो जाएगा।

अध्ययन में मन नहीं लगता है तो अनुभव नहीं होगा।

अनुभव के पहले प्रमाण नहीं है। अनुभव के पहले अनुकरण अनुसरण विधि से ''अच्छा लगने'' की स्थिति में आ जाते हैं, ''अच्छा होना'' नहीं होता । केवल अनुसरण अनुकरण पर्याप्त नहीं है। जीने में प्रमाणित होने पर ही ''अच्छा होना'' होता है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

अनुभव

अनुभव व्यापक में सम्पृक्तता, व्यापक में संपृक्त जड़ चैतन्य प्रकृति का होता है। अकेले व्यापक नहीं है। अनुभव करने वाला नहीं हो तो व्यापक कहाँ/किसको समझ में आता है? अनुभव करने वाले के साथ में ही अनुभव होता है। अनुभव करने वाला व्यापक में ही है। अनुभव करने वाला अपने से अधिक का अनुभव करता है, समानता और कम को पहचानता (दर्शन करता) है। समान और समान से कम के साथ व्यवहार और कार्य होता है। समान से अधिक के साथ अनुभव ही होता है।

अनुभव स्थिति में होता है। अनुभव का प्रमाण व्यवहार में संबंधों में प्रमाणित होता है।

हम अनुभव को प्रस्तुत नहीं करते हैं। अनुभव हुआ, इसका प्रमाण जीने में प्रस्तुत करते हैं।

अनुभव शाश्वतीयता के अर्थ में है।अनुक्रम से होने के अर्थ में है। एक से एक जुड़ कर होने के रूप में है। इसका नाम है सह अस्तित्व। सह अस्तित्व में जड़ प्रकृति होना अनुक्रम है। अनुक्रम होने से अनुप्राणित रहना हुआ। सम्पृक्ततावश अनुप्राणित रहना होता है। अनुप्राणित रहने से चार स्वरूप में व्यक्त हो गया विकास क्रम, विकास, जागृति क्रम, जागृति।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

आत्म ज्ञान

प्रश्न : आत्मा का दृष्टा कौन है?

उत्तर : सह अस्तित्व विधि से ही आत्म ज्ञान होता है। दूसरी किसी विधि से आत्म ज्ञान होना ही नहीं है। सह अस्तित्व में ही

जीवन ज्ञान है, सह अस्तित्व में ही आत्म ज्ञान है। जीवन में आत्मा अविभाज्य है। जीवन से आत्मा को अलग करने योग्य कोई भौतिक रासायनिक ताकत नहीं है।

अनुभव आत्मा में होता है, इसलिए आत्मा सह अस्तित्व में दृष्टा है। अनुभव के बारे में बताया मन वृत्ति में, वृत्ति चित्त में, चित्त बुद्धि में, बुद्धि आत्मा में और आत्मा सह अस्तित्व में अनुभूत होता है। अनुभवमूलक विधि से आत्मा बुद्धि का दृष्टा है, बुद्धि चित्त का दृष्टा है, चित्त वृत्ति का दृष्टा है, वृत्ति मन का दृष्टा है और मन संसार का दृष्टा है।

''आत्मा का दृष्टा कौन है?'' इसको सोचने में अतिव्याप्ति दोष है। आत्मा का दृष्टा वास्तव में कोई होता नहीं है। ''आत्मा का दृष्टा सह अस्तित्व है'', ऐसा तर्क में कहा जा सकता है, लेकिन तात्विक रूप में यही कहना उचित है ''आत्मा सह अस्तित्व में दृष्टा है।'' साक्षात्कार के पहले खूब तर्क है। साक्षात्कार के बाद बोध, अनुभव, अनुभव प्रमाण बोध और चिंतन में कोई तर्क नहीं है। चिंतन के बाद फिर तर्क है (प्रमाणित करने के क्रम में)।
(अगस्त 2010, सरदारशहर, राजस्थान)

अध्ययन के लिए ध्यान, प्राथमिकता

अनुभव के बिना स्वयम् को विद्वान मानना ही गलत हो गया। देखिये मैं पढ़ा लिखा नहीं हूँ, यदि मुझे यह बोध हो सकता है तो आपको क्यों नहीं हो सकता? आप पढ़े हो, लिखे हो, सब कुछ किये हो यह मान कर ही तो मैंने इसे अध्ययन के लिए प्रस्तुत किया है। यदि मैं यह मानता मनुष्य समझ ही नहीं सकता, तो यह प्रयास ही क्यों करते? मनुष्य समझने वाली वस्तु है और मनुष्य के पास समझने की प्यास है ऐसा मान करके इसे व्यक्त किया है। ''मनुष्य में समझने की प्यास है'' यहाँ तक तो प्रचलित है। **लेकिन प्यास को बुझाने में आनाकानी करते हैं, व्यक्त करने में लग जाते हैं,**

अनुभव बिंदु तक पहुँचने को भूल जाते हैं। सबको समझना ही होगा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। समझने के बाद ही प्रमाण है, प्रमाण सर्वतोमुखी है। अनुभव से सर्वतोमुखी समाधान आता है, फिर कौन सी जगह है फंसने की? अनुभव हर व्यक्ति का अधिकार है। यदि आप अनुभव करते हैं, तो आप हमारे जैसे या हमसे अच्छे ही होंगे। मैं कम से कम अच्छे होने का प्रमाण प्रस्तुत किया हूँ। अधिक से अधिक अच्छे होने का प्रमाण प्रस्तुत करने की जगह आपके लिए रखा ही है। मेरा सभी प्रमाण मानव चेतना का है। देव चेतना और दिव्य चेतना के प्रमाण प्रस्तुत करने का स्थान रखा ही है।

हमारा कहना सूचना है। ''आप हमसे अच्छे हो सकते हैं'' यह भी सूचना है। हमारा जीना ही प्रमाण है। सूचना के बिना अनुभव तक पहुँचने का कोई रास्ता नहीं है। सूचना तो मिलना चाहिए सहीपन के लिए। सहीपन को व्यक्त करने के पक्ष में काफी लोग सहमत हो गए हैं। सहीपन को अनुभव करने के पक्ष में कम लोग हैं। कुछ लोग सहीपन को अनुभव करने के लिए भी जुड़े हैं।

प्रश्न : कभी कभी ऐसा लगता है कि अनुभव के लिए जो शेष प्रयास आवश्यक है, उनके लिए कुछ ध्यान विधियों की आवश्यकता है...

उत्तर : अध्ययन करना ही ध्यान है। अध्ययन करने में ध्यान नहीं है, इसीलिये अनुभव में जाते नहीं हैं। पठन में ध्यान है, अध्ययन में ध्यान नहीं है। सत्ता निर्विकार स्वरूप में रहता है। सारी जड़ चैतन्य प्रकृति संपृक्त स्वरूप में रहता है। यही अनुभव होता है।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

निर्भीकता से अध्ययन

"पठन विधि" और "अध्ययन विधि" के भेद को समझने की ज़रूरत है।

"पठन विधि" में भय प्रलोभन हमारी परिकल्पना में स्थापित रहता है। प्रलोभन (हमको जो अच्छा लगा) के पक्ष में जो पठन है, उसको स्वीकार लेता है बाकी को नकार देता है। अध्ययन विधि में भय प्रलोभन आता नहीं है। अभी जैसे अपना ही उदाहरण लें आप हमारे संयोग में हम डांट फटकार के साथ भी चले हैं, प्यार पुचकार से भी चले हैं। क्या आपको कोई भय प्रलोभन हुआ? "आपको चाहिए नहीं चाहिए?", "आप समझे नहीं समझे?" इन्हीं दो खाकों में मेरी सारी प्रस्तुति है। इसी अर्थ में मेरा सारा तर्क है।

प्रचलित विज्ञान का तर्क नकारात्मक खूंटे से बंधा रहता है। ईश्वरवाद का तर्क रहस्य के खूंटे से बंधा रहता है। यहाँ तर्क सकारात्मक खूंटे से बंधा रहता है। सकारात्मक खूंटे से बांधे बिना आप कोई निश्चित जगह पहुँच भी नहीं सकते।

इसलिए यहाँ पहला परिशीलन यही है "आपको जागृत होना है या भ्रमित ही रहना है?" मानव जाति जागृति को नकार नहीं पाता है।

फ़िर मानव के तीन स्तर बताये (1) चार विषय (आहार, निद्रा, भय और मैथुन), (2) पाँच संवेदनाएं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) और (3) न्याय, धर्म, सत्य। इनमें से आप किस स्तर पर जीना चाहते हैं? यह पूछा। इसका उत्तर "न्याय, धर्म, सत्य में जागृत होना है।" यही निकलता है। जागृति के पहले दो खाके "जागृति क्रम" में गण्य हैं। तीसरा खाका न्याय, धर्म, सत्य का "जागृति" में गण्य है। जागृति प्रमाणित होने के तीन स्तर हैं मानव चेतना, देव चेतना और दिव्य चेतना।

यह तर्क व्यवहार संगत नहीं है यह कहना बनता नहीं है। यह तर्क समझ (ज्ञान, विवेक, विज्ञान) के विरुद्ध है यह भी कहना बनता नहीं है। यह तर्क नियति विरोधी है, तृप्ति दायक नहीं है यह भी कहना बनता नहीं है। यह तर्क "व्यवहार प्रमाण" में न्याय और

समृद्धि से जुड़ता है। "विचार प्रमाण" में समाधान से जुड़ता है। "अनुभव प्रमाण" में सत्य से जुड़ता है।

कुल मिलाकर मानव में जागृति की सहज अपेक्षा पर मध्यस्थ दर्शन का सारा तर्क जुड़ा हुआ है। जागृति की अपेक्षा मानव में आदि काल से है। "हर व्यक्ति समझदार हो सकता है।" यहाँ से यह बात शुरू है। यही इस प्रस्तुति का आधार है।

संवाद, प्रबोधन और परिशीलन पूर्वक हम 'अध्ययन कक्ष' में पहुँचते हैं। 'अध्ययन कक्ष' में पहुँचना, मतलब वस्तु के प्रति निर्भीक रूप में कल्पनाशीलता को दौड़ाना। उसके बाद न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि से तुलन होना। यही 'मनन' है, शोध है। उसके बाद साक्षात्कार होना।

अपनी कल्पना में वस्तु के प्रति जो आप पहले से परिकल्पना बना रखे हैं, उसके आधार पर तुलन नहीं करना है। यदि पूर्व स्मृतियों और परिकल्पनाओं के आधार पर तुलन करते हैं तो वह "अच्छा लगने" के आधार पर ही होता है। विगत की सभी स्मृतियों और परिकल्पनाओं के आधार पर तुलन में भय और प्रलोभन के प्रति विवशता रहती ही है। यह प्रस्ताव "अच्छा लगने" के स्थान पर "अच्छा होने" के लिए है। "अच्छा होने" के लिए भय और प्रलोभन से मुक्त हो कर तुलन करने की आवश्यकता है।

धैर्य से, सार्थकता की चोटी से बाँध कर हर कदम रखा जाए। आतुरता करते हैं, तो वह "प्रयोग" ही हुआ। **धैर्य से चलते हैं, तो "पद्धति" है। अब आगे की ज़िंदगी में हमें प्रयोग नहीं करने हैं, पद्धति पर चलना है। हर व्यक्ति को शोध पूर्वक पद्धति के साथ पैर रखना है।**

प्रश्नः "प्रयोग" और "पद्धति" में क्या अंतर है?

उत्तरः प्रयोग होता है अज्ञात को ज्ञात करने के लिए और

अप्राप्त को प्राप्त करने के लिए। परम्परा में जो प्रावधानित नहीं है तब प्रयोग या अनुसंधान करने की आवश्यकता होती है।

"प्राप्ति" को लेकर हम देखते हैं सामान्याकांक्षा (आहार, आवास, अलंकार) और महत्वाकांक्षा (दूरश्रवण, दूरदर्शन और दूरगमन) संबंधी सभी वस्तुएं मानव को प्रयोग पूर्वक प्राप्त हो चुकी हैं। ये सभी मनाकार को साकार करने के रूप में हैं। अप्राप्ति को लेकर अब जो प्रयोग हैं वे व्यापार को बुलंद करने के लिए ही हैं। और कोई प्रयोग धरती पर शेष नहीं रह गया। अप्राप्त को प्राप्त करने का कोई खाका अब शेष बचा नहीं है।

अज्ञात को ज्ञात करने का पक्ष अभी तक खाली रहा है। अज्ञात को ज्ञात करना मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने के अर्थ में है। उसके लिए ही मध्यस्थ दर्शन का अध्ययन करने के लिए प्रस्ताव है। **अध्ययन करना कोई प्रयोग नहीं है। अध्ययन एक निश्चित पद्धति है।** इस प्रस्ताव के अध्ययन करने के बाद यदि आप पाते हैं यह पूरा नहीं पड़ता, तो पुनः 'प्रयोग' (अनुसंधान) किया जाए!

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

भाषा एवं स्वीकृति में अंतर

न्याय, धर्म, सत्य के साथ प्रिय, हित, लाभ को तोलना नहीं बनता। न्याय, धर्म, सत्य में प्रिय, हित, लाभ का विलय होता है। प्रिय, हित, लाभ के विलय होने तक अध्ययन है। (अध्ययन = साक्षात्कार बोध)। जब विलय हो जाता है तब अनुभव है।

अनुभव के पहले न्याय, धर्म, सत्य **भाषा** के रूप में रहता है, लेकिन **जीना** प्रिय, हित, लाभ में ही बना रहता है। ''न्याय, धर्म, सत्य ठीक है'' ऐसा भाषा के रूप में आ जाता है, पर वह ''स्वीकृति'' नहीं है। स्वीकृति प्रिय, हित, लाभ की ही रहती है। ''सूचना'' हो जाना ''स्वीकृति'' नहीं है।

अभी लोग अपनी अनुकूलता (अच्छा लगने) के अनुसार समझने की इच्छा व्यक्त करते हैं। सच्चाई को समझने की इच्छा का रंग ही कुछ और होता है। **अपनी अनुकूलता के अनुसार समझने की इच्छा से प्रयास करते हैं तो एक व्यक्ति कुछ समझ लेता है, दूसरा व्यक्ति कुछ और समझ लेता है। सच्चाई जैसा है वैसा समझने का प्रयास करते हैं तो आप जैसा समझते हैं, वैसा ही मैं भी समझता हूँ। सच्चाई अच्छा लगने और बुरा लगने की जगह में नहीं है।**

''मुझे जीव चेतना में नहीं जीना है, मानव चेतना में ही जीना है'' जब यह निश्चय होता है, तब सच्चाई को समझने की इच्छा से प्रयास होता है। मानव ने अभी तक जीवों से अच्छा जीना चाहा है, कुछ मायनों में जीवों से अच्छा जिया भी है, पर जीव चेतना को छोड़ा नहीं है। इसी जगह में मानव जाति कराह रहा है।

(अनुभव शिविर, जनवरी 2012, अमरकंटक)

जिज्ञासा, मनन, अध्ययन (बोध)

भ्रमित अवस्था में भी बुद्धि चित्त में होने वाले चित्रणों का दृष्टा बना रहता है। मध्यस्थ दर्शन के अस्तित्व सहज प्रस्ताव का चित्रण जब चित्त में होता है, तो बुद्धि उससे "सहमत" होती है। यही कारण है इस प्रस्ताव को सुनने से "रोमांचकता" होती है। रोमांचकता का मतलब यह नहीं है "कुछ बोध हो गया!" इस रोमांचकता से "तृप्ति" नहीं है।

प्रश्न : तृप्ति के लिए फ़िर क्या किया जाए?

उत्तर : **प्रिय, हित, लाभ पूर्वक जो हम तुलन करते हैं, वहाँ न्याय, धर्म, सत्य को प्रधान माना जाए।** न्याय, धर्म, सत्य की "चाहत" भ्रमित मानव में भी बनी ही है। एक भी क्षण ऐसा नहीं है जब हम न्याय, धर्म, सत्य को नहीं चाहते हों! हर व्यक्ति के मानस

पटल पर न्याय, धर्म, सत्य की चाहत है। इस प्रस्ताव को सुनने के बाद, उसके आधार पर हम "जिज्ञासा" शुरू करते हैं, यह कहाँ तक न्याय है? कहाँ तक समाधान है? कितना हम सच्चाई को समझे है और प्रमाणित कर रहे हैं। "न्याय", "धर्म", "सत्य" शब्दों से हम में सहमति है। न्याय क्या है? धर्म क्या है? सत्य क्या है? यह जिज्ञासा है। यह जिज्ञासा स्वयं में शुरू होने पर अंततोगत्वा हमारी प्राथमिकता न्याय, धर्म और सत्य के लिए स्थिर हो जाती है। **यही 'मनन' प्रक्रिया है। न्याय, धर्म, सत्य; इच्छा, विचार, आशा में "स्थिर" होना ही मनन है। 'अर्थ' के लिए कल्पनाशीलता केन्द्रीयकृत करना ही 'मनन' है।**

प्रश्नः यह जिज्ञासा कैसे काम करती है?

उत्तरः हम जहाँ भी रहते हैं, वहाँ सोचते हैं ही। **वहीं हम "स्वयं की जाँच" शुरू कर देते हैं** न्याय सोच रहे हैं या अन्याय सोच रहे हैं। यह जाँच होने पर न्याय, धर्म और सत्य की प्राथमिकता को हम स्वयं में स्वीकार लेते हैं। यह प्राथमिकता स्वीकार लेने के बाद हम न्याय क्या है अन्याय क्या है? धर्म क्या है? अधर्म क्या है? सत्य क्या है? असत्य क्या है? इस "शोध" में लगते हैं।

इस शोध (मनन) के फलस्वरूप हम इन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।

(1) सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व ही "परम सत्य" है।

(2) सर्वतोमुखी समाधान ही "धर्म" है।

(3) मूल्यों का निर्वाह ही "न्याय" है।

इन तीन निष्कर्ष पर आने पर तत्काल साक्षात्कार हो कर बुद्धि में बोध (अवधारणा) होता है। बुद्धि में जब यह स्वीकार (न्याय, धर्म, सत्य बोध) हो जाता है तो 'आत्म बोध' होकर यह तुरंत अनुभव

में आ जाता है। सह अस्तित्व में अनुभव हो जाता है।

बोध तक अध्ययन है। उसके बाद अनुभव स्वतः होता है।

इसके बाद अनुभवमूलक विधि से बुद्धि में अनुभव प्रमाण बोध होने लगता है। प्रमाण बोध जब बुद्धि में आता है तो हमारा आचरण "मानवीयतापूर्ण" होने लगता है। आप ही बताओ इसको में ज्ञान मानू या और किसी चीज को मानूं?

विगत में कहा गया था सत्य समाधि में समझ में आता है। मध्यस्थ दर्शन के अनुसंधान से निकला "जिज्ञासा पूर्वक हम सत्य बोध होने की जगह में सीधे चले जाते हैं।"

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

उपयोग विधि, कार्य विधि, होने का विधि + सुनना, सोचना, समझना

चारों अवस्थाओं (पदार्थ अवस्था, प्राण अवस्था, जीव अवस्था और ज्ञान अवस्था) का "उपयोग" विधि अलग है, "कार्य" विधि अलग है, "होने" का विधि अलग है। उपयोग विधि और कार्य विधि (रूप–गुण) चित्त से चित्रण तक ही रहता है। "होने" की जो बात है (स्वभाव धर्म) वह साक्षात्कार, बोध, अनुभव तक जाता है। "होने" का अनुभव अर्थात् अस्तित्व का अनुभव मानव को ही होता है। मानवेतर संसार में उपयोग तक पहचान निर्वाह तक रहता है।

इस पर आप खूब सोचना। **अपने में सोचना पड़ेगा इसको। यह भाषा की सीमा में नहीं बैठता, यह अपने में सोचने से अर्थ स्वरूप में ही बैठता है।**

प्रश्नः आज की स्थिति में मुझे आशा, विचार और इच्छा तक तो स्वयं में कुछ कुछ समझ में आता है। साक्षात्कार, बोध और

अनुभव समझ में नहीं आता। अब क्या करें?

उत्तरः सिलसिले से चलेंगे तो सब पकड़ में आ जायेगा। हम हर दिन जीते ही हैं। जीने में प्रयोजित करने की बात है। ध्यान देने की बात है। मानव ही ध्यान दे सकता है। किताब ध्यान नहीं दे सकती। किताब से सुनने तक पहुँच जाते हैं। सुनने (श्रवण) के बाद सोचने (मनन) का जो भाग है वह किताब नहीं है। "सोच" हर व्यक्ति में समाहित है। सोच विचार के साथ जब हम जुड़ते हैं, तो किताब पीछे छूट गये। सोच विचार से हम उपयोगिता, सदुपयोगिता और प्रयोजनशीलता तक पहुँच गए। उपकार के साथ ही हम प्रयोजनशील हैं, यह समझ में आता है। यही 'मनन' प्रक्रिया है, जिसमें न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि से तुलन होता है। इसमें हमारा इच्छा, विचार, आशा 'न्याय, धर्म, सत्य' में स्थिर होना होता है। मनन विधि में न्याय, धर्म, सत्य का काम पूरा होने से हम साक्षात्कार के जगह में पहुँच जाते हैं।

अनुक्रम से पूरे चीज को हमने देख लिया, समझ लिया, प्रमाणित करने योग्य हुए इसका नाम है अनुभव। "मैं प्रमाणित होने योग्य हूँ" इस जगह में नहीं आए, मतलब अनुभव हुआ नहीं है।

समझने की तीन स्थितियाँ हैं : साक्षात्कार, बोध और अनुभव। पुरुषार्थ का ज़ोर साक्षात्कार तक पहुँचने के लिए है। साक्षात्कार के बाद बोध और अनुभव के लिए कोई पुरुषार्थ का ज़ोर नहीं है।

साक्षात्कार तक पहुँचने में उतना ही समय लगता है, जितना हम उलझन में रहते हैं। शब्द का जब तक पुट रहता है तब तक साक्षात्कार नहीं हुआ। जैसे पानी को आप देखते हो। पानी कौन सा शब्द है? पानी तो वस्तु ही है, जो अपनी वास्तविकता को व्यक्त करता है। उसी तरह हर वस्तु वास्तविकता के साथ है (न्याय, धर्म, सत्य)। जीवन भी एक वास्तविकता है। जीवन कोई शब्द नहीं है। मानव एक वास्तविकता है। मानव संबंधों के साथ जीना होता है।

संबंधों के नाम से संबोधन होता है।

वास्तविकताओं के "होने" का साक्षात्कार होता है। वस्तुओं को पहचानने के लिए हम नाम देते हैं। नाम के मूल में जो वस्तु है उसको पहचानने का काम ही अध्ययन है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

मानव लक्ष्य के अर्थ में स्व निरीक्षण

स्व निरीक्षण विधि से ही हम निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं, दूसरे किसी विधि से नहीं। कितना भी प्रयत्न करो, दूसरे विधि से निकलेगा नहीं! **स्व निरीक्षण की ओर ध्यान नहीं जाना ही भूल है।** चार विषय और पाँच संवेदनाएं शरीर सापेक्ष हैं। जीवन के लिए शरीर ''पर'' (पराया) है। शरीरमूलक सोच पर सापेक्ष है, स्व सापेक्ष नहीं है। स्व निरीक्षण से पता चलता है ज्ञान जीवन का है। ज्ञान के किसी न किसी स्तर को प्रमाणित करता हुआ ही मनुष्य मिलेगा। ज्ञान न हो, ऐसा कोई जीवित आदमी आपको मिलेगा नहीं। जीवन ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। **सह अस्तित्व ज्ञान हुए बिना जीवन ज्ञान होता नहीं है।** अभी तक तो हुआ नहीं है। सारे लोगों ने बहुत सर कूट लिया, साधना कर लिया, यज्ञ कर लिया, तप कर लिया, योग कर लिया... मनुष्य ने क्या नहीं किया? पर उस सबसे जीवन ज्ञान नहीं हुआ।

चारों अवस्थाओं के साथ सत्तामयता को संयुक्त रूप में अनुभव किये बिना जीवन ज्ञान हो ही नहीं सकता। जीवन ज्ञान होने से पहले मानव चेतना का शुरुआत ही नहीं होगा।

स्व निरीक्षण विधि से सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान तक पहुँचते हैं। सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान होने के बाद स्व स्वरूप ज्ञान होता है। स्व स्वरूप ज्ञान ही जीवन ज्ञान है। फलस्वरूप ऊर्जा सम्पन्नता का

ज्ञान होता है। जड़ प्रकृति में ऊर्जा सम्पन्नता है, चैतन्य प्रकृति में ज्ञान सम्पन्नता है यह ज्ञान होता है। यह दोनों स्पष्ट होता है, तो उसके अनुरूप जीने के लिए तत्परता होती है, तो मानवीयता पूर्ण आचरण की शुरुआत हो गयी। व्यवस्था में जीना शुरू हो गया।

स्व निरीक्षण पूर्वक जीवन दृष्टा पद प्रतिष्ठा को पाता है। दृष्टा पद प्रतिष्ठा में पहुँचते हैं तो स्व निरीक्षण हुआ। दृष्टा पद प्रतिष्ठा में नहीं पहुँचे तो स्व निरीक्षण नहीं हुआ। दृष्टा पद प्रतिष्ठा स्व निरीक्षण का प्रमाण है। दृष्टा पद प्रतिष्ठा पूर्वक सह अस्तित्व समझ में आता है। चारों अवस्थाओं के साथ मानव का होना समझ में आता है। मानव का शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में होना समझ में आता है। शरीर का महत्व और जीवन का महत्व समझ में आता है। शरीर मानव परंपरा के रूप में है। जीवन का महत्व शाश्वत रूप में है। इसी आधार पर प्रतिपादित किया है ''ब्रह्म सत्य, जगत शाश्वत''।

प्रश्न : स्व निरीक्षण की प्रक्रिया क्या होगी?

उत्तर : हम क्या कर रहे हैं? हम क्या सोच रहे हैं? यही स्व निरीक्षण है। यह बिलकुल सहज है। मैं क्या करता हूँ और क्या सोचता हूँ इसको मिलाओ। यदि ''करने'' और ''सोचने'' में मेल नहीं बैठता तो वह ''होने'' से जुड़ता नहीं है। कर्म करते समय कुछ और हो, फल भोगते समय और कुछ हो तो तृप्ति कहाँ मिली? मानवीयता पूर्वक मनुष्य कर्म करते समय भी स्वतन्त्र है और फल भोगते समय भी स्वतन्त्र है। **अध्ययन प्रक्रिया में पठन (श्रवण) के बाद ''मनन प्रक्रिया'' में ''स्व निरीक्षण'' समाया है। यह अध्ययन में ''शोध'' का एक भाग है। ''स्वयं का मूल्यांकन'' करने के साथ ही ''मनन'' प्रक्रिया पूरा होता है।**

स्व निरीक्षण लक्ष्य सम्मत होना प्रधान बात है। किस लक्ष्य से स्व निरीक्षण कर रहे हैं यह मूल मुद्दा है। **मानव लक्ष्य (समाधान,**

समृद्धि) के अर्थ में स्व निरीक्षण करते हैं तो पकड़ में आता है, नहीं तो पकड़ में नहीं आता। लक्ष्य को पकड़ लेने पर सारे फिसलने के रास्ते हट जाते हैं। जागृति के लिए राजमार्ग शुरू हो जाता है। भ्रमित अवस्था में भी मनुष्य जिस सुविधा संग्रह लक्ष्य को स्वीकारा रहता है, उसको वह सही माने या गलत उसके सारे प्रयास उसी के लिए रहते हैं। उसी तरह समाधान समृद्धि लक्ष्य को स्वीकारने पर सारे प्रयास उसी के लिए हो जाते हैं। इस बात को हम सभी शोध कर सकते हैं।

दर्शन में इस बात को स्पष्ट किया है, सूचना दिया है जीव चेतना से मानव चेतना श्रेष्ठ है। मानव चेतना से देव चेतना श्रेष्ठतर है। देव चेतना से दिव्य चेतना श्रेष्ठतम है। मनुष्य में श्रेष्ठता के लिए चाहत है ही! इसीलिए मानव चेतना सम्मत लक्ष्य (समाधान समृद्धि) सबको स्वीकार होता है।

भौतिकवाद में स्व निरीक्षण की बात नहीं है। स्व निरीक्षण की परिकल्पना आदर्शवाद में की गयी है। ''स्व निरीक्षण होना चाहिए'' ऐसी आशा व्यक्त की गयी है। स्व निरीक्षण किस लक्ष्य के लिए किया जाए यह आदर्शवाद में स्पष्ट नहीं हुआ। मानव लक्ष्य का ही वहाँ पता नहीं चला।

यहाँ मानव लक्ष्य (समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व) के लिए स्व निरीक्षण करने का संदेश है।

(अप्रैल 2012, अमरकंटक)

समाधान का अनुकरण

प्रश्न : ''समाधान का अनुकरण'' से क्या आशय है?

उत्तर : शब्द या लेख के आधार पर अनुकरण पठन के रूप में। उसके बाद अर्थ के आधार पर अनुकरण अध्ययन (साक्षात्कार,

बोध) के रूप में। अध्ययन के फलन में अनुभव के आधार पर स्वत्व हो जाता है। अनुकरण का विधि और प्रयोजन यही है।

वेदज्ञों के परिवार में जन्मने के बाद मैंने उनका अनुकरण किया, उनका भाषा प्रयोग किया, उसके बाद उसके अर्थ में गया। अर्थ में गया तो सारा वितंडावाद हो गया। अनुभव तो दूर रह गया! इस कष्ट को मिटाने के लिए अनुसन्धान किया, जिससे मध्यस्थ दर्शन उपलब्ध हुआ।

जब मध्यस्थ दर्शन में पठन, मनन, अध्ययन (साक्षात्कार बोध) और अनुभव का क्रम सध गया। अनुभवमूलक विधि से जीने वाले (समझा हुआ जागृत व्यक्ति, गुरु) का अनुकरण करने से शब्द के अर्थ में जाना बन जाता है (मनन)। शब्द के अर्थ में जाने (मनन) के बाद (साक्षात्कार, बोध पूर्वक) अनुभव में जीना बन जाता है। अनुभव में जीना बनता है तो प्रमाण होता ही है। अध्ययन (शोध) को छोड़ कर केवल अनुकरण करने से कुछ समय तक तृप्ति है, पर तृप्ति की निरंतरता नहीं बनती। यही अध्ययन और अनुभव की आवश्यकता है।

सूचना को दोहराने से अर्थ की ओर ध्यान जाता ही है। अर्थ को जब शोध करते हैं तो अपना स्वत्व होने की जगह में पहुँच ही जाते हैं। अध्ययन को आत्मसात करने की विधि है अनुकरण।

प्रश्न : ''सूचना को दोहराना'' अकेले में या परस्परता में?

उत्तर : किसी के साथ हम बोलते ही हैं। किसी के साथ हम शब्दों को बोले नहीं ऐसा कोई आदमी होता नहीं है। एक गूंगा भी दूसरों के साथ अपने को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। अभिव्यक्ति अध्ययन क्रम में सबसे सशक्त भाग है। पहले पढ़ कर विचारों का आदान प्रदान करके अच्छा लगता है। फिर उससे यह निकलता ही है कि इसको समझ के जीना कितना अच्छा लगेगा? हर

मनुष्य में कल्पनाशीलता कर्मस्वतंत्रता है, इसलिए यह स्वयंस्फूर्त होता है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

मूल्यांकन और समीक्षा

परीक्षण, निरीक्षण और सर्वेक्षण के आधार पर मूल्यांकन होता है। निरीक्षण का मतलब है वस्तु कैसा है? परीक्षण का मतलब है प्रयोजन क्या है (वस्तु क्यों है)? सर्वेक्षण का मतलब है कितना है?

किसी भी वस्तु का निरीक्षण किये बिना उसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। वैसे ही स्वयं का और सामने व्यक्ति का परीक्षण किये बिना हम उसका मूल्यांकन नहीं कर सकते। स्वयं का परीक्षण करने के बाद ही स्वयं का मूल्यांकन हो पाता है। वैसा ही दूसरे व्यक्ति के साथ भी है।

स्व निरीक्षण, परीक्षण में अपनी उपयोगिता और प्रयोजन को समझने की बात है। प्रयोजन ही पूरकता है। अपनी उपयोगिता और पूरकता (प्रयोजन) को समझे बिना हम दूसरों को क्या समझायेंगे? यदि प्रयोजन नहीं है तो आडम्बर है। यदि आडम्बर है तो संसार के लिए हानिप्रद है।

प्रश्न : मूल्यांकन और समीक्षा में क्या अंतर है?

उत्तर : अनावश्यकता (पूरकता उपयोगिता के विपरीत कार्य कलाप) की समीक्षा होती है, आवश्यकता (पूरकता उपयोगिता सहज कार्य कलाप) का मूल्यांकन होता है। अनावश्यकता की समीक्षा नहीं होगी तो अनावश्यकता कम कैसे होगा? आवश्यकता का मूल्यांकन नहीं होगा तो सही के लिए उत्साहित कैसे होंगे? मूल्यांकन और समीक्षा दोनों होना आवश्यक है। आवश्यकता को लेकर प्रोत्साहित कर दिया, गलती को छुपा दिया यह महान अपराध है। थोड़ा भी

गलती हो तो उसको उजागर करना चाहिए। उजागर करने का मतलब जिसने गलती किया, उसको अवगत कराना। दूसरे की गलती का प्रचार करने का कोई फायदा नहीं है।

प्रश्न : हम जब दूसरे का मूल्यांकन करें तो यदि हम केवल उसके 'सही' को बताएं, उसकी 'गलती' को न बताएं तो इसमें क्या परेशानी है?

उत्तर : गलती करने वाला अपनी गलती को भी 'सही' माने रहता है। इसलिए आप यदि केवल उसके 'सही' को बताते हैं तो वह मान लेता है कि वह जो कुछ भी कर रहा है उसको आप प्रोत्साहन कर रहे हैं। अब आप इस तरह कितना भी सिर कूट लो, क्या परिवर्तन आएगा उससे उसमें? उसकी गलती का सुधार होगा कैसे? ऐसा हो रहा है या नहीं? इसलिए दूसरे का मूल्यांकन करते हुए उसकी गलती को उसे अवगत करायें, फिर सही को भी उसे बताएं।

(अनुभव शिविर, जनवरी 2012, अमरकंटक)

अनुगमन और चिंतन

अनुगमन का मतलब है अनुक्रम से गति होना। अनुक्रम है समझ, योजना, कार्य योजना, फल परिणाम, जिसमें फल परिणाम समझ के अनुरूप हो। दूसरे जीव चेतना से मानव चेतना को पहचानना अनुक्रम है, मानव चेतना से देव चेतना को पहचानना अनुक्रम है, देव चेतना से दिव्य चेतना को पहचानना अनुक्रम है। तीसरे अनुभव से विचार, विचार से व्यवहार की ओर गति होना अनुगमन है। अनुभवमूलक विधि से इच्छा का नाम है चिंतन।

अनुगमन और चिंतन के लिए बताया है स्थूल (जड़) से सूक्ष्म (जीवन), सूक्ष्म से कारण (सह अस्तित्व), कारण से महाकारण (व्यापक

सत्ता)।

धरती स्थूल है, परमाणु सूक्ष्म है, परमाणु अंश अति सूक्ष्म है। जीवन सूक्ष्म है, अनुभव ''परम सूक्ष्म'' है। सत्ता में संपृक्त सम्पूर्ण प्रकृति के रूप में सृष्टि स्थूल है, सत्ता ''परम सूक्ष्म'' है। मानव शरीर स्थूल है। मानव शरीर में जो क्रियाएं हैं वे सूक्ष्म हैं। मानव शरीर का जो प्रयोजन है वह ''परम सूक्ष्म'' है। वह प्रयोजन है शरीर के द्वारा जीवन सहज जागृति को प्रमाणित करना। इन तीन विधियों से ''परम सूक्ष्म'' को पहचाना जाता है। प्रकृति की सभी इकाईयाँ स्थूल, सूक्ष्म, अति सूक्ष्म रूप में है लेकिन ''परम सूक्ष्म'' वस्तु व्यापक सत्ता ही है। इस ''परमता'' को समझने के बाद मानव कहाँ गलती या अपराध कर सकता है, आप सोच लो!

न्याय समझ में आने के बाद अपराध है ही नहीं। जो लोग अपराध करते हैं, वे भी न्याय ही चाहते हैं।

सही समझ में आने के बाद गलती है ही नहीं। जो लोग गलती करते हैं, वे भी सही ही करना चाहते हैं।

''कारण'' है सह अस्तित्व। ''महाकारण'' है सत्ता। सभी क्रियाकलाप का, ज्ञान का, अज्ञान का, विज्ञान का एकमात्र कारण है सह अस्तित्व। सह अस्तित्व में ही सारा अज्ञान है और सारा ज्ञान (भी) है। जीव चेतना में जीना अज्ञान है। मानव चेतना में जीना ज्ञान है। सत्ता ही जड़ प्रकृति को ऊर्जा के रूप में और चैतन्य प्रकृति (जीवन) को ज्ञान के रूप में प्राप्त है। सत्ता में ही सम्पूर्ण जड़ चैतन्य प्रकृति है इसीलिए सत्ता को ''महाकारण'' नाम दिया।

अभी तक किसी भी परंपरा में ''महाकारण'' का उद्‌घाटन करना नहीं बना। ''कारण'' को बताना भी नहीं बना। ''स्थूल'' को बताने वाले बहुत हैं। जीवन को समझे बिना ''सूक्ष्म'' को समझाना

बनेगा नहीं। सूक्ष्म को समझने पर ही दृष्टा पद समझ में आता है। दृष्टा पद समझ में आने पर ही दृश्य समझ में आता है। दृश्य समझ में आने पर प्रयोजन समझ में आता है। प्रयोजन समझ में आना ही ''परम सूक्ष्म'' है। यह ज्ञान हो जाना ही परिपूर्णता है। इन्द्रिय गोचर विधि से मानव परिपूर्ण नहीं होता है, ज्ञान गोचर विधि से ही मानव परिपूर्ण होता है। इन्द्रिय गोचर विधि से सम्पूर्णता समझ में आता ही नहीं है, तो उसके साथ जियेंगे कैसे? ज्ञान गोचर विधि से सम्पूर्णता समझ में आता है, तभी उसके साथ जीना बनता है।

(अगस्त 2010, सरदारशहर, राजस्थान)

जीवन में सूक्ष्म और कारण क्रियाएँ

जीवन में बुद्धि और आत्मा कारण क्रियाएँ हैं। जीवन में मन, वृत्ति और चित्त सूक्ष्म क्रियाएँ हैं। शरीर स्थूल क्रिया है।

सूक्ष्म क्रियाएँ सम विषमात्मक है जो पक्ष विपक्ष के साथ में हैं। कारण क्रियाएँ बिना पक्ष विपक्ष के हैं। सूक्ष्म क्रिया से कारण क्रिया के लिए पहला जो खेप है वह है बुद्धि में बोध होना। बुद्धि में बोध हुए बिना आत्मा में अनुभव होता ही नहीं है। यही मुख्य बात है। बुद्धि में बोध होने के लिए स्त्रोत है आशा, विचार और इच्छा। इन तीनों के आधार पर ही मानव साढ़े चार क्रिया में जीता है। **साढ़े चार क्रियाएँ बोध के लिए स्त्रोत हैं, न कि ये स्वतन्त्र रहने के लिए हैं। अभी मानव इनके स्वतन्त्र रहने के लिए चल रहा है। यही लाभोन्माद, भोगोन्माद और कामोन्माद है। सूक्ष्म क्रियाएँ (मन, वृत्ति और चित्त) कारण क्रियाओं के लिए स्त्रोत है। इन्हीं के द्वारा बुद्धि में बोध होता है।** बोध होने पर अनुभव स्वतः होता है। अनुभव के लिए आपको अलग से कुछ नहीं करना है। बोध तक ही पुरुषार्थ है।

सूक्ष्म क्रियाओं को संकेत मिलता है, शरीर से। बुद्धि (कारण क्रिया) को संकेत मिलता है, सूक्ष्म क्रियाओं से। बुद्धि को संकेत मिलने से आत्मा में अनुभव होता है। सिंधु से बिंदु तक पहुँचने का काम यही है। आशा, विचार और इच्छा (कल्पनाशीलता) ही बोध के लिए स्त्रोत है। आशा के बिना हम किसी की बात सुनेंगे ही नहीं। सुनेंगे नहीं तो यह विचार आएगा ही नहीं। विचार में नहीं आएगा तो चित्त में उसका (सच्चाई के प्रस्ताव का) चित्रण बन नहीं पायेगा। चित्त में सच्चाई का चित्रण संवेदनशीलतापूर्वक तदाकार तद्रूप विधि से होता है। इस तरह तदाकार होने पर सच्चाई का बोध होता है। शरीर से संबंधित जो भाग है वह चित्रण तक ही रह जाता है।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

आस्वादन और स्वागत

संवेदनशीलतापूर्वक मन में "स्वागत" क्रिया और "आस्वादन" क्रिया है। स्वागत क्रिया समझने के अर्थ में है, समझने पर आस्वादन क्रिया प्रमाणित करने के अर्थ में है। स्वागत क्रिया फैलता है।

स्वागत क्रिया संवेदनशीलता को अनुभव बिन्दु तक ले जाता है, अनुभव को मूल्यांकन करने में ले जाता है। संवेदनशीलता के बिना संज्ञानशीलता (या बोध) होता ही नहीं है। संवेदनशीलता के बिना संज्ञानशीलता होता ही नहीं, किसी को नहीं होगा! इस धरती पर तो क्या, अनंत धरतियों पर किसी को नहीं होगा।

प्रश्न : मैं पहले सोचता था, संवेदनशीलता अपने में कोई ''अच्छी'' वस्तु नहीं है। लेकिन आप यहाँ कह रहे हैं, संवेदनशीलता के बिना बोध हो ही नहीं सकता!

उत्तर : जीवन जब मानव शरीर को जीवंत बनाता है तो

संवेदनशीलता प्रकट होती है। मानव में संवेदनशीलता ''तृप्ति'' के अर्थ में काम करता है। तृप्ति को शरीर में खोजता है तो वह मिलता नहीं है। शासन में खोजता है, तो भी तृप्ति मिलता नहीं है। शिक्षा में खोजता है, तो भी मिलता नहीं है। इन तीन जगह में तृप्ति नहीं मिल पाने के कारण मानव मान लेता है कि जीने में तृप्ति मिलता नहीं है। यदि जीने में तृप्ति नहीं मिलेगा तो कहाँ तृप्ति मिलेगा? संवेदनशीलतापूर्वक मन में स्वागत क्रिया है। स्वागत क्रिया संवेदनशीलता को बोध तक ले जाता है। संज्ञानशीलता पूर्वक अनुभवमूलक विधि से तृप्ति के साथ जीना बनता है। इस तरह जीने को विकसित चेतना (मानव चेतना, देव चेतना, दिव्य चेतना) कहा है। इस तरह (अध्ययन विधि से) आशा, विचार और इच्छा पूर्वक हम बोध तक पहुँच गए संज्ञानीयता के लिए। संज्ञानीयता का ही बोध होता है, निरर्थकताएं चित्रण तक ही रह जाता है जिनका बोध नहीं होता। इस तरह (मात्र) चित्रण, विचार और आशा के साथ प्रगटन में बोध नहीं है। अनुभवमूलक विधि से बोध होकर के प्रमाण रूप में जीने में प्रगट कर सकते हैं। प्रमाण जीने में ही है। मैंने जो कुछ वांगमय के रूप में लिखा है, सब वह (आप के लिए) सूचना ही है। मेरा जीना ही प्रमाण है। अध्ययन, बोध, अनुभव और प्रमाण यह क्रम है।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

3.2 अध्ययन क्रम में प्राथमिकता, बाधाएँ, निराकरण

सत्य समझने के लिए प्राथमिकता, जिज्ञासा

प्रश्न : मेरी जिज्ञासा ठीक है या नहीं इसका मैं कैसे निर्णय कर सकता हूँ?

उत्तर : अनुभवशील व्यक्ति ही इसको बताएगा। अनुभवमूलक विधि से जीने वाला व्यक्ति सामने व्यक्ति की जिज्ञासा को समझ

सकता है। जिज्ञासु को जब समझ में आता है, तभी उसको पता चलता है कि उसको अनुभव संपन्न व्यक्ति ने उसे समझा दिया। एक दूसरे के लिए पूरक होने का विधि इस तरह बन गया या नहीं? यही एक छोटी सी दीवार है, जिसको फांदने की जरूरत है।

मानव में सुख की निरंतरता की चाहत समाई हुई है। ''सत्य'' नाम तो सब जानते हैं, बच्चे भी जानते हैं। ''सत्य में सुख की निरंतरता है'' इस परिकल्पना के आधार पर जिज्ञासा है। ''सत्य'' शब्द के आधार पर सभी सत्य को चाहते हैं। हर बच्चा जन्म से ही न्याय का याचक होता है, सही कार्य व्यवहार करना चाहता है और सत्य वक्ता होता है। सत्य बोध कराना शिक्षा का काम है, सही कार्य व्यवहार सिखाना शिक्षा का काम है और न्याय प्रदायी क्षमता को स्थापित करना शिक्षा का काम है। जबकि आज की शिक्षा में पढ़ाते हैं कि ''बच्चे जन्म से ही कामुक होते हैं''। यही कामोन्मादी मनोविज्ञान है। कामोन्माद के साथ भोगोन्माद और लाभोन्माद जुड़ा ही है। मानव की चाहत और आज की शिक्षा के बीच में परस्पर विरोध होगा या नहीं?

सत्य को समझना है या नहीं समझना है? यह पहली बात है। सत्य को समझने के लिए वरीयता है या नहीं? यह दूसरी बात है। सत्य को समझने के लिए जिज्ञासा है या नहीं? यह तीसरी बात है। इन तीन बातों को आप अपने में आजमा सकते हैं। **सत्य को समझने के लिए वरीयता (प्राथमिकता) है तो जिज्ञासा है, सत्य को समझने के लिए वरीयता नहीं है तो जिज्ञासा नहीं है केवल शब्द के आधार पर बातचीत है।**

बातचीत तो शब्दों में ही होती है। फिर भी बातचीत तीन स्तर पर हो सकती है। पहले शब्द के आधार पर बातचीत होना (**सुना** हुआ)। दूसरे शब्द से इंगित अर्थ के आधार पर समझने के लिए

बातचीत होना **(शोध)**। तीसरे समझ के आधार पर अपना स्वत्व बना कर जीने के लिए बातचीत होना या **अनुभव** के आधार पर बातचीत होना। इन तीनों में अंतर है या नहीं? अनुभव के आधार पर ही ''सत्संग'' पूरा होता है। शब्द के आधार पर सत्संग मानव आदि काल से करता रहा है। शब्द के अर्थ तक मानव अभी तक गया नहीं है। शब्द के अर्थ तक जाना है, फिर अनुभव के आधार पर जीना है।

जिज्ञासा दो बातों के लिए पहला, कैसे मैं समझ जाऊँगा? दूसरे, समझने के बाद प्रमाणित कैसे करूँगा? अनुभव के बाद प्रमाणित करना स्वाभाविक होता ही है।

अनुभव के लिए अध्ययन ही अभ्यास है। सुख की निरंतरता के लिए प्रयास ही मानव की स्वभाव गति है। इस तरह अनुभव से पहले अध्ययन ही स्वभाव गति है।

वस्तु को समझने के लिए कल्पनाशीलता आगे निकल जाता है, तर्क पीछे छूट जाता है। वस्तु को समझने के बाद तर्क कहाँ रहा? वस्तु को समझने के बाद अनुभव ही है, फिर हमको अनुभव हुआ है इसके प्रमाण तर्क पूर्वक प्रस्तुत होना शुरू होता है। ''हम ठीक न हों और दूसरे सब ठीक हो जाएँ'' वर्तमान में राज्य को, धर्म को, शिक्षा को देखने पर ऐसा ही लगता है। राज गद्दी, धर्म गद्दी और शिक्षा गद्दी में बैठे लोग अपने को सही मानते हैं, वे स्वयं सुधरना नहीं चाहते हैं। व्यापार गद्दी में बैठे लोग अपने आप को इन सभी का संरक्षक मानते हैं वे तो अपने को सबसे सही मानते हैं।

अनुभव के बिना समझ में आया नहीं। अनुभव के बिना हम कितने भी प्रारुप बना लें वह दूसरों के लिए ही है, हमारे अपने जीने के लिए नहीं है। अनुभव विधि में पहले स्वयं समझना है, फिर हमको अनुभव हुआ है इसके प्रमाण में दूसरे को समझाना है।

जिज्ञासा की तृप्ति के लिए अध्ययन है। **समझा हुआ व्यक्ति ही अध्ययन कराएगा। किताब अध्ययन कराएगा नहीं।** यंत्र अध्ययन कराएगा नहीं। इन दो विधियों से आदमी अभी तक चला है। जबकि यंत्र कभी किसी को समझाता नहीं है। किताब कभी किसी को समझाता नहीं है। मानव जो जिज्ञासा करता है, उसके लिए सारी बात को एक स्थान पर संजो कर प्रस्तुत करने का काम न किताब कर सकती है, न यंत्र कर सकता है। कोई एक बात को समझाने के लिए 200 सन्दर्भों के साथ प्रस्तुत होने की बात समझा हुआ आदमी ही कर सकता है, यंत्र नहीं कर सकता। **विद्यार्थी द्वारा जिज्ञासा को व्यक्त करना और अध्यापक द्वारा जिज्ञासा का उत्तर देना इन दोनों के संयोग में अध्ययन है।** इसीलिए 'अनुभवमूलक विधि से समझाना' और 'अनुभवगामी विधि से समझना' इसको शिक्षा के लिए तैयार किया। इस तरह से हमने शुरू किया है। ऐसे शुरू करके हम कहाँ तक पहुँचते हैं, इसको हम देखेंगे। वर्तमान शिक्षा में तो ऐसा प्रावधान नहीं है।

प्रश्न : आपकी बात से लगता है अध्ययन की जिम्मेदारी विद्यार्थी की कम और अध्यापक की ज्यादा है?

अध्ययन की जिम्मेदारी अध्ययन करने वाले और अध्ययन कराने वाले दोनों पक्षों की है। शिष्य में अध्ययन करने की इच्छा भी जरूरी है। गुरु में अध्ययन कराने की ताकत भी जरूरी है। इन दोनों के योगफल में अध्ययन है। **कल्पनाशीलता के आधार पर जिज्ञासा है। जिज्ञासा ही पात्रता है। जिज्ञासा की प्राथमिकता के आधार पर ही ग्रहण होता है।** जिज्ञासा की प्राथमिकता है या नहीं इसको सटीक पहचानना अध्यापक का काम है। प्राथमिकता को स्वीकारना और उसके लिए प्रयास करना विद्यार्थी का काम है।

पाँच वर्ष की आयु तक बच्चों में अपने अभिभावकों के प्रति

अपनी जिज्ञासा पूरी होने के प्रति पूरा विश्वास रहता है। लेकिन उनकी जिज्ञासा अभिभावकों के न पहचान पाने से और उनके द्वारा उसे पूरा न कर पाने की स्थिति में बच्चों का विश्वास घटता जाता है। धीरे धीरे वह घटते घटते शून्य हो जाता है। एक आयु के बाद बच्चे दूर हो जाते हैं।

''सुख की निरंतरता'' मानव का प्रयोजन है। संवेदनाओं में सुख भासता है, पर सुख की निरंतरता बन नहीं पाती। ''सत्य में सुख की निरंतरता है'' इस परिकल्पना के साथ जिज्ञासा है। निरंतर सुख संवेदनाओं में नहीं होता है, समाधान से ही निरंतर सुख होता है। यह अनुसंधानपूर्वक मैंने पता लगाया, अब समाधान के लिए सभी मानवों का रास्ता बना दिया।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

अध्ययन के लिए प्राथमिकता, बाधाएँ

भ्रमित मानव में भी श्रेष्ठता को स्वीकारने का सहज गुण है। जिसको वह अपनी कल्पना में अधिक श्रेष्ठ मानता है, उसको स्वीकार लेता है। जैसे ज्यादा पैसा स्वीकृत होता है, कम पैसा स्वीकृत नहीं होता। सुरूप स्वीकार होता है, कुरूप स्वीकार नहीं होता। भ्रमित व्यक्ति में भी तुलन होता है। भ्रमित व्यक्ति में भी कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता है, जिसके कारण वह तुलन कर पाता है। तुलन के आधार पर मानव में श्रेष्ठता की ओर गतियाँ हैं। जीवों में यह बात नहीं होती। उनमें जो (ज्यादा कम) है, वह आहार तक ही है। इस "काल्पनिक श्रेष्ठता" को स्वीकारने के क्रम में मानव अपने इतिहास में मनाकार को साकार करता आया।

अब यहाँ प्रस्तावित है "मानव चेतना में जीना जीव चेतना में जीने से ज्यादा श्रेष्ठ है। मानव चेतना पूर्वक मानव सुख की

निरंतरता और अखंड समाज को प्रमाणित कर सकता है। जीव चेतना में इनको प्रमाणित नहीं कर सकता।" जब मानव चेतना के लिए प्राथमिकता बन जाता है, तो वह आचरण में आ ही जाता है।

कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता के अलावा मानव के पास और कोई औजार नहीं है। उसी के आधार पर मानव जिसको श्रेष्ठ मानता है, उसको स्वीकारता है। जब आपको यह स्पष्ट होता है कि मानव चेतना पूर्वक जीना "परम आवश्यक" है तब यह आपकी प्राथमिकता बनी। "मानव चेतना में जीना आवश्यक है" यह आपकी कल्पना में तो आ गया। इसकी आवश्यकता जब आप में इतनी बन जाए कि 'इसके बिना हम जी ही नहीं सकते' तो इसकी प्राथमिकता बनी।

कल्पनाशीलता पूर्वक पहले मानव चेतना को लेकर "श्रेष्ठता का स्वप्न" बना। वही चीज हमको यदि जागते सोते, खाते पीते, उठते बैठते नज़र आने लगे तो आप इस निष्कर्ष पर पहुँचते है "इसके बिना मेरा जीवन अधूरा है।" कल्पना में जब इसकी प्राथमिकता बन गयी तो अध्ययन में लगना स्वाभाविक हो जाता है। अध्ययन का स्त्रोत दिया मध्यस्थ दर्शन सह अस्तित्ववाद। अध्ययन में लगेंगे तो समझेंगे ही!

साधना, समाधि, संयम पूर्वक मैंने प्रकृति से सीधा सीधा जो पढ़ा उसे आपको किताब से पढ़ने में क्या तकलीफ है?

जब तक यह स्थिति स्वयं में नहीं बनती कि "मानव चेतना बिना मेरा जीना बनेगा नहीं" तब तक हम साढ़े चार क्रिया में ही जीते हैं।

अमरकंटक में साधना करने आने से पहले अपनी कल्पनाशीलता के आधार पर ही तो मैं श्रेष्ठता को चाहता रहा। साढ़े

चार क्रिया में जीते हुए जिस परम्परा में मैं था उसमें जो श्रेष्ठ मानते थे, उससे मैं संतुष्ट नहीं हो पाया। साधना सफल होने के बाद पता चला कि दसों क्रियाओं के साथ ही संतुष्टि पूर्वक जीना बनता है।

"मानव चेतना के प्राथमिकता में आने" के बाद साक्षात्कार, बोध और अनुभव है। (प्राथमिकता = मनन विधि से न्याय–धर्म–सत्य रूपी वांछित वस्तु में चित्त–वृत्ति संयत होना, एवं श्रवण के सारभूत भाग में चित्त वृत्ति केन्द्रिभूत होना)

पठन से सूचना (श्रवण) से मानव चेतना की श्रेष्ठता के प्रति हमारी कल्पना में प्राथमिकता आ जाती है (मनन)। वहाँ से अध्ययन शुरू होता है। इससे पहले मानव चेतना संबंधी प्रस्ताव आपकी स्मृति में आता रहा, इस तरह अंततोगत्वा अपनी कल्पना में मानव चेतना के लिए प्राथमिकता को स्थापित कर लेते हो (यही मनन प्रक्रिया है)। उसके बाद साक्षात्कार, बोध और अनुभव होता है। सारा 'आगे–पीछे', 'देरी–जल्दी' जब तक कल्पना में फंसे हैं, तभी तक है।

इसमें एक और बात ध्यान देने की है इस प्रस्ताव के अनुरूप जीने का स्वरूप अभी आप जैसे जी रहे हो उससे भिन्न होगा। **आप अभी की परम्परा में जिस प्रारुप में जी रहे हो, वैसे ही जीते रहो और यह ज्ञान आपके जीने में प्रमाणित हो जाए, ऐसा सम्भव नहीं है।** इस ज्ञान के अनुरूप जीने का प्रारुप है, समाधान समृद्धिपूर्वक जीना। **मानव चेतना संपन्न होने के लिए यह प्रस्ताव आपके अधिकार में न आने में आना–कानी करने का एक बड़ा कारण है, हमारा जीव चेतना के अपने जीने के कुछ पक्षों को सही माने रहना। जबकि मानव चेतना और जीव चेतना में कोई भी पक्ष में समानता नहीं है।** मानव चेतना को जीव चेतना के साथ जोड़–तोड़ पूर्वक बैठाया नहीं जा सकता।

जब तक अध्ययन शुरू नहीं हुआ, तब तक हमारी

कल्पनाएँ हमारे साथ बाधाएं डालता ही है। मूलतः बाधा डालने वाली कल्पना है "शरीर को जीवन मानना"। अध्ययन में सर्वप्रथम यही विश्लेषित होता है जीवन और शरीर दो भिन्न वास्तविकताएं हैं। जीवन अमर है। शरीर नश्वर है। जीवन शरीर को चलाता है। नियति क्रम में धरती पर मानव शरीर परम्परा स्थापित होती है। जीवन में एक बार मानव चेतना के लिए प्राथमिकता स्थापित हो जाती है तो वह सदा के लिए हो जाती है। आगे शरीर यात्राओं में भी फ़िर स्वयं को प्रमाणित करने की अर्हता बनी रहेगी।

मानव के जीने की दो ही पद हैं साढ़े चार क्रिया में जीना (जीव चेतना) या दस क्रिया में जीना (मानव चेतना)। इनके बीच में "अध्ययन" है। अनुभव के बाद ही मानव चेतना है। अभी तक के इतिहास में मानव ने जो भी अध्ययन किया वह साढ़े चार क्रिया को संतुष्ट करने के अर्थ में किया। मध्यस्थ दर्शन का अध्ययन सह अस्तित्व में अनुभवपूर्वक जीवन की दसों क्रियाओं को प्रमाणित करने के लिए है।

अच्छी से अच्छी कल्पना भी मानव के जीने में प्रमाणित होने का आधार नहीं हो सकती। सह अस्तित्व में अनुभव ही मानव के जीने में प्रमाणित होने का आधार हो सकता है। जीने में प्रमाणित होने का मतलब है न्याय, धर्म और सत्य को प्रमाणित करना।

प्रश्न : अस्तित्व के स्वरूप के इस प्रस्ताव में समाधान और सर्वशुभ की सम्भावना तो स्पष्ट दिखाई देती है। लेकिन इसको अपने जीने से जोड़ नहीं पाने से मुझमें पीड़ा बढ़ी ही है। मैं "ज्यादा सुखी" हो गया ऐसा कह नहीं पाता हूँ।

उत्तर : जिस परम्परा में आप पैदा हुए, बड़े हुए उसमें जिसको अच्छा माना जाता है, उसको स्वीकार कर ही आप जिये।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जैसे भी आप जीते रहे, उसके साथ आपकी निरंतर सुख पूर्वक जीने की चाहत भी जुड़ी रही। अब आपके सामने यह प्रस्ताव सूचना के रूप में आया उसको स्वयं के साथ जीने में जोड़ने में अभी सुगम नहीं हुआ है, यह आप कह रहे हो। इस प्रस्ताव में कहा गया है सुविधा संग्रह से ज्यादा अच्छा समाधान समृद्धिपूर्वक जिया जा सकता है। **समाधान समृद्धि अभी हाथ नहीं लगा है, इस कारण से आपमें पीड़ा बढ़ी है तो आपका यह प्रयास सही दिशा में तो है।** इस पीड़ा से मुक्त होने का निश्चित कार्यक्रम आप में से ही उद्‌गमित होगा. उसके लिए युक्ति है प्रस्ताव के अध्ययन पूर्वक अपने में परिपूर्णता को प्राप्त करना। उसके बाद समृद्धिपूर्वक जीने का प्रारुप अपने आप से बनाना। समृद्धिपूर्वक जीने का प्रारुप हर मानव में जागृति पूर्वक अपने आप से प्रगट होता है। समाधान सभी जागृत मानवों में समान है। समृद्धि के प्रारुप अलग अलग रहेंगे। मैंने जिस प्रारुप से समृद्धि को प्रमाणित किया, आप भी वही प्रारुप में प्रमाणित करें ऐसा कोई नियम नहीं है।

"ब्रह्म जैसी परम पवित्र चीज से मिथ्या कैसे पैदा होता है?" यह मेरी पीड़ा का कारण हुआ था। उस पीड़ा के निराकरण के लिए मैंने साधना किया। आप में जो इस प्रस्ताव को अपने जीने से न जोड़ पाने के कारण जो पीड़ा है, उसका निराकरण अध्ययन पूर्वक ही है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

स्वयं प्रमाणित होने की अर्हता, तीव्रता

भाषा से अर्थ में पहुँचना हर व्यक्ति में स्वयंस्फूर्त होता है। 'शोध' पूर्वक होता है। यह अस्तित्व सहज है। अस्तित्व में सम्पूर्ण

वस्तु निहित है। वस्तु के रूप में हमें वस्तु बोध होने पर ही मन भरता है। उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। **सह अस्तित्व कैसे है, क्यों है इन दोनों** प्रश्नों **का** उत्तर **बारम्बार अपने मन में पहुँचना चाहिए।** यह 'मनन' है, शोध है, फलतः अनुभव में आकर स्वयं को प्रमाणित करने की अर्हता स्थापित होना चाहिए। फलस्वरूप मन भरेगा, नहीं तो काहे को भरेगा?

संज्ञानशीलता की अर्हता हम कितनी जल्दी हासिल कर सकते हैं, वह हमारी "तीव्रता" के आधार पर है। हमारी साँस लेने की एक गति है, सोचने की एक गति है, निर्णय लेने के लिए प्राथमिकता बनने की एक गति है। संज्ञानशीलता की प्राथमिकता जब स्वयं में बन जाती है, तो काम हो जाएगा! अपने आप पर भरोसा तो करना पड़ेगा। अपने पर भरोसा छोड़ कर जीना तो बनेगा नहीं। या तो हम किसी को हांकते रहेंगे या दूसरा कोई हमको हांकता रहेगा! अर्हता हासिल करने के लिए अध्ययन ही एकमात्र आसरा है। धीरे धीरे अपने में विश्वास अर्जन करने की बात है। अर्हता बढ़ते बढ़ते एक दिन पूर्णता तक भी पहुँचती है। फ़िर बोध होना और अनुभव होना होता है। उसके बाद हम मानवीयतापूर्ण तरीके से जीने "योग्य" हो जाते हैं।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

विद्वत्तापूर्ण बुद्धि की बात, समझने के लिए प्राथमिकता

"यह करो, यह मत करो!" यह मूढ़ बुद्धि की कथा है। "क्या होना चाहिए, क्या नहीं होना चाहिए" यह विचार बुद्धि की बात है। "यह आवश्यक है, यह अनावश्यक है" यह विद्वतापूर्ण बुद्धि की बात है। यही मूल मन्त्र है।

"आवश्यक क्या है, अनावश्यक क्या है" इसके आधार पर

"होना क्या चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए" का निर्धारण है। फ़िर "क्या करना है" यह निश्चित हो जाता है।

प्रश्नः "करने, नहीं करने" की सोच में क्या परेशानी है?

उत्तरः "नहीं करना" कुछ होता नहीं है। "क्या करना है" यह भ्रमित स्थिति में स्पष्ट नहीं रहता है। "होना" जब स्पष्ट हो जाता है, तब क्या "करना" है यह निश्चित हो जाता है।

पहले "ज्ञान" लक्ष्य के प्रति स्पष्ट होना आवश्यक है। पहले प्रक्रिया (करो, नहीं करो) को ठीक करने जाने से काम नहीं चलेगा। यही लाँघना है। ज्ञान जब स्वयं में निश्चित हो जाता है, तो उसके फलन में "करना" भी निश्चित हो जाता है। "करना" निश्चित करके ज्ञान होता नहीं! परम्परा होती नहीं।

अभी तक आदर्शवाद और भौतिकवाद ने जो भी बताया उसमें कहा "करके समझो!" मैं यहाँ कह रहा हूँ "समझ के करो!"

सिद्धांत यही है। समझने का अधिकार हर व्यक्ति के पास हर परिस्थिति में रखा है। चाहे छोटा हो, चाहे राजा हो समझने का अधिकार सबमें समान है।

समझने का अवसर युगों के बाद आज आया है।

समझने के लिए सभी परिस्थितियाँ अनुकूल हैं। परिस्थितियों को पहले बदलने जाओगे तो बखेड़े में ही पड़ोगे!

मैंने भी यही किया है। समाधि संयम तक में विरक्ति विधि से ही रहा। समाधि संयम पूर्वक समझने के बाद ही मैंने समाधान समृद्धिपूर्वक जीने की पद्धति को जोड़ा । ज्ञान स्पष्ट होने से पद्धति "निश्चित" हो जाता है। पद्धति को बदलने से ज्ञान स्पष्ट नहीं होता।

समाधान संपन्न होने के लिए हर व्यक्ति के पास अधिकार है, कल्पनाशीलता के रूप में। समझने के लिए हर परिस्थिति अनुकूल है। मध्यस्थ दर्शन के अनुसंधान के सफल होने के आधार पर उसके साथ समाधान संपन्न होने का स्त्रोत भी जुड़ गया है। इस स्त्रोत के आधार पर हर व्यक्ति के पास, हर परिस्थिति में समाधान तक पहुँचने का रास्ता बन गया है।

समाधान संपन्न होने के बाद समृद्धि के लिए प्रारुप हर व्यक्ति में अपने में से ही उद्‌गमित होगा।

"समाधान प्राथमिक है" इसको स्वीकारने में न कोई पैसा जाता है, न पद जाता है, न कोई परेशानी होता है। "समाधान प्राथमिक है" इसको स्वीकारने में न दरिद्रता अड़चन है, न अमीरी अड़चन है, न दुष्टता अड़चन है, न निकृष्टता अड़चन है। इससे ज्यादा क्या बताया जाए?

हर परिस्थितियाँ समाधान संपन्न होने को सफल बनाने के लिए सहयोगी ही हैं। इस बात की महिमा यही है। यदि हम समाधान की ओर गतिशील होते हैं तो परिस्थितियाँ हमारे अनुकूल बनते जाते हैं। प्रतिकूल बनते ही नहीं हैं। **केवल स्वयं में यह प्राथमिकता को तय करने की बात है "अनुभव प्रमाण ही समाधान है।" जब "अध्ययन" की आवश्यकता स्वयं में निश्चित होती है, तो ध्यान लगता ही है। जब तक यह निश्चित नहीं होता ध्यान नहीं लगता।**

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

समाधान लक्ष्य की प्राथमिकता, अध्ययन के लिए 'ध्यान'

प्रश्नः समाधान लक्ष्य की प्राथमिकता को स्वयं में स्थिर करने का क्या उपाय है?

उत्तरः इसके लिए सहज उपाय है "श्रेष्ठता प्रकरण"। श्रेष्ठता को स्वीकारना या "मानना" पड़ता है।

जीव चेतना में हम जो कुछ भी करते हैं उसका गम्य स्थली "सुविधा संग्रह" ही है। पहले स्वयं में यह निष्कर्ष निकलना।

सुविधा संग्रह में हमको अच्छा लगता तो है, लेकिन इसका कोई तृप्ति बिन्दु नहीं है। सुविधा संग्रह का तृप्ति बिन्दु आज तक किसी को मिला नहीं है। आगे किसी को मिलने की सम्भावना भी नहीं है। इस निष्कर्ष में पहुँचना।

यदि आप इस जगह में पहुँच जाते हैं तो मानव चेतना की आप में अपेक्षा बन जाती है।

मानव चेतना की अपेक्षा बनने के बाद उसको पाने के लिए जो हमारा मन लगता है उसको "ध्यान" कहते हैं। लगाने के लिए हमारे पास तन, मन और धन होता है। इसमें से मन लगाने का जो भाग है, उसको "ध्यान" कहते हैं। अध्ययन के लिए ध्यान देने की आवश्यकता है। उसका मतलब यही है मन लगाना। यही 'मनन' है, शोध है।

अध्ययन में यदि आपका मन लगता है तो शनैः शनैः आप मानव चेतना के बारे में स्पष्ट होते जाते हैं। एक दिन उसी क्रम में वह बिन्दु आता है, जब मानव चेतना आपको "स्वत्व" के रूप में स्वीकार हो जाती है। उसी बिन्दु से जागृति प्रगट होती है। वही जीवन की दसों क्रियाओं का प्रमाण है। अध्ययन में मन लगना यदि पूरी ईमानदारी से हो जाता है तो वह मानव चेतना में प्रवृत्त होने का पूरा रास्ता बना देता है।

अध्ययन करने के लिए आपको कोई अतिवाद करने की

आवश्यकता नहीं है। आप अभी जो कर रहे हो उसके प्रति त्याग वैराग्य की कोई बात आता नहीं है। आप अध्ययन करते रहो कोई एक जगह/क्षण ऐसा आएगा जब मानव चेतना आपके लिए स्वीकार हो जायेगी। उस बिन्दु तक अध्ययन है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अध्ययन में एकाग्रता

अध्ययन में एकाग्रता की आवश्यकता है। एकाग्रता के लिए अध्ययन का लक्ष्य निश्चित करना आवश्यक है। **बिना अध्ययन का लक्ष्य निश्चित हुए, एकाग्रता नहीं आ सकती, अध्ययन में मन नहीं लग सकता।**

मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन का लक्ष्य है स्वयं में विश्वास संपन्न होना और सर्वशुभ सूत्र व्याख्या स्वरूप में जीना। इस लक्ष्य के साथ अध्ययन करते हैं, तो मन लगता है।

(अप्रैल 2009)

स्वयं प्रमाणित हो सकते हैं – इस स्थिरता के साथ अध्ययन संभव है

आदर्शवाद ने शब्द को प्रमाण माना। उसके बाद आप्त वाक्य को प्रमाण माना। उसी के अंतर्गत प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम को प्रमाण माना। अंततोगत्वा शास्त्र को प्रमाण माना। इस तरह आदर्शवाद बनाम ईश्वरवाद ने जीवित मानव को प्रमाण नहीं माना।

भौतिकवाद या प्रचलित विज्ञान ने यंत्र को प्रमाण माना। जीवित मानव को प्रमाण नहीं माना।

मानव कोई सच्चाई का प्रमाण हो सकता है, यह आदर्शवाद

17_samvaad_part2_2013_c

और भौतिकवाद दोनों ने नहीं पहचाना। दोनों व्यक्तिवादिता की ओर ही ले जाते हैं। व्यक्तिवादिता के रहते दूसरे मानव को प्रमाण मानना बनता ही नहीं है।

सह अस्तित्व ही परम सत्य है। सह अस्तित्व में अनुभव ही सत्य का परम प्रमाण है। परम का मतलब जिससे ज्यादा नहीं हो सकता, न उससे कम में काम चलेगा। सह अस्तित्व में अनुभव मानव ही कर सकता है। अनंत मानवों के अनुभव करने का स्त्रोत सह अस्तित्व ही है। सह अस्तित्व के अलावा अनुभव करने की कोई वस्तु नहीं है। जागृत मानव ही सत्य का प्रमाण अपने जीने में प्रस्तुत करता है। यह दूसरे व्यक्तियों के अध्ययन के लिए प्रेरणा स्त्रोत बनता है।

हर मानव प्रमाण सहज कार्य को मानने के फलस्वरूप ही अध्ययन सम्भव है। "अध्ययन कराने वाला प्रमाणित है और अध्ययन पूर्वक प्रमाणित हो सकता हूँ" जब तक यह स्वयं में स्थिर नहीं होता, तब तक यह अनुसंधान ही है जो अंधेरे में हाथ मारने वाली बात है। मानव को प्रमाण का आधार मानने पर अंधेरे में हाथ मारने वाली बात नहीं रहती।

अस्तित्व स्वयं सह अस्तित्व स्वरूपी है। यह स्थिति सत्य, वस्तु स्थिति सत्य और वस्तुगत सत्य के संयुक्त स्वरूप में है। ये तीनों मिलकर सह अस्तित्व है। स्थिति सत्य से व्यापक वस्तु में संपृक्तता इंगित है। वस्तु स्थिति सत्य से दिशा, देश और काल इंगित है। दो ध्रुवों के साथ दिशा की पहचान होती है। तीन ध्रुवों से देश की पहचान होती है। क्रिया की अवधि ही काल है। वस्तुगत सत्य से रूप, गुण, स्वभाव और धर्म इंगित है।

विज्ञान का आधार सह अस्तित्व स्वरूपी सत्य होना चाहिए

या अभी जो सोचा जा रहा है वह होना चाहिए? आप ही सोच लो!

(दिसम्बर 2008)

अनुभव करना हर व्यक्ति के लिए समीचीन है

अनुभव करना हर व्यक्ति के लिए समीचीन है। समीचीन का मतलब निकटवर्ती है।

अनुभव करना उतना ही दूर है, जितना तीव्रता से हम अनुभव करना चाहते हैं। चाहत में वरीयता आने के बाद देर नहीं लगता। "अनुभवपूर्वक ही मैं मानवीयता को प्रमाणित कर सकता हूँ" जब यह निश्चयन स्वयं में हो जाता है तब अध्ययन के लिए मन लगना शुरू होता है। जब तक यह निश्चयन नहीं होता, तब तक प्रस्ताव में कमी निकालने में ही मन लगा रहता है। कमी निकालना कोई अध्ययन नहीं है।

सच्चाई कोई मानव से दूर नहीं है। इसीलिये सच्चाई में अनुभव करना मानव के लिए निकटवर्ती है। सच्चाई को स्वीकारने में मानव आनाकानी करता है, उसके लिए इधर उधर का भटकाव रखा हुआ ही है। अध्ययन के लिए मन लगाना ही पड़ता है। अध्ययन के लिए मन लगाना ही पुरुषार्थ है। अर्थ यदि अस्तित्व में वस्तु के स्वरूप में समझ में आ जाता है (साक्षात्कार, बोध), तो आदमी पार पा जाता है। मैंने भी यही भर किया है। अस्तित्व में मैंने वास्तविकताओं को पहचाना है, उसीके अनुरूप परिभाषाएं दी हैं। परिभाषाओं से अस्तित्व में वस्तु इंगित होती है, मानव को। इंगित होने का अधिकार हर व्यक्ति में कल्पनाशीलता के रूप में रखा है। हर मानव जीवन कल्पनाशीलता को प्रगट करता है। यह हर मानव की मौलिकता है। ईश्वरवाद ने उपदेश विधि से इस मौलिकता का अवमूल्यन किया। भौतिकवाद ने भोगवाद को ला कर मानव की इस मौलिकता का

निर्मूल्यन किया। अब सार्थकता क्या है आप सोच लो!

अनुभवमूलक विधि से अनुभवगामी पद्धति (अध्ययन विधि) को तैयार करने का काम मैंने किया है। यह संसार में अभी तक नहीं हो पाया था। सूचना, सूचना का पठन (श्रवण), पठन से मनन पूर्वक अध्ययन, अध्ययन के बाद वस्तु से 'तदाकार' (साक्षात्कार, बोध) होना, वस्तु के साथ अपने संबंध की पहचान होना, फ़िर जीने में संबंधों का निर्वाह होना यही कुल मिलाकर क्रम है।

प्रश्नः हम जब मध्यस्थ दर्शन के आपके प्रस्ताव को सुनते हैं, सोचते हैं तो कभी कभी हमको लगता है, "कुछ समझ में आ गया"। वह क्या है?

उत्तरः वह आपकी इस प्रस्ताव के प्रति स्वीकृति है, जो समग्र के साथ अभी क्रमबद्ध नहीं हुआ है। समग्र के साथ क्रमबद्ध होने का सिलसिला अभी शुरू नहीं हुआ। वह सिलसिला बनने का तड़प आप में रखा हुआ ही है। वह सिलसिला बनने के लिए एकमात्र विधि अध्ययन ही है। एक एक बात का जो आप अध्ययन करते हो, उसका एक दूसरे के साथ संबंध सूत्र फैलता है। वह संबंध सूत्र अनुभव में जा कर स्थिर होता है। 'अध्ययन' का तात्पर्य साक्षात्कार होने, बोध होने में है। यही 'तदाकार' होता है।

अनुक्रम से अनुभव होता है। मानव जीव अवस्था के साथ कैसे अनुप्राणित है, संबंधित है? जीव अवस्था प्राण अवस्था के साथ कैसे अनुप्राणित है, संबंधित है? प्राण अवस्था पदार्थ अवस्था के साथ कैसे अनुप्राणित है, संबंधित है? पुनः इन चारों अवस्थाओं का क्या अन्तर संबंध है? शरीर का जीवन के साथ संबंध, जीवन का जीवन के साथ संबंध ये सब जुड़ी हुई कड़ियों को पहचानना ही अनुक्रम है।

प्रश्न : साक्षात्कार हुआ है, इसका क्या प्रमाण है?

उत्तर : साक्षात्कार का मतलब है अध्ययन पूर्वक स्वयं में हुई स्वीकृति के अनुरूप अस्तित्व में वास्तविकताओं के साथ तदाकार होना।

समझ में आना ही साक्षात्कार होने का प्रमाण है। अस्तित्व में वास्तविकताओं के प्रयोजन को पहचान पाना और निर्वाह कर पाना ही साक्षात्कार होने का प्रमाण है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

आत्मसात करना एक अभ्यास है.

आत्मसात करना एक अभ्यास है। यही अध्ययन में ध्यान देने का मतलब है। आत्मसात होने का मतलब है, जीवन में यह "साध्य" हो जाना। सह अस्तित्व दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान यह जीवन में, से प्रमाणित होना है। यही आत्मसात होने का मतलब है। धीरे धीरे आप इसको अभ्यास करेंगे, क्या इस पर मैं विश्वास करूँ?

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

ज्ञानगोचर विधि

ज्ञान व्यापक वस्तु है। ज्ञान के आधार पर ही चेतना है। जीव चेतना में मानव शरीर को जीवन मान करके जीता है जिससे मानव टूटता है। वही मानव जीवन को समझता है। जीवन में ही ज्ञान होता है। "ज्ञानगोचर विधि" से ही जीवन समझ में आता है, सत्य समझ में आता है, सह अस्तित्व समझ में आता है। "कार्य विधि" से यह समझ में नहीं आता है। ज्ञानगोचर विधि से ही जीवन को समझा जाए, सह

 17_samvaad_part2_2013_c

अस्तित्व को समझा जाए, विकास क्रम, विकास, जागृति क्रम, जागृति को समझा जाए। फिर जिया जाए ठसके से!

प्रश्न : ज्ञानगोचर से क्या आशय है?

उत्तर : जो संवेदनाओं के पकड़ में न आये, पर फिर भी समझ में आये वह ज्ञानगोचर है। ज्ञान **समझ** में आता है, **चक्षु** में नहीं आता। जैसे किसी वस्तु में भार है, वह समझ में आता है पर वह दिखाई नहीं देता है। भार इस तरह ज्ञानगोचर है। यहीं से शुरुआत है। जैसे सुख, विश्वास, समाधान, व्यवस्था, यह सब ज्ञान–गोचर है।

(अनुभव शिविर, जनवरी 2012, अमरकंटक)

"ज्ञानगोचर" को प्राथमिकता दी जाए

समझने की प्यास हम सभी में एक जैसी है। समझने के लिए कुछ बातें दृष्टिगोचर और ज्ञानगोचर संयुक्त रूप में हैं। कुछ बातें केवल ज्ञानगोचर से ही तृप्त होती हैं। ''ज्ञानगोचर भाग को समझ गए हैं'', इस बात का प्रमाण केवल व्यवहार में ही आता है। व्यवहार में समाधान प्रमाणित होना ही अखंड समाज का पहला सूत्र है। ज्ञानगोचर सभी का स्वत्व बनने की आवश्यकता है। ''इसको क्या मैं केवल मान लूं?'' ऐसा शंका करना यहाँ उचित नहीं है। ''यह मुझे समझ में आया या नहीं समझ में आया'' इस तरह अध्ययन क्रम में चलना है। ज्ञानगोचर को अपना स्वत्व बनाने के लिए ध्यान देना ही पड़ता है। इसमें दूसरे द्वारा स्वयं पर कुछ आरोपण का मतलब ही नहीं है। दूसरे से सूचना है। ध्यान देना आप ही को है, समझना आप ही को है। मेरी समझदारी मेरा ही स्वत्व है, उसकी सूचना आप तक पहुँचता है। सूचना है कैसे मैं इसको पा गया, कैसे मैं इसको समझ गया, कैसे इसको जी गया। मेरे जीने से आप सहमत हो गए।

www.madhyasth.org

समझने में भी आप सहमत हो गए। समझ को आपका अपना स्वत्व बनाने में कहीं न कहीं देरी है। ज्ञानगोचर को स्वत्व बनाने के बाद आप दूसरों को समझाने का ताना बाना बनाइये। पहले दूसरों को समझाने का ताना बाना बनाना आपके समझने में अड़चन बन जाता है। मानव की कल्पनाशीलता में समझने का ताना बाना भी आता है, समझाने का ताना बाना भी आता है। ये दोनों साथ साथ रहता है। इसमें समझने के पक्ष को प्राथमिक बनाया जाए। ''मैं इन्द्रियगोचर संपन्न हूँ, ज्ञानगोचर संपन्न हो सकता हूँ'' इस विश्वास के साथ चलें, तो ध्यान देने पर बात बन जायेगी। इसमें कोई काली दीवाल आएगा नहीं। यह सबसे मासूम, सबसे प्राथमिक, सर्वप्रथम समझने की चीज है। यह समझ में आने के बाद सब हल हो जाता है।

पारगामीयता का मतलब है सब में निर्बाध प्रवेश पूर्वक चले जाना। विगत में ब्रह्म के बारे में बताया था ''यह सब में समा गया है।'' समाने वाली बात गलत निकल गयी। ''समाने'' का मतलब ऐसा निकलता है जिसें समाया उसमें रहा, बाकी में नहीं रहा। यहाँ बताया है ब्रह्म (सत्ता) जड़ चैतन्य वस्तु में पारगामी है। मेरे अनुसंधान का पहला प्रतिपादन यही है। जड़ चैतन्य में पारगामी होने से जड़ में ऊर्जा सम्पन्नता और चैतन्य में ज्ञान सम्पन्नता है। जड़ प्रकृति में मूल ऊर्जा यही है। साम्य ऊर्जा उसको नाम दिया है। चैतन्य प्रकृति में ज्ञान यही है। ज्ञान जीव संसार में चार विषयों में प्रवृत्ति और संवेदना के रूप में प्रकट है। मानव में संवेदनाएं प्रबल हुआ तथा कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता ज्ञान संपन्न होने के लिए प्रवृत्त हुआ। ज्ञानगोचर को स्वत्व बनाने के लिए मानव के पास कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता स्वाभाविक रूप में प्रकृति प्रदत्त है। कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता की तृप्ति के लिए ही पूरा ज्ञानगोचर और इन्द्रियगोचर का प्रयोग है। इन्द्रियगोचर का प्रयोग करने में मानव पारंगत है। अब ज्ञानगोचर भाग को जोड़ने की आवश्यकता है।

उसको जोड़ने की आवश्यकता क्यों है? सुखी होना। समाधान पूर्वक सुखी होना होता है। समस्या पूर्वक दुखी होना होता है। अब प्रोत्साहन है ज्ञानगोचर को प्राथमिकता दी जाए। सारा उन्माद इन्द्रिय गोचर विधि से है। मानव का अध्ययन इन्द्रिय गोचर विधि से हो नहीं पाता। सत्ता में संपृक्त प्रकृति को समझना, जीवन को समझना, सार्वभौमता को समझना, अखंडता को समझना, प्रबुद्ध पूर्ण होना यह ज्ञानगोचर विधि से ही होगा।

मानव जो कुछ भी बातचीत करता है वह ज्ञान की अपेक्षा में ही करता है। मानव बहुत सारे भाग में ज्ञानगोचर विधि से जीता ही है। विषयों और संवेदनाओं में भी मानव जो अभी जीता है, वह भी ज्ञानगोचर विधि से ही जीता है। पहले कल्पना से पहचानता है, फिर उसको शरीर द्वारा करता है। कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता ज्ञानगोचर ही है। **कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता का प्रयोग चेतना विकास के लिए होने की आवश्यकता है। इस पर लगने की जरूरत है। यही मूल मुद्दा है।**

(दिसम्बर 2008)

अध्ययन के लिए इच्छा बहुत प्रबल होना आवश्यक है

मानव अपनी इच्छा से ही भटकता है और अपनी इच्छा से ही सही मार्ग पर चल देता है।

अध्ययन के लिए आपकी इच्छा बहुत प्रबल होना आवश्यक है, तभी अध्ययन हो पाता है। ''अनुभव होता है'' इस बारे में आश्वस्त होने की आवश्यकता है। अनुभव के बारे में आश्वस्त हो गए और अध्ययन की इच्छा प्रबल हो गयी तो वह प्रमाण तक पहुँचेगा ही। प्रमाण पर पहुँच गए तो वह परम है, उससे आदमी के हिलने वाली कोई जगह नहीं है। प्रमाण से ज्यादा

महिमा किसी वस्तु की नहीं है।

तुलन साक्षात्कार की पृष्ठ भूमि है। प्रमाणित होने की अपेक्षा में हम (न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि से) तुलन करते हैं (मनन प्रक्रिया) तो साक्षात्कार होता है। **यह अपने में देखने की बात है।** किताब यहाँ से पीछे छूट गया। प्रमाणित होने की अपेक्षा नहीं है तो साक्षात्कार होगा नहीं। ''हम अध्ययन करेंगे, बाद में स्वयं प्रमाणित होने के बारे में सोचेंगे''। या ''हम अनुभव करेंगे बाद में प्रमाणित होने का सोचेंगे।'' यह सब शेखी समाप्त हो जाती है। **अनुभव होने के पहले स्वयं प्रमाणित होने की इच्छा के बिना हमें साक्षात्कार ही नहीं होगा।** आगे बढ़ने के मार्ग में यह बहुत बड़ा रोड़ा है। हमारी इच्छा ही नहीं है तो हमारी गति कैसे होगा? प्रमाणित होने की अपेक्षा या इच्छा के साथ तुलन (मनन प्रक्रिया) करने पर साक्षात्कार होता ही है। साक्षात्कार होता है तो बोध होता ही है। बोध होता है तो अनुभव होता ही है। अनुभव होता है तो प्रमाण होता ही है। प्रमाणित होने की आवश्यकता के आधार पर ही अध्ययन होता है।

अध्ययन की परिभाषा ही है अधिष्ठान की साक्षी एवं अनुभव की रौशनी में स्मरण सहित किया गया सभी प्रयास अध्ययन है। अनुभव की रौशनी से आशय है प्रमाणित होने की आवश्यकता। अध्ययन होता है तभी साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार होता है तो फिर रुकता नहीं है। इसको अच्छी तरह समझने की जरूरत है। अभी आदमी जहाँ अटका है, वहाँ से उद्धार होने का रास्ता है, यहाँ से।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

ध्यान देने का मतलब

700 करोड़ मानवों के सभी प्रश्नों के लिए एक ही चाबी है।

समझना है और प्रमाणित करना है तो सभी प्रश्न ही समाप्त हैं। समझना नहीं है, प्रमाणित नहीं करना है तो प्रश्न ही प्रश्न है।

समझ में आते तक मानव द्वारा अध्ययन करना या अनुसंधान करना ही उसकी स्वभाव गति है। समझ में आने पर (अनुभव होने पर) प्रमाणित करना ही मानव की स्वभाव गति है।

समझना = शक्तियों का अंतर्नियोजन। प्रमाणित करना = शक्तियों का बहिर्गमन। **समझने के लिए ध्यान देने का अर्थ है, कल्पनाशीलता को लगाना।** परंपरागत ध्यान विधियों से इसका कोई लेन देन ही नहीं है। कल्पनाशीलता का सह अस्तित्व ''वस्तु'' में (न कि ''सह अस्तित्व'' शब्द में) तदाकार होना ही अध्ययन के लिए ध्यान देना है। सह अस्तित्व वस्तु है चारों अवस्थाएं ''त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी'' स्वरूप में होने से है। **शब्द के अर्थ में तदाकार होना होता है। ध्यान देने का मतलब इतना ही है।**

तदाकार होते हैं तो (साक्षात्कार) बोध होता है, बोध होता है तो अनुभव होता है। अनुभव होता है तो प्रमाण होता है।

सुनना, समझना (साक्षात्कार, बोध) और प्रमाणित करना (अनुभव पूर्वक) यह क्रम है। बारम्बार उलझ जाते हैं, मतलब समझे नहीं हैं। समझे नहीं है, मतलब सुने नहीं हैं। प्रमाणित नहीं हुए हैं, मतलब समझे नहीं हैं। मूल में ''सुख की निरंतरता'' के लिए यह क्रम है। समाधान हुए बिना सुख की निरंतरता होता नहीं है। समाधान होने पर प्रमाण होता ही है।

समझना पूरा होते तक जिज्ञासा ही है। विद्यार्थी की समझ पूरा होते तक गुरु ही जाँचता है।

समझ पूरा होने के बाद शिष्य स्वयं अपने समझे होने का

सत्यापन करता है। गुरु अपने शिष्य के समझदार होने का सत्यापन नहीं करता। कोई एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के समझदार होने का सत्यापन करे यह जीव चेतना की बात है। मेरे विद्वान होने का आप प्रमाण पत्र लिख कर दें यह जीव चेतना है। यह सब कुल मिला करके सुविधा संग्रह में ही समीक्षित होता है।

(अप्रैल 2011, अमरकंटक)

न्याय की "चाहत" और न्याय का "प्रमाण"

अभी की स्थिति में "न्याय" चाहिए, पर प्रिय, हित, लाभ से छूटे नहीं हैं। प्रिय, हित, लाभ शरीर संवेदनाओं से जुड़ी तुलन दृष्टियाँ हैं। इसलिए हम "न्याय" को भी (संवेदनाओं) प्रिय, हित, लाभ के साथ जोड़ने लग जाते हैं। प्रिय, हित, लाभ दृष्टियों के साथ भय, प्रलोभन और सम्मोहन जुड़ा ही रहता है। प्रिय, हित, लाभ दृष्टियों के साथ न्याय कुछ होता नहीं है। हम राजी गाजी से किए गए विन्यास को न्याय मान लेते हैं पर कुछ समय बाद वह गलत सिद्ध होता ही है।

न्याय समझौता नहीं है।

"न्याय" शब्द द्वारा न्याय वास्तविकता की शाश्वतीयता इंगित है। इंगित होने के बाद उसका कल्पना, उसके लिए विचार, और उसका चित्त में साक्षात्कार यह क्रम है। यह तीनों होने पर बोध और अनुभव होता ही है। उसके बाद न्याय प्रमाणित करने की योग्यता आती है।

संवेदनाओं को राजी रखने या उनका दमन करने के स्थान पर संबंधों पर ध्यान देने पर न्याय की स्थिति बनती है। संबंध अस्तित्व में वास्तविकता है। संबंधों के नाम लेना तो हमारे

अभ्यास में आ चुका है। जैसे माता, पिता, भाई, बहन, गुरु आदि। संबंधों के प्रयोजनों को पहचानने की बात अभी शेष है। **संबंधों का प्रयोजन है व्यवस्था में जीना।**

जिस क्षण से माता पिता ने अपनी संतान से संबंध को पहचाना, ममता और वात्सल्य उनमें अपने आप से उमड़ता है। उसके लिए कोई अलग से सीख/शिक्षा लेने की ज़रूरत नहीं है। ममता, वात्सल्य मूल्य जीवन में स्थापित/निहित हैं, तभी तो संबंधों की पहचान होने पर वे प्रगट हैं।

अस्तित्व में व्यवस्था का स्वरूप समझ में आने पर संबंधों की पहचान होना और निर्वाह होना स्वाभाविक हो जाता है। समाधान समृद्धिपूर्वक हम अस्तित्व की व्यवस्था में जी सकते हैं, भागीदारी कर सकते हैं और उपकार कर सकते हैं।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

अध्ययन काल में मानवीय आचरण का महत्व

जीवन ज्ञान और सह अस्तित्व ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान संपन्न होने पर हम "समझदार" हुए। समझदारी के साथ मानवीयतापूर्ण आचरण को जोड़ने से हम "ईमानदार" हुए। इस तरह ईमानदारी जोड़ने पर "जिम्मेदारी" और "भागीदारी" आती ही है।

हम शरीर से श्रम कुछ भी न करें और सुविधा संग्रह की बहुत सी चीजें इकठ्ठा कर लें इसका नाम है "बुद्धि जीविता"। बुद्धि जीवियों को समझदारी के अनुरूप ईमानदारी स्थापित करने में ही सारी देर लगती है। ईमानदारी के बिना समझदारी पूरा होता नहीं है।

"समझदारी" यदि स्वीकृत होती है, तो उसका प्रमाण "आचरण" में ही होगा और कहीं होना नहीं है। यदि आचरण में समझदारी आ

जाती है तो हम ईमानदार हुए।

प्रिय, हित, लाभ पूर्वक जीना मानव में "चेतना" का एक स्तर है। जिसको "जीव चेतना" कहा। न्याय, धर्म, सत्य पूर्वक जीना मानव में "चेतना" का दूसरा स्तर है जिसको "मानव चेतना" कहा है। इन दोनों के बीच में अध्ययन है। जीव चेतना से मानव चेतना में संक्रमण होने की बात है। जीव चेतना में संवेदनाओं के वशीभूत जीना होता है। मानव चेतना में संज्ञानीयता पूर्वक जीना होता है। संज्ञानीयता में संवेदनाएं नियंत्रित रहती हैं।

प्रिय, हित, लाभ पूर्वक जीव चेतना में जीते हुए मानव का लक्ष्य "सुविधा संग्रह" रहता है। उसके स्थान पर "समाधान समृद्धि" को लक्ष्य बनाया जाए। सह अस्तित्व ज्ञान और जीवन ज्ञान हमको स्वीकार होते हुए भी हम क्यों नहीं आगे बढ़ पा रहे हैं? यह सोचने पर पता चलता है, इसका कारण है हम मानवीयतापूर्ण आचरण को जोड़ नहीं पा रहे हैं। विचार विधि से समाधान समृद्धि को लक्ष्य बनाने से आचरण का जोड़ बैठ जाता है।

हमें जो पता लगता है "हम समझे तो हैं, पर प्रमाणित नहीं है।" **इस खाई को भरने की विधि एक ही है – मानवीयतापूर्ण आचरण को वैचारिक रूप में स्वयं में जोड़ पाना।** इतना सूक्ष्म है यह! वैचारिक रूप में "मानवीयतापूर्ण आचरण" को इस प्रकार जोड़ने से हम तत्काल ईमानदारी के पक्ष में हो जाते हैं। इसका विधि यही है सुविधा संग्रह लक्ष्य के स्थान पर समाधान समृद्धि लक्ष्य को स्वयं में स्थापित कर लेना। जहाँ मानवीयतापूर्ण आचरण विचार में जुड़ता है हम उसे प्रमाणित करने लगते हैं। मानवीयतापूर्ण आचरण की अनुकरण, स्वीकृति एवं अभ्यास से ही अध्ययन सफल होता है।

ईमानदारी के साथ ही समझदारी पूरी प्रमाणित होती है।

समझदारी और ईमानदारी आने पर जिम्मेदारी और भागीदारी आने में देर नहीं लगती।

हर वस्तु का आचरण ही उसके मौलिक रूप में "होने" का प्रमाण है। उसी तरह मानवीयतापूर्ण आचरण ही मानव के मौलिक रूप में होने का प्रमाण है।

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

लाभोन्माद, भोगोन्माद, कामोन्माद के चक्रव्यूहों से मुक्ति

स्वभाव गति को बनाए रखते हुए अध्ययन के लिए ध्यान देने की आवश्यकता है। आवेशित गति में अध्ययन नहीं होता। आवेश पीड़ा पैदा करने का स्त्रोत है। आज की स्थिति में जो शिक्षा दी जा रही है, वह आवेश पैदा करने के अर्थ में है। लाभोन्माद, भोगोन्माद, कामोन्माद द्वारा आवेशित कराने के लिए ही आजकल की पूरी शिक्षा है। उन्माद एक आवेश ही है। ये तीन उन्माद कितने बड़े चक्रव्यूह हैं, आप सोच लो! इन चक्रव्यूहों से बच कर हमको व्यवहारवादी समाज व्यवस्था, आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था और मानव संचेतनावादी मानसिकता की तरफ़ आना है।

प्रश्नः इन चक्रव्यूहों से हम कैसे छूट सकते हैं?

उत्तरः हमारे जीवन में अतृप्ति या खोखलापन है। चाहे लाभ का आवेश हो, चाहे काम का आवेश हो, चाहे भोग का आवेश हो। आवेश को हम अपनी मानसिकता में सदा के लिए स्वीकार नहीं पाते हैं। जैसे लाभ का आवेश "सही" है यह हम किसी न किसी जगह आ कर नकार ही देते हैं। तीनों में से कोई भी आवेश "सही" है यह हम किसी न किसी जगह आ कर नकार ही देते हैं। तीनों में से कोई भी आवेश "सही" है यह हम सदा के लिए मान नहीं सकते! **यह जीवन**

में निहित "सच्चाई के शोध" का स्त्रोत है। यह "सच्चाई की शोध" का स्त्रोत जो जीवन में बना हुआ है, उसी आधार पर हम इन चक्रव्यूहों से बच कर निकल सकते हैं। कैसे निकलेंगे? बिना घायल हुए या घायल करके हम जो सुविधा संग्रह विधि से जी रहे हैं, उससे समाधान समृद्धि विधि से जीना ज्यादा श्रेष्ठ है। यह हमको भी स्वीकार होना, हमारे परिवार जनों को भी स्वीकार होना आवश्यक है।

(अगस्त 2006, अमरकंटक)

अध्ययन में गति पूर्व स्थितियों को छोड़कर ध्यान देने से बनता है

प्रश्नः हम समझने में अटक कैसे जाते हैं? सीधे सीधे समझ क्यों नहीं आ जाता?

उत्तरः इसका कारण है पूर्वस्मृतियाँ। मानव के पास जीवन में पूर्वस्मृतियाँ रहते ही हैं। **हम जब मानव चेतना संबंधी बात का अध्ययन करना शुरू करते हैं, उसमें जब कभी भी विमुखता आती है वह पूर्वस्मृतियों के इसके विपरीत होने से होती है।** पूर्वस्मृतियों के इसके अनुकूल होने पर यह सतत् होता है।

प्रश्नः जीव चेतना में जी हुई पूर्वस्मृतियाँ इसके अनुकूल कैसे हो सकती हैं?

उत्तरः पूर्वस्मृतियों में हमारी शुभ के लिए "सहज अपेक्षा" को लेकर भी स्मृतियाँ हैं। हर व्यक्ति के पास शुभ के पास जाने का रास्ता, चाहे छोटा हो, पतला हो, संकीर्ण हो पर बना हुआ है। **संवाद करते हुए, शुभ सहज अपेक्षा से जुड़ी स्मृतियों पर ध्यान दिलाने की आवश्यकता है। प्रतिकूल पूर्वस्मृतियों को आगे**

बिछाने से हम अटक जाते हैं।

इस आधार पर मैंने यह निष्कर्ष निकाला यदि हम मानव चेतना संबंधी बात शुरू करते हैं, तो पीछे की जीव चेतना संबंधी बातों को लेकर जितनी भी स्मृतियाँ हैं, उनको थोड़ी देर के लिए रोक के रखा जाए। इसको साथ मिलाने का प्रयास नहीं किया जाए। इसको साथ तौलने का प्रयत्न न किया जाए। क्योंकि ऐसा करने से मानव चेतना संबंधी बात का अवगाहन करने में अवरोध होता है। **पूर्वस्मृतियों को छोड़कर यदि वस्तु पर ध्यान दिया, वस्तु के प्रयोजन पर ध्यान दिया तो उससे अपना गति बनता है।** इस विकल्प के प्रस्ताव से कोई वास्तविकता इंगित है, आपकी कल्पना यदि उस तक पहुँचा देता है, तो उसको स्वीकारने, बोध करने, अनुभव करने और जीने की कड़ियों के साथ समझ में आता है। यदि ऐसा नहीं करते हैं, तो केवल सुनने वाली बात हो गयी, सुनते हैं फ़िर भूल भी जाते हैं। इस तरह प्रयोजन के साथ हम जुड़ते नहीं हैं।

एक सिद्धांत है, सुना हुआ चीज भूल सकता है। समझा हुआ चीज हमको भूल नहीं सकता।

प्रश्न : अपने जीने में हम आज तक गलतियाँ किए हैं फ़िर अब नए सिरे से शुरुआत कैसे करें? उनका प्रभाव तो है ही मुझ पर। उसको कैसे अलग करके रखा जाए?

उत्तर : भ्रमित अवस्था में जीता हुआ आदमी गलतियाँ करने में विवश होता है, गिरफ्त में नहीं होता। क्योंकि सच्चाई के लिए खिड़की कहीं न कहीं हर व्यक्ति में खुली ही रहती है। सहीपन की अपेक्षा में ही हम गलती करते हैं। **सहीपन की स्वयं में अपेक्षा ही अध्ययन का आधार है।** यह सूत्र है। आपको मैंने कुख्यात डाकू देवी सिंह के बारे में बताया था जिससे मैं मिला था। उसने बीसियों

खून किए होंगे। उससे मैंने पूछा क्या अपने बच्चों को यही करवाना चाहोगे? उसने उत्तर दिया "नहीं, यह वाहियात काम है। मेरी मजबूरी है, जो मैं इसे करता हूँ। यदि मैं उनको नहीं मारूँगा तो वे मुझे मार देंगे।"

आप अपनी जिन्दगी में बहुत कुछ पहले से सुने हैं, पढ़े हैं, स्वीकारे हैं, अस्वीकारे हैं। कुछ बातों में आप विवश हैं, कुछ में प्रसन्न हैं ये सब के साथ आप गुजरे ही हैं। इन गुजरी हुई बातों के साथ आप पूरा संतुष्ट नहीं हुए हैं। पूरा संतुष्ट होने के लिए आपके सामने यह मध्यस्थ दर्शन का प्रस्ताव है। **पूरा संतुष्ट होने का जो यह प्रस्ताव है उसको ठीक से सुनना होगा, जीने की कड़ियों के साथ सुनना होगा तभी आप सार्थक रूप में सुन पायेंगे, समझ पायेंगे।** इस बात को आपको स्वयं में तय करना होगा। **जब यह तय होता है तब पूर्वस्मृतियाँ स्थगित होती है।**

सच्चाई को समझते हुए अपनी विवशता को बारम्बार रास्ते में ला कर बिछाना उचित होगा या अनुचित होगा? इस तरह विवशता को बार बार आगे लाना समझने में लगने वाले समय को बढ़ा देता है। **इसलिए यदि शीघ्रता से समझना है तो आप इस उपाय को अपना सकते हैं अपनी विवशताओं से संबंधित जो बातें हैं, उनको स्थगित करके रखा जाए।** प्रस्ताव को समझने के बाद फ़िर सोचें। चाहत के रूप में हम सभी ने शुभ को ही चाहा है। अच्छेपन की तृषा चाहत के रूप में हर व्यक्ति में है। जब अच्छेपन को स्वीकारने जाते हैं, तो पूर्वस्मृतियाँ परेशान करती हैं "हमने ऐसा सोचा था", "ऐसा किया था", "दूसरे ने ऐसा किया था", आदि। ये गति में अवरोध करते हैं।

सर्वशुभ का स्वरूप जब समझ में आ जाता है तो विवशताएँ अपने आप से मिट जाती हैं। पत्ते का तने से चिपके रहने का ताकत

जब तक रहता है वह चिपके रहता है। जब कभी भी वह ताकत समाप्त हो जाता है, पत्ता अपने आप से नीचे झड़ कर गिर जाता है। इस तरह जो हमारे पुराने निरर्थक सोच विचार जो चित्त में स्मृतियों के रूप में हैं, वे समझ स्वयं में स्थापित होने पर अपने आप झड़ जाते हैं। उनका कोई नामोनिशान नहीं रहता।

जीव चेतना में हमने जितनी भी विवशताओं का अम्बार लगाया हो वह एक कागज़ के टपोरे जैसा ही है। इस टपोरे को ढेर करने के लिए एक चिंगारी ही पर्याप्त है। भ्रम स्वयं में पतंगा जैसे हिलता ही रहता है। भ्रम में जीता आदमी अपने सुखी होने का प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाता है इसलिए उसका जड़ ही हिला रहता है। इसीलिये समझ में आने पर वह उखड़ जाता है। **भ्रम से बनी हुई जितनी भी स्वीकृतियाँ हैं वे भय, प्रलोभन और आस्था के रूप में ही हैं।** इसके अलावा भ्रम का और कहीं पहुँच नहीं है।

आप एक बार सन्मार्ग के लिए, सद्बुद्धि के लिए, सद्प्रवृत्ति के लिए एक बार कल्पना करके तो देखिये! **शब्दों से इंगित वस्तु हमारी कल्पना में आ जाए, उसको अनुभव प्रमाणपूर्वक अपने जीने में प्रमाणित होने की कड़ियों के साथ कल्पना करके देखिये।** कल्पना तो जीवन में रहता ही है। इसमें किसको क्या तकलीफ है? समझने के बाद सोचिये, समझ के अनुसार जीना है या नहीं?

(जनवरी 2007, अमरकंटक)

चर्चा करनी है या पारंगत होना है? – तर्क एक साधन है

"चर्चा कम, पारंगत होना ज्यादा" इस बात को लेकर चलें तो समय की बचत होगी।

पारंगत होने के लिए समझना आवश्यक है। चर्चा में हम तर्क में जुट जाते हैं, समझना और पारंगत होना वरीयता (प्राथमिकता) में नीचे चला जाता है। तर्क पारंगत बनाने में सहायक है। तर्क पारंगत

होने का कोई लक्षण नहीं है।

तर्क में शब्द प्रधान है, वस्तु शून्य है।

समझने में वस्तु प्रधान है, शब्द गौण है।

जैसे "पानी" एक शब्द है। पानी नहीं रहने पर क्या होता है? पानी होने से क्या हो गया? नहीं रहने से क्या फर्क पड़ता है? यह सब हम तर्क कर ही सकते हैं।

मौलिक तर्क है "पानी एक शब्द नहीं है, पानी एक वास्तविकता है।"

पानी को समझने के लिए इतना तर्क आवश्यक है। यह तर्क पानी की तात्विकता तक पहुँचाने के लिए एक सेतु है।

तर्क एक बौद्धिक साधन है। साधन साध्य नहीं होता है।

प्रश्नः मानव के पास तर्क का साधन कहाँ से आ गया?

उत्तरः तर्क का साधन मानव के पास कल्पनाशीलतावश आ गया। मानव के पास कुछ बौद्धिक साधन हैं और कुछ भौतिक साधन हैं। शब्द विधि से बौद्धिक साधन हैं जो कल्पनाशीलता वश आए। भौतिक वस्तुओं के स्वरूप में जो साधन हैं वे मानव के प्रयत्न या पुरुषार्थ से आए।

(दिसम्बर 2008, अमरकंटक)

पठन में अध्ययन, अध्ययन के लिए प्राथमिकता, अनुभव प्रमाण की आवश्यकता

पढ़ना आ जाने या लिखना आ जाने मात्र से हम विद्वान नहीं हुए। समझ में आने पर या पारंगत (अनुभव) होने पर ही अध्ययन

हुआ। समझ में आने पर ही प्रमाणित होने की बात हुई। प्रमाणित होने का मतलब है अखंड समाज, सार्वभौम व्यवस्था सूत्र व्याख्या में जी पाना, मानवीयता पूर्ण आचरण में जी पाना। अध्ययन का मतलब है शब्द के अर्थ में तदाकार तद्रूप होना (साक्षात्कार, बोध)। आपके पास जो कल्पनाशीलता है, उसके साथ सह अस्तित्व में तदाकार तद्रूप हुआ जा सकता है। सह अस्तित्व रहता ही है। सह अस्तित्व न हो, ऐसा कोई क्षण नहीं है।

कल्पनाशीलता न हो, ऐसा कोई मानव होता नहीं है। हर जीते हुए मानव में कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता है। अब तदाकार तद्रूप होने में आप कहाँ अटके हैं, उसको पहचानने की आवश्यकता है। आवश्यकता महसूस होता है (तीव्र इच्छा) तो तदाकार होता ही है, तद्रूप होता ही है। जब अनुसंधान विधि से तदाकार तद्रूप होता है, तो अध्ययन विधि से क्यों नहीं होगा भाई? तदाकार तद्रूप विधि से ही तो मैं भी इसको पाया हूँ। आप किताब से या शब्द से प्रकृति में तदाकार तद्रूप होने तक जाओगे। किताब केवल सूचना है। किताब में लिखे शब्द से इंगित अर्थ के साथ तदाकार तद्रूप होने पर "समझ" में आता है। पहले श्रवण (पठन), फिर मनन पूर्वक तदाकार की स्थिति में चले जाते हैं। **जब समाधान, नियम, नियंत्रण, स्वधन, स्वनारी, स्वपुरुष, दयापूर्ण कार्य व्यवहार एक "आवश्यकता" (तीव्र इच्छा) के रूप में स्वीकार होता है, तभी तदाकार तद्रूप होता है, फलस्वरूप अनुभव होता है। अन्यथा नहीं होता है।** किसी की आवश्यकता बने बिना उसे समझाने के लिए जो हम प्रयास करते हैं, वह उपदेश ही होता है, सूचना तक ही पहुँचता है।

अध्ययन से ही हर व्यक्ति पारंगत होता है। अध्ययन के बिना कोई पारंगत होता नहीं है। अनुभवमूलक विधि से ही हम प्रमाणित होते हैं। अनुभव के बिना हम प्रमाणित होते नहीं है। यह बात यदि

समझ आता है तो अनुभव की आवश्यकता है या नहीं, आप देख लो! अनुभव की आवश्यकता आ गयी है तो अनुभव हो कर रहेगा। आवश्यकता के आधार पर ही हर व्यक्ति काम करता है। आपकी आवश्यकता बनने का कार्यक्रम आप में स्वयं में ही होता है। दूसरा कोई आपकी आवश्यकता बना ही नहीं सकता। यही मुख्य बात है। हर व्यक्ति की जिम्मेदारी की बात यही है। अनुभव हर व्यक्ति की आवश्यकता है, ऐसा मान कर ही इस प्रस्ताव को प्रस्तुत किया है। अनुभव को व्यक्ति ही प्रमाणित करेगा। जानवर तो करेगा नहीं, पेड़ पौधे तो करेंगे नहीं, पत्थर तो करेंगे नहीं...

सभी जीव वंशानुगत विधि से काम करते हैं। मानव ज्ञान अवस्था का होते हुए अभी न पूरा जीवों जैसा जीता है, न पूरा मानव जैसा जीता है। इस तरह मानव अभी न इधर का है, न उधर का! ऐसा अनिश्चित जीने से धरती ही बीमार हो गयी।

प्रश्न : मानव ऐसा "न इधर का, न उधर का" क्यों हो गया?

उत्तर : उसका कारण है जीवों में जो "आवश्यकता" है, उसमें मानव का संतुष्ट होना बना नहीं और मानव चेतना से संतुष्ट होने की जगह में मानव आया नहीं। मानव चेतना की "आवश्यकता" को महसूस करने पर ही मानव अनुभव करेगा और मानव चेतना को अपनाएगा। हर व्यक्ति में इस आवश्यकता को बनने के लिए उसे अध्ययन रुपी पुरुषार्थ करना होगा। पूरा समझ में आना और प्रमाणित होना ही परमार्थ है, वही समाधान है। फिर पुरुषार्थ के साथ समृद्धि होता ही है। समाधान समृद्धि होने पर अभय होता ही है। समाधान समृद्धि और अभय होने पर सह अस्तित्व में अनुभव प्रमाणित होता है। ऐसा व्यवस्था बना हुआ है।

प्रश्न : इसमें दिक्कत फिर कहाँ है? (जिससे हमको समय लग रहा है)

उत्तर : **दिक्कत है, हम दूसरों को ठीक करने में अपने को ज्यादा लगा देते हैं। स्वयं ठीक होने के लिए हम लगते नहीं है। दूसरे पठन से हम अपने को विद्वान मान लेते हैं, वह गलत है। जीने से ही हम विद्वान हैं।** वह आने पर हो जाता है। इसमें आप मुझे ही जाँचिये। मैं पढ़ने लिखने में ही विद्वान नहीं हूँ, फिर मैं इसे कैसे पा गया? शब्द का अर्थ समझ में आने पर मेरा ''जीना'' बन गया, उसी को हम प्रमाण कह रहे हैं। प्रमाण के रूप में मैं आपके सामने उपलब्ध हूँ। अनुसन्धान विधि से चलते हुए, मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं था। आपके साथ सूचना भी है, प्रमाण रूप में व्यक्ति भी है।

प्रश्न : तो आप कह रहे हैं, हमारी अनुभव प्रमाण की आवश्यकता नहीं बन पा रही है, इसलिए हमें अनुभव नहीं हो रहा है?

उत्तर : आवश्यकता अनुभव करने की ओर प्रमाणित होने की नहीं बना है। दूसरों को बताने की आवश्यकता बना है। दूसरों को बताने योग्य आप हो भी गए हैं। श्रवण (सुनना, स्मरण) के आधार पर गति होना पर्याप्त नहीं है। समझ के आधार पर गति होना ही पर्याप्त होता है। समझ के आधार पर गति होना अनुभव के साथ ही होता है, प्रमाण के साथ ही होता है। अनुभव के लिए तदाकार तद्रूप होने के लिए वस्तु कल्पनाशीलता के रूप में हर व्यक्ति के पास रखा है। कल्पनाशीलता रुपी इस व्यक्तिगत स्त्रोत को नकारा भी कैसे जाए? कल्पनाशीलता का स्त्रोत जीवन है। जीवन का अध्ययन नहीं हुआ है। शरीर को जब तक जीवन मानते रहते हैं तब तक अनुभव होना नहीं है। जीवन को जीवन माना, जीवन में अनुभव होने की सम्भावना को समझा, उसके बाद अपनी उपयोगिता को जोड़ दिया तो अनुभव होता है। हमारा उपयोग अनुभवमूलक विधि से ही है। अनुभव एक बिंदु है प्रमाण एक सिंधु है।

भाषा में हम बहुत विद्वान हो जाते हैं, अनुभव को लेकर हम

वहीं के वहीं बने रहते हैं। इसी रिक्तता को भरने की आवश्यकता है। प्रमाण अनुभव से ही होता है। सूचना से प्रमाण होता नहीं है। सूचना सूचना ही है। भाषा से हम सूचना तक पहुँच पाते हैं। सूचना को प्रमाण में उतारना हर व्यक्ति का जिम्मेदारी है।

सुनाना हमारा स्वत्व नहीं है। सुनाना दूसरों के लिए ही होता है। जीना हमारा स्वत्व है। यही जिम्मेदारी की बात है। इसको पहचान लेना एक पुण्य की बात है। अच्छी बुद्धि के बिना यह पहचान में नहीं आता है।

व्यक्त होने के लिए आपने प्रयत्न किया तो स्वत्व बनाने के लिए आवश्यकता बनी। स्वत्व बनाने की आवश्यकता बनी तो उसमें सफल हो जायेंगे।

इसका सार बात है ''अनुभव स्वत्व है। बताना हमारा वैभव है।'' वैभव के बारे में हम जल्दी चले जाते हैं, स्वत्व के बारे में उपेक्षा रहता है।

स्वयं में मानव चेतना की आवश्यकता स्वीकार होना, तदाकार, तद्रूप होना, स्वयं की उपयोगिता सिद्ध होना, फिर उपकार विधि से पूरक होना ये एक से एक लगी कड़ियाँ हैं। पूरकता विधि से ही परंपरा है। बिना परंपरा के कोई प्रमाण नहीं है। परंपरा के बिना तो केवल ''घटना'' के रूप में एक व्यक्ति को अनुभव हो गया, वह चला गया – उसका कोई मतलब नहीं है।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

अनुभव शिविर

प्रश्न : हर वर्ष जो यह ''अनुभव शिविर'' आयोजित किया जाता है, उसका क्या आशय है?

उत्तर : अनुभव शिविर का आशय है अनुभवमूलक विधि से जिया जाए। मुख्य बात इतना ही है। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए हर वर्ष अनुभव शिविर का आयोजन किया जाता है। इस आशय को व्यक्त करें या न करें? इसके लिए कई लोग सहमत होते हैं, कई लोग सहमत नहीं हो पाते हैं। ज्यादा लोग शब्द रूप में सहमत हो पाते हैं, कार्य रूप में ज्यादा लोग सहमत नहीं हो पाते हैं। अधिकांश लोग इसके पक्षधर हैं यह तो पता चलता है। प्रमाण होना अभी शेष है। ऐसी स्थिति में हम अभी हैं। प्रमाण होने के लिए कई लोग तैयार हो पायेंगे मेरे अनुसार। सहमत (श्रवण, भास) होगा तो स्वीकार होगा (मनन, आभास); स्वीकार होगा तो अध्ययन (साक्षात्कार, बोध) होगा, अध्ययन होगा तो अनुभव होगा, अनुभव होगा तो प्रमाण होगा। इतनी सीढ़ियाँ हैं, जिनको पार करना है। कोई जल्दी नहीं है! धीरे धीरे हो, किन्तु सही हो।

प्रश्न : अनुभवमूलक विधि से कैसे जिया जाए?

उत्तर : उसके लिए सत्ता में संपृक्त प्रकृति रूपी सहअस्तित्व को अनुभव करना है। सहअस्तित्व स्वरूप में अस्तित्व को समझने से विकास क्रम, विकास, जागृति क्रम, जागृति अनुभव में आता है। अनुभव का स्वरूप इतना ही बिंदु रूप में है। इसको जब व्यक्त करने जाते हैं तो सिन्धु रूप में हो जाते हैं। अनुभव के साथ अपने निश्चयन को जोड़ करके हम इतने विस्तार हो जाते हैं। सबको समझाने योग्य हो जाते हैं। कितना भी समझायें और समझाने के लिए वस्तु स्वयं में बना ही रहता है। मैंने अनुभव को समाधि संयम विधि से पाया, उसको अध्ययन विधि से प्रस्तुत किया। देखिये अब कैसे हो पाता है?

प्रश्न : यदि मेरे आगे अध्ययन विधि से अनुभव प्राप्त किये हुए कुछ लोग खड़े होते तो शायद मेरा उत्साह और निष्ठा इस मार्ग के

प्रति कहीं ज्यादा होता।

उत्तर : ''उस व्यक्ति को अनुभव क्यों नहीं हुआ इसलिए हमको भी नहीं होगा।'' इस विचार को लेकर चलते हैं तो हम फैल जाते हैं, उससे कोई फायदा नहीं है। फायदा होने वाली बात है ''यदि एक व्यक्ति अनुभवमूलक विधि से जी सकता है, तो मैं भी जी सकता हूँ। यदि एक व्यक्ति समझा है तो मैं भी समझ सकता हूँ। यदि एक व्यक्ति प्रमाणित हुआ है, तो मैं भी प्रमाणित हो सकता हूँ।'' इस तरह से सोचने से हम आगे बढ़ सकते हैं। ''सभी पहले समझ जाएँ, उसके बाद हम समझेंगे'' यह व्यर्थ की बात है। जिम्मेदारी को झटकारने का कोई मूल्य नहीं है। जिम्मेदारी स्वीकारने का मूल्य है। ''एक व्यक्ति समझा है, जिया है, प्रमाणित है वैसे ही मैं भी समझ सकता हूँ, जी सकता हूँ, प्रमाणित हो सकता हूँ।'' इस तर्क से हम पहुँच सकते हैं।

''सामने वाला व्यक्ति सुधरे, तब मैं सुधरूँगा'' यह विचार प्राचीन काल से है। इसी आधार पर व्यक्तिवाद और समुदायवाद पनपा है। व्यक्तिवाद और समुदायवाद कहाँ पहुँच गया उसका आप ही मूल्यांकन करिए।

प्रश्न : अध्ययन में अपनी निष्ठा को कैसे बढ़ायें?

उत्तर : प्राथमिकता विधि से। **अध्ययन करना है, यह प्राथमिक हो जाए तो आप अध्ययन करेंगे। और कुछ यदि प्राथमिकता में है, तो उसी को आप करते रहोगे।** यदि आपको अध्ययन नहीं करना है और कुछ भाड़ झोंकना है तो भाड़ ही झोंकिये। इससे किसको क्या तकलीफ है? भाड़ झोंको, अध्ययन करो, या साधना करो ये ही तीन रास्ते हैं आदमी के पास।

प्रश्न : आपके प्रस्ताव के अनुसार मानव या तो ''भ्रमित'' है

17_samvaad_part2_2013_c

या ''जागृत'' है। भ्रम और जागृति के बीच क्या है?

उत्तर : भ्रम और जागृति के बीच कड़ी है अध्ययन या फिर है अनुसंधान। जो करना है, वही कर लो। भ्रम = समस्या। जागृति = समाधान। समाधान चाहिए या नहीं? समाधान प्राप्त करने के लिए दो ही विधियाँ हैं विकल्पात्मक अध्ययन अथवा अनुसन्धान (समाधि–संयम)। सामान्य रूप में अध्ययन विधि सुगम है, अनुसंधान विधि कठिन है।

प्रश्न : आपने अनुसंधान के लिए जो प्रयास शुरू किया था, उस समय मानव जाति की क्या स्थिति थी?

उत्तर : मैंने जब शुरू किया तब भी आदमी उलझा हुआ ही था। कई लोगों ने मेरी जिज्ञासा को उचित माना, कई लोगों ने उचित नहीं माना। जिन्होंने उचित नहीं माना उनको मैंने नकारा नहीं, जिन्होंने उचित माना उनको धन्यवाद देते हुए मैं यहाँ चले आया। इस अनुसंधान में मैं सफल हो गया। अब मैंने जो पाया उसको नीच से नीच आदमी, दुष्ट से दुष्ट आदमी भी नकारता नहीं है।

(अनुभव शिविर, जनवरी 2012, अमरकंटक)

अध्याय–4

अनुसंधान (समाधि–संयम)

अनुसन्धान विधि और अध्ययन विधि

प्रश्न : अनुसन्धान पूर्वक आपके समझने की प्रक्रिया और अध्ययन पूर्वक हमारे समझने की प्रक्रिया में क्या भेद है?

उत्तर : प्रक्रिया तो दोनों में अध्ययन ही है। मैंने सीधा प्रकृति में अध्ययन किया आप प्रकृति में जिसने अध्ययन करके अनुभव किया, उसका अनुकरण करके अध्ययन कर रहे हैं।

प्रश्न : आप जो शब्दों द्वारा प्रस्तुत करते हैं, उसके साथ हम अपनी कल्पनाशीलता का प्रयोग करके "अर्थ" स्वरूप में वस्तु को पहचानने का प्रयास कर रहे हैं। आपके अध्ययन में शब्द तो नहीं था?

उत्तर : मुझे भी वैसे ही अध्ययन हुआ है। जो भी गति या दृश्य हम देखते हैं, वह पहले शब्द में ही परिवर्तित होता है। जो दृश्य को मैंने देखा उसका नामकरण किया। नामकरण करते हुए मैंने दृश्य के रूप में अर्थ को स्वीकार लिया। ऐसा मेरे साथ हुआ। आपके पास कल्पनाशीलता है, जिससे आप शब्द, परिभाषा के माध्यम से उस अर्थ तक पहुँच ही सकते हैं।

साक्षात्कार पूर्वक अर्थ बोध होना, अर्थ बोध (अवधारणा) होने के बाद अनुभव होना, फिर अनुभव प्रमाण बोध होना, फिर प्रमाण को संप्रेषित करना यह परमार्थ है। पुरुषार्थ साक्षात्कार तक ही है।

प्रश्न : क्या आपने प्रकृति की एक एक वस्तु के बारे में सोचा, फिर अध्ययन किया?

उत्तर : नहीं संयम काल में प्रकृति अपने आप से जो प्रस्तुत हुई उसी का मैंने अध्ययन किया जैसे मैंने पत्थर को नहीं सोचा था। पत्थर स्वयं सामने आया और बिखर गया। बिखरते बिखरते स्वायत्त विधि से काम करता हुआ दिखा। उसको मैंने "परमाणु" नाम दिया।

फिर जैसे पत्ता आया। पत्ता विघटित होते होते प्राणकोषा तक को दिखा दिया।

प्रश्न : ऐसे कैसे देखा? आपने ''देखा'' शब्द का प्रयोग किया ''देखने'' का क्या मतलब है?

उत्तर : देखने का तरीका ऐसा पारदर्शी बन जाता है कि दिख जाता है। जीवन शरीर के साथ मुझमें ये स्वीकृतियाँ हुई, इसलिए मैंने ''देखा'' शब्द प्रयोग किया। देखने का मतलब समझना है। समझा नहीं, तो देखा नहीं है।

इस तरह देखने के लिए मेरा ''अपेक्षा'' कुछ नहीं था। अपने आप से हुआ (संयम में)।

प्रश्न : आपमें देखने का अपेक्षा न होते हुए भी देखना कैसे बना? बिना अपेक्षा के ''देखने वाले'' का क्या अर्थ हुआ?

उत्तर : ''देखने वाला'' जीवन (मैं) ही था। इसमें रहस्य कुछ भी नहीं है। ''सत्य से मिथ्या कैसे पैदा होता है?'' यह जिज्ञासा मुझमें पहले से था ही। उसके उत्तर में यह स्वयं स्फूर्त घटित हुआ। मेरी जिज्ञासा के आधार पर यह अध्ययन हुआ (समाधि–संयम विधि में)।

आप जो मुझसे अध्ययन करते हैं उसमें अपेक्षा भी है, जिज्ञासा भी है, ध्वनि भी है, भाषा भी है।

प्रश्न : आपके अध्ययन में जिज्ञासा बना रहा, पर आपने अपनी कल्पनाशीलता को दिशा नहीं दिया...

उत्तर : हाँ। मेरी कल्पनाशीलता कर्म स्वतंत्रता मेरी जिज्ञासा के लिए समाहित हो गया। इसी का नाम है चित्त वृत्ति निरोध होना। चित्त वृत्ति निरोध होने के बाद यह अध्ययन हुआ है। समाधि में चित्त वृत्ति निरोध होता है। समाधि के बिना संयम नहीं होता। आज भी यदि

कोई संयम में अध्ययन करना चाहते हैं तो उसी मार्ग पर चलना होगा। दूसरा तरीका है आप यह मानें ''प्रकृति किसी को यह समझ दे दिया''। प्रकृति प्रदत्त यह वस्तु अध्ययन गम्य है या नहीं है, सच्चाई है या नहीं? इसको आप शोध करें! यदि आप यह मानें ''प्रकृति नहीं दिया'' तो आप पहले जिस तरीके से रह रहे हैं, वैसे ही रहिये! यह रास्ता तो आपके लिए रखा ही है।

जीवन में जिज्ञासा, जिज्ञासा के साथ जीवन द्वारा प्रयास, प्रयास के फलन में प्रकृति द्वारा उत्तर। इस तरह मैंने इस बात को पाया। ''सत्य से मिथ्या कैसे पैदा होता है?'' यह तीव्र जिज्ञासा जीवन (मुझ) में था, जिसकी आपूर्ति के लिए यह सब हुआ।

प्रश्न : तो आपकी जिज्ञासा मूल में रही, साधना (समाधि संयम) से आपकी पारदर्शीयता पूर्वक देखने की स्थिति बनी और प्रकृति आपके सम्मुख प्रस्तुत हुई, जिसका आपने अध्ययन किया क्या ऐसा है?

उत्तर : हाँ। मुझको भी पहले साक्षात्कार, फिर बोध, फिर अनुभव हुआ। अनुभव होने के बाद मैंने इसे सम्पूर्ण मानव जाति का सम्पदा माना। ऐसा सोच कर इसको मानव के हाथों में सौंपने का कोशिश किया। जैसे जैसे यह किया, इस काम के लिए परिस्थितियाँ और अनुकूल होता गया। इसको भी मैं प्रकृति का देन और मानव का पुण्य मानता हूँ।

प्रश्न : तो आपमें जो घटा उसको आपने नाम दिया। 'यह जो घटा' यह ''साक्षात्कार'' है। ''यह जो घटा'' यह ''बोध'' है। क्या ऐसे हुआ?

उत्तर : हाँ वही है। जो घटा उसी का नामकरण मैंने किया।

प्रश्न : क्या यह भी आपको दिखा ''यह घटना जीवन परमाणु के इस परिवेश में हो रही है''।

उत्तर : हाँ। जीवन ज्ञान के बाद ही घटित हुआ था।

जीवन ज्ञान के बाद घटित होने से किसमें (जीवन परिवेश) क्या होता है, यह स्पष्ट होता गया। यही मैंने दर्शन में लिखा भी है। मैंने जो लिखा है, वह वेदों के आधार पर से नहीं है। वेदों में जो बताया गया है, यह वह नहीं है। वेदों में जीवन (गठनपूर्ण परमाणु) की चर्चा नहीं है।

साक्षात्कार, बोध, अनुभव होने पर प्रमाण को मैं लिखा हूँ। उस प्रमाण से आपको बोध होना है, अनुभव होना है, पुनः प्रमाण होना है। ऐसे एक से दूसरे में अंतरित होने की बात होती है। यदि हम दूसरे को समझा नहीं पाते हैं, तो हमारी समझ का प्रमाण कहाँ हुआ?

(श्री ए. नागराज जी का साधना विधि ''अनुसंधान'' विधि था। जो उन्होंने दूसरों के लिए प्रस्तुत किया है, वह ''अध्ययन विधि'' है, जो भिन्न है।)

प्रश्न : क्या आपकी साधना विधि और हमारी अध्ययन विधि का फल एक ही है?

उत्तर : मेरी साधना विधि वाला पुरुषार्थ कोई बिरला व्यक्ति ही कर सकता है। सभी जो कर सकते हैं उस अध्ययन विधि को मैंने प्रस्तुत किया है। साधना विधि और अध्ययन विधि का फल एक ही है। साधना विधि से ''ज्यादा'' अनुभव होता हो, अध्ययन विधि से ''कम'' अनुभव होता हो वह भी नहीं है। अनुभव के बाद आपको भी वैसा ही दिखेगा, जैसा मुझे दिखता है। यह वैसे ही है जैसे लोटे से भी पानी लाया जा सकता है, घड़े से भी पानी लाया जा सकता है। साधना विधि से पाना है तो उसी पर चल के देखो। अध्ययन विधि से पाना है तो उस पर चल कर देखो।

प्रकृति जैसा है, वैसा मेरे सम्मुख प्रस्तुत हुआ।

अब प्रकृति जैसा है, वैसा आपको अध्ययन करने के लिए मैंने प्रस्तुत किया है।

जब किसी को अनुभव होगा तो मुझे जैसा हुआ, वैसा ही होगा चाहे समाधि संयम विधि से हो या अध्ययन विधि से हो। इसी आधार पर ''समझदारी में समानता'' की बात मैंने सोचा। मैं जो समझा हूँ और जैसे जीता हूँ इसको समझ कर आप मुझसे कम नहीं, मुझसे ज्यादा अच्छे ही जियोगे। आगे की पीढ़ी आगे! ऐसा आपके साथ ही होगा, दूसरे के साथ नहीं ऐसा नहीं है। सबके साथ ऐसा ही है! एक अपंग व्यक्ति के साथ भी यही स्थिति है। इसीलिए, इस बात के लोकव्यापीकरण की तृषा में हम अभी काम कर रहे हैं।

प्रश्न : अनुभव के बाद क्या और कुछ जानने को शेष रहता है?

उत्तर : नहीं। अनुभव के बाद समझने को ''नया'' कुछ शेष नहीं रहता।

प्रश्न : क्या अनुभव के बाद, उदाहरण के लिए, शरीर को स्वस्थ रखने के बारे में जो मैं जानना चाहता हूँ, वह भी प्राप्त हो जाएगा?

उत्तर : नहीं। वह कला है, जो ''सीखने'' की वस्तु है। कला अनुभव की वस्तु नहीं है। कला कर्तव्यों और दायित्वों को पूरा करने के अर्थ में है। सीखने में प्रयोग करना पड़ेगा। रासायनिक भौतिक संसार संबंधी सभी ज्ञान अर्जन के लिए प्रयोग आवश्यक है। कर्म अभ्यास उसी का नाम है, जिसके अनेक आयाम हैं। उदाहरण के लिए गाय की सेवा करना कर्म अभ्यास है, कृषि करना कर्म अभ्यास है, औषधियों को पहचानना और बनाना कर्म अभ्यास है। अनुभव के बाद हर कला को जल्दी सीखा जा सकता है।

प्रश्न : अनुभव पूर्वक जल्दी कैसे सीखा जा सकता है?

उत्तर : अनुभव की रौशनी में जल्दी सीखा जाता है, क्योंकि हमारा मन फंसा नहीं रहता। भय प्रलोभन या सुविधा संग्रह में मन फंसा नहीं रहता, इस कारण अनुभव पूर्वक जल्दी सीखा जाता है।

कर्म अभ्यास को अनुभव से न जोड़ा जाए! कर्म अभ्यास पुरुषार्थ की सीमा में है। मैंने अनुभव किया है, पर मैं सभी आयामों में कर्म अभ्यास संपन्न हूँ ऐसा नहीं है। मैं जिन आयामों में कर्म अभ्यास करना चाहता हूँ, वह कर सकता हूँ ऐसा अधिकार बना है। कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता के आधार पर यह अधिकार बना है।

(अप्रैल 2010, अमरकंटक)

संयम

प्रश्न : समाधि तक पहुँचने के क्रम में आप ''निषेधनी'' विधि से चले जिसमें आप सभी ''गलत'' पर निषेध लगाते चले गए। समाधि में पहुँचने पर आपके आशा, विचार और इच्छा चुप हो गए, लेकिन उसमें ज्ञान नहीं हुआ। ''सही'' को स्वीकारने और प्रमाणित करने के लिए आपने संयम किया। अभी हम जो चल रहे हैं उसमें सही के साथ साथ गलत भी हमारी कल्पना में आ जाता है। ऐसे में हमारे लिए अनुभव तक पहुँचने का क्या उपाय है?

उत्तर : उसी के लिए तो अध्ययन है। ''सही'' बात को समझने के लिए ही अध्ययन है। अध्ययन में ''गलत'' का कोई प्रस्ताव ही नहीं है। अध्ययन विधि से एक एक मुद्दे पर तर्क समाप्त होता है। एक मुद्दे पर तर्क समाप्त होता है, तो दूसरे मुद्दे पर तर्क समाप्त होने का आसरा बन जाता है। ऐसे होकर के अध्ययन पूरा होता है। अध्ययन पूरा होना = सह अस्तित्व अनुभव में आना। सह

अस्तित्व में सम्पूर्ण प्रकृति अनुभव में आना। सम्पूर्ण प्रकृति विकास क्रम, विकास, जागृति क्रम और जागृति स्वरूप में प्रमाणित है। इतना समझ में आता है तो अध्ययन हुआ। इतना ही मैंने अपने संयम में देखा है।

प्रश्न : समाधि में आपको शरीर का अध्यास नहीं रहता था। क्या संयम में शरीर का अध्यास होता था?

उत्तर : हाँ। समाधि में शरीर से कोई संवेदनाओं का ज्ञान नहीं रहता। संयम में शरीर संवेदनाओं का ज्ञान भी होता है। जीवन की दसों क्रियाओं की अभिव्यक्ति संयम में है।

समाधि के बाद लक्ष्य का ध्यान, जो धारणा में विस्तृत हुआ। लक्ष्य था अपनी जिज्ञासा का उत्तर पाना, कि ''सत्य से मिथ्या कैसे पैदा हुआ?''

(दिसम्बर 2011, अमरकंटक)

समाधि के आगे

प्रश्न : समाधि में आपकी आशा, विचार, इच्छा चुप हो जाने के बाद भी आगे की बात के लिए आप में किस तरह इच्छा जगी?

उत्तर : समाधि की स्थिति में मैं 12 से 18 घंटा तक रहता था, इंतज़ार में अब ज्ञान होगा, अब ज्ञान होगा। यह बात शुरुआत से ही रहा। समाधि में मेरी आशा, विचार, इच्छा चुप हो गयी यह बात मुझे स्पष्ट हो गयी थी। चुप होने के बाद 12 से 18 घंटे बाद मुझको जब शरीर अध्यास आता था, तब मैं अपनी समाधि की स्थिति का स्वयं मूल्यांकन करता था। (समाधि के बाद जो वापस शरीर का अध्यास होता है, वह स्वयं के द्वारा लिए गए संकल्प के आधार पर ही होता है कि हम इतनी देर समाधि में रहेंगे। उस समय के बाद अपने आप शरीर का अध्यास होता है।) मूल्यांकन करने पर यही निकलता था

कि ज्ञान नहीं हुआ। यह बात हर दिन होती थी। फ़िर ज्ञान के लिए हर दिन फ़िर से समाधि की स्थिति में जाना, पुनः शरीर अध्यास होने पर मूल्यांकन कि ज्ञान नहीं हुआ। यह होते होते जब बहुत दिन महीने बीत गए तो संयम के लिए प्रवृत्ति बनी। समाधि होने के प्रमाण को पाने के लिए मैंने संयम किया। अपने मित्रों को अपने समाधि होने की गवाही जो देनी थी।

मुझे यह तो कल्पना भी नहीं थी, संयम से हम कोई चीज पा जायेंगे। यह बात तो थी ही नहीं। समाधि की गवाही देने के लिए मैंने संयम किया। जिसके फलस्वरूप अध्ययन हुआ। यह ज्ञान हुआ। वह अध्ययन सम्पूर्ण मानव की संपदा है ऐसी मेरी स्वीकृति हुई। उसके आधार पर मानव के हाथों में अर्पित करने का प्रयास मैं कर रहा हूँ।

समाधि की स्थिति में शरीर का ज्ञान नहीं रहता है, देश (स्थान) का ज्ञान नहीं रहता है और समय (काल) का ज्ञान नहीं रहता है। ये तीनों बात लुप्त रहता है या छुपा हुआ रहता है। इसको मैं अच्छे से देखा हूँ। समाधि के संबंध में हमारे वेदान्त शास्त्रों में भी ऐसा ही लिखा है। हमारे शास्त्रों में लिखा है "यदि ब्रह्म ज्ञान हो जाता है, तो उस व्यक्ति में चाहत ख़त्म हो जाता है।" "हृदय में हमारे जो संशय रहे वे सब ख़त्म हो जाते हैं, गांठे जो रहे वे समाप्त हो जाते हैं, कर्मबंधन समाप्त होता है।" उसको व्याख्या देते हुए ऐसा कहा है जीव में जो कर्मबंधन हैं, विचारबंधन हैं ये सब से छूट जाते हैं। समाधि स्थिति में ऐसा होता है लिखा है।

समाधि के बाद मुझको जो हुआ, वह है भूत और भविष्य की पीड़ा नहीं है और वर्तमान का विरोध नहीं है। शिकायत से मुक्त होने की स्थिति में मैं आ गया। समाधि से क्या फायदा हुआ? संसार के प्रति मेरा शिकायत नहीं रहा। समाधि में लेकिन ज्ञान नहीं हुआ। समाधि के बाद संयम करने पर जो अध्ययन हुआ, उससे ज्ञान हुआ।

(अक्टूबर 2005 मसूरी, जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन)

समाधि के बाद संयम और अध्ययन

प्रश्नः समाधि के बाद संयम किस प्रकार हुआ?

उत्तरः समाधि के पहले दो भूमियाँ हैं धारणा और ध्यान। धारणा का मतलब है किसी देश काल और वस्तु की सीमा में चित्त वृत्ति निरोध होना। ध्यान का मतलब है उस (देश, काल और वस्तु) के निश्चित बिन्दु में चित्त वृत्ति निरोध होना। समाधि का मतलब है ध्यान का जो अर्थ है, वह भर रहे और उसका स्वरूप कुछ भी न रहे। ऐसा पतंजलि योग सूत्र में सूत्रित भी है।

धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों के एकत्र होने से संयम है। संयम की जो प्रणाली विभूतिपाद ग्रन्थ (पातंजलि योगसूत्र) में बतायी गयी थी उसको मैंने उलटाया। अज्ञात को ज्ञात करने के लिए। उसी क्रम में मुझे अनुभव हुआ।

प्रश्न : क्या हर व्यक्ति को समाधि संयम करना सम्भव है?

उत्तर : मुझको समाधि हुई है। समाधि को मैंने देखा है। समाधि के बाद संयम को देखा है। उसका फल भी मेरे पास है। इसके बाद कुछ होता नहीं है। उसके बाद यदि आप मुझसे पूछो हमको समाधि होगा या नहीं? तो मैं नहीं बता सकता कि आप को समाधि होगा या नहीं। आपके समाधि होने की कामना ही मैं कर सकता हूँ। मेरे गुरु जी भी मेरे लिए वैसे ही कामना ही किए थे।

समाधि होने के लिए आपके पास कोई निश्चित मुद्दा न हो और आपको समाधि हो जाए ऐसा मैं प्रस्तावित नहीं कर सकता। वह निश्चित मुद्दा पाना कितना सर्व सुलभ है आप ही सोच लो! "निश्चित मुद्दा" चाय काफी पीने जैसा तो होता नहीं है। जो अध्ययन में न आया हो ऐसे मुद्दे को आपको तलाशना होगा। वह यदि हो पाता है तो मैं कहूँगा, समाधि सम्भव है संयम भी सम्भव है।

प्रश्न : आपने अपनी शरीर यात्रा के 80–90 वर्ष इस बात के लिए लगाया। क्या हमारे लिए आपकी उपलब्धि को पाने का कोई छोटा रास्ता है?

उत्तर : इसके छोटे रास्ते के लिए आपसे निवेदन किया है मध्यस्थ दर्शन सह अस्तित्ववाद का अध्ययन।

अध्ययन और पठन के सन्दर्भ में मैंने देखा हर शब्द का अर्थ होता है। उस अर्थ के रूप में अस्तित्व में वस्तु होता है। वस्तु का बोध होना = हमको समझ में आना। इसको मैंने कहा है अध्ययन।

जैसे "पानी" एक शब्द है। और पानी एक वस्तु है। "पानी" शब्द पानी नहीं है। उसी प्रकार हर शब्द के अर्थ में एक वस्तु होता है। वस्तु स्वयं अस्तित्व में होता है। अस्तित्व में वस्तु बोध होने पर मैं अध्ययन मानता हूँ। यह मेरा निश्चय है। इसमें यदि आप सहमत हो पाते हैं तो पहले पठन फ़िर "अध्ययन"।

अध्ययन के लिए मैंने परिभाषा विधि उपक्रम प्रस्तुत किया। हर वस्तु को परिभाषित करने पर वस्तु बोध होने की सुगमता बनेगी।

जैसे "धर्म" एक शब्द है। धर्म को परिभाषित किया जिससे जिसका विलगीकरण सम्भव न हो। मानव का धर्म सुख है। मानव जीकर अपने सुखी होने के धर्म को प्रमाणित कर सकता है। उसी अर्थ में मानव लक्ष्य है समाधान और समृद्धि। मानव लक्ष्य में जीवन और शरीर दोनों का लक्ष्य समाहित है। जीवन में केवल जीवन के सुखी होने का लक्ष्य है। मानव में सुखी होने का भी लक्ष्य है, शरीर की आवश्यकता भी लक्ष्य है। समाधान, समृद्धि, अभय, सह अस्तित्व प्रमाण सहित मानव लक्ष्य पूरा होता है। कैसे? संस्कृति, सभ्यता, विधि, व्यवस्था के रूप में। यह अखंड समाज और सार्वभौम व्यवस्था के रूप में प्रमाणित हो पाता है।

यदि हम मानव इस बात को अपनाते हैं, परम्परा बनाते हैं तो एक अखंड समाज की रचना होगी। समुदाय चेतना में मानव समस्या से मुक्ति पायेगा नहीं। अखंड रूप में मानव समाज को पहचानना ही एकमात्र उपाय है। सर्वशुभ के लिए यदि सोचेंगे तो यही निकलेगा। अध्ययन विधि ही इसका रास्ता है। अध्ययन के लिए पूरा वस्तु आपके लिए प्रस्तुत है।

(अक्टूबर 2005 मसूरी, जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन)

समाधि और संयम

प्रश्न : समाधि के बाद आपकी कल्पनाशीलता में क्या हुआ?

उत्तर : समाधि की अवस्था में मेरे आशा, विचार, इच्छा चुप हो गए। समाधि के बाद मुझे भूतकाल की पीड़ा, भविष्य की चिंता और वर्तमान से विरोध नहीं रहा। मेरी कल्पनाशीलता इस स्थिति में तदाकार हो गयी। यह समाधि के बाद और संयम से पहले की स्थिति थी। इसमें मूल जिज्ञासा (सत्य से मिथ्या कैसे पैदा होता है?) का उत्तर पाना शेष रहा। यह स्थिति संयम करने के लिए आधार बनी। संयम में पता चला सह अस्तित्व है, नित्य है, सदा सदा है। सह अस्तित्व में जड़ चैतन्य प्रकृति भीगा है, डूबा है, घिरा है यह देखा। दृष्टा पद में होते हुए जो चित्रण मेरे सामने आया, उसको मैं स्वीकारता रहा।

प्रश्न : दृष्टा पद का क्या अर्थ है?

उत्तर : मैं देखने वाला हूँ और मुझे कुछ दिखता है। यह दृष्टा पद है। आत्मा दृष्टा पद में होता है। संयम काल में आत्मा में दृष्टा पद और बुद्धि में बोध के योगफल में मैं देखता रहा। जिसके फलस्वरूप अनुभव हुआ।

संयम के बाद स्मरण जुड़ गया। स्मरण जुड़ने से उसको

व्यक्त करना बना। आत्मा के साक्षी में स्मरण पूर्वक किया गया कार्यकलाप अध्ययन है। स्मरण चित्त में होता है (चित्रण के रूप में)। साधना समाधि संयम विधि से हो या अध्ययन विधि से हो दोनों विधियों में आत्मा में दृष्टा पद और बुद्धि में बोध के योगफल में ही समझा जाता है।

बुद्धि के अनुरूप आशा, विचार, इच्छा होने पर दृष्टा पद है।

(अनुभव शिविर, जनवरी 2012, अमरकंटक)

स्वयं की संतुष्टि के लिए अध्ययन

संयम में जब मुझे दृश्य दिखना शुरू हुआ, पहले दिन से ही मुझे यह स्वीकार हो गया कि यह मेरे स्वरूप का ही अध्ययन है। यह मेरे स्वयं की संतुष्टि के लिए अध्ययन है ऐसा मेरी स्वीकृति हुई। संयम काल में अध्ययन पूरा होने के बाद मेरी स्वीकृति हुई कि यह मेरा ही नहीं सर्व मानव के अध्ययन की वस्तु है।

प्रश्न : आपका इतना दृढ़ विश्वास कैसे है कि अध्ययन विधि से भी अनुभव को पाया जा सकता है, जिसको आपने इतनी साधना के फलस्वरूप पाया?

उत्तर : क्योंकि मैंने स्वयं अध्ययन ही किया है! मैंने साधना समाधि (अनुसंधान) विधि से चल कर अध्ययन किया। मैंने जो देखा उसकी सूचना देने योग्य हो गया उस आधार पर मेरा विश्वास है कि उस सूचना से आप भी अध्ययन कर सकते हैं। **समाधि से केवल मेरी संयम के लिए अर्हता बनी। उसके आगे अध्ययन में हम और आप समान हैं।** जैसे अनुभव में मैंने देखा, अनुभवगामी विधि से उसको अध्ययन करने का व्यवस्था (मानव को) दे दिया। अनुभवमूलक विधि से दी गयी सूचना से आपको अनुमान होता है, जो आपके अनुभव में जाकर सुदृढ़ हो जाता है। इतनी ही बात है. जो अनुमान

सटीक बन पाता है, उसमें आपकी निष्ठा बनती है और वह आगे अनुभव में आता है। जो अनुमान सटीक नहीं बन पाता है, उसके लिए आपमें जिज्ञासा बनती है। जिसका उत्तर अनुभव संपन्न व्यक्ति देता है।

(दिसम्बर 2008)

संयम काल में अध्ययन

प्रश्न : ''संयम काल में आप के सम्मुख प्रकृति प्रस्तुत हुई'' ऐसा आपसे सुनने पर ऐसा लगता है कि प्रकृति में ''कर्ता भाव'' है?

उत्तर : प्रकृति में कार्य भाव है। कर्ता भाव के लिए चेतना चाहिए। चेतना जीव प्रकृति और मानव प्रकृति में है। जीव प्रकृति कार्य भाव के साथ कर्तव्य भाव में रह गया। मानव प्रकृति में कार्य भाव, कर्तव्य भाव और फल परिणाम भाव ये सभी हैं। जैसा मैंने प्रस्तुत किया है, वैसे ही प्रकृति मेरे सम्मुख प्रकट हुई। मैंने उसमें कोई जोड़ घटाव नहीं किया है। उसी को आपको अध्ययन पूर्वक साक्षात्कार करना है, बोध करना है, अनुभव करना है। अनुभव होता है तो प्रमाण होगा। प्रमाण का स्वीकृति बुद्धि में होता है। प्रमाण की स्वीकृति के बाद प्रमाणित ''करने'' के लिए चिन्तन होता है, चित्रण होता है, तुलन होता है। न्याय, धर्म, सत्य के तुलन के साथ यदि हमारा मन जुड़ जाता है, तो कार्य व्यवहार में मूल्य मूल्यांकन विधि से हम जियेंगे ही।

परंपरागत साधना विधि से मैंने प्रकृति को सीधे सीधे देख लिया। देखे हुए को मैंने अक्षर बद्ध कर दिया। वह आपके लिए अध्ययन की वस्तु है। **अब 'अध्ययन' ही 'साधना' है।**

प्रश्न : संयम काल में आपके सम्मुख जो ध्वनि, चित्र और भाषा के रूप में प्रकृति प्रस्तुत हो रही थी ऐसा कैसे हो गया?

उत्तर : मेरी जिज्ञासा अस्तित्व के सन्दर्भ में ही रहा। मेरी जिज्ञासा और किसी बात का नहीं रहा। यह पूरा अध्ययन जो मुझे हुआ वह जिज्ञासा के ही फल में हुआ।

प्रश्न : मैं जब जिज्ञासा करता हूँ तो आप उसका उत्तर करते हैं, तो मेरे लिए प्रकृति कर्ता पद में है। आप के लिए समझाने वाला कर्ता कौन था?

उत्तर : सह अस्तित्व। सह अस्तित्व ज्ञान अवस्था के मानव को समझा ही रहा है जंगल युग से अब तक। जंगल युग से पाषाण युग के लिए मानव को सह अस्तित्व ने समझाया है कि नहीं? पाषाण युग से धातु युग तक मानव को सह अस्तित्व ने समझाया है कि नहीं? धातु युग से बारूद युग तक मानव को सह अस्तित्व ने समझाया है या नहीं? अभी बारूद युग में मानव जी रहा है। अब मेरी जिज्ञासा अस्तित्व के बारे में थी इसलिए सह अस्तित्व रूप में वह प्रकट हो गया। यही तो हुआ है। अस्तित्व के बारे में मेरा प्रश्न था ''सत्य से मिथ्या कैसे पैदा होता है?'' उसका उत्तर में यह सब हुआ।

सह अस्तित्व मानव को जीवों से अच्छा जीने की प्रेरणा देता ही रहा है। जीवों से अच्छा मानव जी भी रहा है। मानव का अभी तक का इतिहास सह अस्तित्व की प्रेरणा से ही है। सह अस्तित्व की यह प्रेरणा ''सह अस्तित्व के प्रतिरूप'' होने के अर्थ में है। मानव जाति जीवों से अच्छा जीने की जगह में आ कर रुक गया था। जीवों से अच्छा जीने के लिए ही मानव सुविधा संग्रह और संघर्ष में रत है। मानव जाति के इस तरह रुक जाने से उसके आगे की कड़ी जोड़ दिया। सह अस्तित्व ने जो मुझ को जोड़ा वह ज्ञान रूप में रहा। उसको भाषा रूप में मैंने जोड़ा। इस तरह ज्ञान को भाषा में कहा जा सकता है ऐसा सिद्ध हुआ। अध्ययन विधि को गढ़ने में मेरा कल्पनाशीलता जुड़ा है।

प्रश्न : क्या संयम काल में जो आपने देखा, उसमें आपकी कल्पना प्रयोग हुई?

उत्तर : नहीं। मैंने दृष्टा पद से अध्ययन किया है, कल्पना से अध्ययन नहीं किया है। समाधि, ध्यान और धारणा इन तीनों के एकत्र होने पर संयम होता है। इसमें अन्यथा कल्पना के होने की सम्भावना ही नहीं है। जो मैंने देखा वह बोध के रूप में आ गया। आशा, विचार और इच्छा बुद्धि के अनुसार काम करने के लिए तैयार हुआ। दृष्टा पद में दृश्य के साथ ही संबंध है और बीच में कुछ (कल्पना) नहीं है।

अब आपको अध्ययन विधि से साक्षात्कार बोध और अनुभव की जगह पहुँचना है। अध्ययन में आशा, विचार, इच्छा का प्रयोग है। आशा विचार इच्छा के बिना अध्ययन कैसे करेंगे? अध्ययन यदि आपमें होना शुरू होता है तो आशा, विचार, इच्छा गौण हो गए। शब्द का अर्थ होता है, अर्थ के स्वरूप में अस्तित्व में वस्तु रहता है। वस्तु का स्वरूप जब समझ में आता है तो उस समय में आशा, विचार, इच्छा बुद्धि के अनुरूप रहते हैं।

बोध के पूर्व तक कल्पनाशीलता पहुँचता है। भ्रमित स्थिति में आशा, विचार, इच्छा का अस्पष्ट रहना ही कल्पनाशीलता है। अस्पष्ट रहने से ही वेदना है उसी का नाम है संवेदना। वेदना का मतलब है दर्द, दर्द का मतलब है प्रश्न, प्रश्न का मतलब है अज्ञात। आदर्शवाद ने भक्ति विरक्ति विधि से ''अज्ञात'' के प्रति आस्था को जोड़ा था, जबकि अज्ञात के प्रति आस्था स्थिर हो नहीं सकता। भौतिकवाद ने सुविधा संग्रह में लगा दिया, जिसका कभी पूर्ति होता नहीं है।

कल्पनाशीलता ही मानव में आगे विकास का आधार है। कल्पनाशीलता नहीं हो तो आगे विकास कैसे हो? अध्ययन विधि से चलते हुए, अनुभव में कल्पनाशीलता विलय होता है। फिर अनुभव के बाद अनुभव के आधार पर कल्पनाशीलता काम करता है। अनुभव

17_samvaad_part2_2013_c

होने के पश्चात आप जब प्रकट होंगे तो उसमें आशा, विचार, इच्छा फिर से जुड़ेगी।

(अनुभव शिविर जनवरी 2012, अमरकंटक)

संयम काल में अनुभव

प्रश्न : आपको अनुभव संयम काल के पहले हुआ, बाद में हुआ, या संयम काल में हुआ?

उत्तर : मुझे पाँच वर्ष के संयम काल में अध्ययन (साक्षात्कार, बोध) पूर्वक अनुभव हुआ। हर पक्ष का साक्षात्कार, बोध हो कर अनुभव होता रहा। चारों अवस्थाओं का अनुभव होने में समय लगता है। सह अस्तित्व में ही विकास क्रम, विकास, जागृति क्रम और जागृति अनुभव हुआ। विकास क्रम का अनुभव होने में सबसे अधिक समय लगा, उससे कम विकास में, उससे कम जागृति क्रम में, उससे कम जागृति में। अनुभव करने में समय आपको भी लगेगा। **जिस तरह मैं मन लगाया वैसे ही आप मन लगाएं तो आपको उससे कम समय में अनुभव होगा। अनुभव के लिए अध्ययन में मन लगना आवश्यक है।**

पूरी बात को अनुभव करने के बाद मैंने स्वीकारा यह मेरे अकेले का स्वत्व नहीं है, सम्पूर्ण मानव जाति का स्वत्व है।

आपको भी ''विकास क्रम'' और ''विकास'' को समझने के क्रम में सह अस्तित्व अनुभव होगा, तथा ''जागृति क्रम'' और ''जागृति'' को समझने के क्रम में मानव का ज्ञान अवस्था में होना और यह ज्ञान मानव का स्वत्व होना अनुभव होगा।

अध्ययन के लिए मन लगाना पड़ता है। अनुभव के बाद मन लगा ही रहता है।

प्रश्न : क्या आपने भी संयम काल में अध्ययन के लिए मन लगाया था?

उत्तर : हाँ। मन लगाए बिना संयम हो ही नहीं सकता।

प्रश्न : हम जिस विधि से अध्ययन कर रहे हैं, उसको आप आपकी विधि से अधिक सुगम क्यों कहते हैं?

उत्तर : आप अध्ययन विधि से निष्कर्ष निकाल सकते हैं। निष्कर्ष निकालने के बाद अनुभव करना बहुत सरल है। मेरे पास कोई निष्कर्ष नहीं थे।

मध्यस्थ दर्शन के अध्ययन से (मनन, साक्षात्कार, बोध पूर्वक) निष्कर्ष तो निकलते हैं। यह तो अनेक व्यक्तियों ने सत्यापित कर दिया है। निष्कर्ष निकाल लेने को ''अंतिम बात'' न माना जाए। अनुभव को ही अंतिम बात माना जाए। **निष्कर्षों को अंतिम बात मान लेते हैं तो भाषा में लग जाते हैं। अनुभव को अंतिम बात मानते हैं तो प्रमाण में लग जाते हैं। इतना ही सूक्ष्म परिवर्तन है।**

प्रश्न : क्या अनुभव ही क्रिया पूर्णता है?

उत्तर : अनुभव को जीने में प्रमाणित होने पर क्रिया पूर्णता है। प्रमाणित होने का स्वरूप भी मैंने प्रस्तुत कर दिया है। विकसित चेतना का अनुभव होता है। अनुभव में समझ का पूंजी पूरा रहता है। उसके बाद जीने में शुरुआत मानव चेतना से है, फिर देव चेतना और दिव्य चेतना है।

प्रश्न : क्या अध्ययन के लिए जो आपने वाङ्मय लिखा है, वह पर्याप्त है?

उत्तर : मेरे अनुसार सारी बात वाङ्मय में आ चुकी है। कुछ

 17_samvaad_part2_2013_c

बचा होगा तो आप बताना। लिखा हुआ जो है वह केवल सूचना है, उसको समझाने का काम अनुभवमूलक व्यक्ति ही करेगा।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

अंतिम बात समझ में आना चाहिए

व्यापक क्या है? इसके उत्तर में आदर्शवादियों ने कहा ''ब्रह्म ब्रह्म में व्यापक है, सोना सोने में व्यापक है, लोहा लोहे में व्यापक है।'' यह किसी को स्पष्ट नहीं हुआ। समझ में आता ही नहीं है। मेरे वेदान्त पर इस तरह प्रश्न करने से ही मेरे मामा परेशान हुए। मेरा मेरे मामा के साथ बहुत लगाव था। तभी तो हम इस तरह अंतिम बात कह पाए, अंतिम बात सोच पाए, अंतिम बात के लिए जिज्ञासु हो पाए। ''अंतिम बात समझ में आना चाहिए'' इसमें मेरे मामा भी सहमत रहे और मैं भी सहमत रहा। यहाँ तक मेरे मामा साथ रहे। फिर अज्ञात को ज्ञात करने के लिए जिज्ञासा को पूरा करने के लिए एक ही विधि है – समाधि। उसमें साधना पूर्वक समाधि होने में मुझे बीस वर्ष लगे। उसके बाद संयम में पाँच वर्ष लगे। यह तो बात सही है समाधि के बिना संयम होता नहीं है। उसी तरह अध्ययन विधि में अनुभव किये बिना संवेदनाओं पर नियंत्रण नहीं हो सकता।

प्रश्न : अनुसंधान क्या समाधि संयम विधि से ही हो सकता है?

उत्तर : समाधि संयम विधि से ही अनुसंधान हो सकता है। समाधि में कुछ (ज्ञान) नहीं होगा। समाधि में आशा, विचार, इच्छा चुप होते हैं। समाधि के बाद संयमपूर्वक ही अनुसन्धान (ज्ञान) होता है।

प्रश्न : भौतिकवादी विधि से क्या अनुसंधान नहीं हो सकता?

उत्तर : भौतिकवादी विधि से तो कुछ भी नहीं मिल सकता। भौतिकवादी विधि से वितृष्णाएं ही मिलते हैं।

प्रश्न : तो क्या आदर्शवाद भौतिकवाद से आगे की सोच पाया?

उत्तर : आदर्शवाद भौतिकवाद से बहुत आगे की सोच पाया। इसमें कोई शंका नहीं है।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)

संवाद की अंतिम बात

बाबाजी : ''अभी हमारे इतने दिनों के संबंध में और संभाषण में जो आपको बोध होना था वह हुआ कि नहीं हुआ?''

शिष्य का उत्तर : मुझसे यह कहना नहीं बन पा रहा है, कि मुझे ''बोध'' हो गया है।

बाबाजी : समझदारी को लेकर भी जो कहा जाता है, उसका भी कोई शब्द होगा ही। समझदारी को व्यक्त करने के लिए भी भाषा होगी। उस भाषा के अर्थ में अस्तित्व में वस्तु होगी। वस्तु के साथ तदाकार होना स्वाभाविक है। वस्तु ज्ञान होना ही बोध होता है। यदि बोध होता है तो अनुभव होता ही है। उसके लिए अपने को अलग से प्रयत्न नहीं करना है। तदाकार होता है तो तद्रूप होता ही है। तदाकार और तद्रूप दोनों एक साथ हैं। मनुष्य के पास तदाकार तद्रूप होने के लिए है कल्पनाशीलता। अध्ययन संज्ञानशीलता के लिए है। संज्ञानशीलता हुआ का मतलब है बोध हो गया। बोध होने के बाद पारंगत (अनुभव) होने की बात आयी। पारंगत होने के बाद प्रमाणित होने की बात आयी। यह आपको बोध होता है कि नहीं? यही संवाद का अंतिम बात है। इस तरह विस्तार से हम एक बिंदु तक पहुँचते हैं। अनुभव वह बिंदु है। उस बिंदु का प्रकाशन फैलता चला जाता है। **फैलाने में हमारी प्रवृत्ति ज्यादा है, बिंदु तक पहुँचने में हमारी प्रवृत्ति कम है। यही अनुभव की कमी है।**

प्रश्न : फैलाने की हमारी जो प्रवृत्ति है, क्या उसको हमें निषेध करने की आवश्यकता है?

उत्तर : उसके लिए आपको बताया, सच्चाई का भी भाषा होता है। सच्चाई का भाषा अलग होता है। वह भाषा कम है। व्यर्थता की भाषा ज्यादा है, सार्थकता की भाषा कम है। सार्थकता की भाषा के अर्थ के स्वरूप में अस्तित्व में वस्तु होता है यथार्थता, वास्तविकता और सत्यता के रूप में। उस वस्तु के साथ हम तदाकार होते हैं तो हम तद्रूप हो जाते हैं। शब्द के अर्थ को छोड़ करके शब्द को लेकर चल देते हैं, इसी में समय लगता है। आपमें समझने (अनुभव बिंदु तक पहुँचने) और प्रमाणित करने (फैलाने) दोनों की प्रवृत्ति बनी है। इनमें से आपमें प्रमाणित करने की प्रवृत्ति ज्यादा है। यही रुकावट है स्वत्व रूप में प्रमाणित करने की इच्छा को बलवती बनाना है। अनुभव के पहले बताने जाते हैं तो वह अनुभव की आवश्यकता के लिए आप में पीड़ा पैदा करता है। वह तो आप में हो ही रहा है। अनुभव के लिए पीड़ा पैदा होती है तो अनुभव के लिए निष्ठा बनेगी। अभी जहाँ मानव खड़ा है, वह ज्यादा बताने के पक्ष में है, समझने के पक्ष में नहीं है। इसीलिए मैं कहता हूँ सही बात को बताओ, उससे धीरे धीरे उसको स्वत्व बनाने के लिए जिज्ञासा होगी। अभी आप हम उसी जिज्ञासा के आधार पर बात कर रहे हैं। स्वत्व बनाने के लिए जिज्ञासा रुपी पीड़ा बढ़ जाती है, तो उसका निराकरण स्वाभाविक हो जाता है।

अनुभवमूलक विधि से चिंतन करने का अधिकार पाने के लिए आत्मसात करना पड़ता है। रिकॉर्डिंग (ऑडियो, विडियो) सब सूचना है। मैंने जो कुछ वाङ्गमय के रूप में लिखा है, वह सब भी सूचना ही है। सूचनाओं को लेकर उसको प्रगट करने के काम में आप लोग पारंगत हैं। प्रमाणित मानव ही होता है। प्रमाणित होने के लिए आप आत्मसात करोगे या नहीं करोगे?

मुख्य बात आत्मसात करना ही है। जिस जिज्ञासा से आप लोग आये हैं, उसके लिए इतनी ही बात है आत्मसात करना हर व्यक्ति का अधिकार है। एक व्यक्ति का अधिकार नहीं है। क्योंकि हर व्यक्ति जीवन और शरीर का संयुक्त स्वरूप है। जीवन के बिना कोई मानव होता ही नहीं है। यह एक शिकायत मुक्त प्रस्ताव है। व्यक्तिवाद समुदायवाद के स्थान पर मानववाद सहअस्तित्ववाद आ गया है। इस पर सोचा जाए। सोच कर के आप बताइये आपकी क्या जिज्ञासा बनती है, उसकी आपूर्ति होगी।

(सितम्बर 2011, अमरकंटक)